ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित
उड़िया उपन्यास का हिन्दी रूपान्तर

प्रथम सस्करण 1974
द्वितीय सस्करण 1978
तृतीय सस्करण 1983

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्याक 373

माटीमटाल (भाग : एक)

(उपन्यास)

गोपीनाथ महान्ती

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/45-47 कनॉट प्लेस,
नयी दिल्ली-110001

तृतीय सस्करण : 1983

मूल्य : 40/-

मुद्रक
पूजा प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली

आवरण-शिल्पी : अयधेश कुमार

MATIMATAAL (*Novel*) by Gopinath Mahanti. Translated by Shankar Lal Purohit. Published by Bharatiya Jnanpith, B/45-47, Connaught Place, New Delhi-11001. Printed at Pooja Press, Shahdara. Third Edition. First Part. Price Rs. 40/-

श्री गोपीनाथ महान्ती

प्रस्तुति

(प्रथम संस्करण से)

श्री गोपीनाथ महान्ती की भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार-जयी कृति 'माटीमटाल' का नाम भारतीय उपन्यास साहित्य की शीर्षस्थ कृतियों में आता है। 'माटी-मटाल' को 1973 का ज्ञानपीठ पुरस्कार इस आधार पर प्राप्त हुआ है कि सन् 1962 से 1966 के बीच प्रकाशित समस्त भारतीय साहित्य में इसे 'सर्वश्रेष्ठ' की समकक्षता का गौरव प्राप्त हुआ है। 'समकक्षता' इसलिए कि इस वर्ष का ज्ञानपीठ पुरस्कार डॉ. दत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे के कन्नड़ काव्य-संग्रह 'नाकु तंति' (चार तार) के साथ सह-विभाजित है। ज्ञानपीठ के पुरस्कार समर्पण समारोह की परम्परा है कि जहाँ तक सम्भव हो पुरस्कृत कृति का हिन्दी अनुवाद समारोह के अवसर पर प्रकाशित किया जाये ताकि राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं की कृति के महत्त्व की जानकारी मिले, और साहित्य के राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त करनेवाली कृति के रचियता को देश के सभी साहित्यकारों और अनगिन पाठकों का प्रेम और आदर प्राप्त हो।

श्री गोपीनाथ महान्ती का जन्म 20 अप्रैल 1914 में उड़ीसा के कटक जिले में हुआ। एम. ए. तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त जब उन्हें उड़ीसा ऐडमिनि-स्ट्रेटिव सर्विस के अंतर्गत विभिन्न पदों पर कार्य करने का अवसर मिला तो उन्हें उड़ीसा के ग्राम्य जीवन और आदिवासियों की जीवन-पद्धति, उनके आचार-विचार, उनकी संस्कृति, तथा उनकी समस्यायों को जानने-समझने का अवसर मिला। गाँवों की धरती, धूल-मिट्टी और हवा-पानी से विकसित मानव के देह-प्राण ने अपनी सामाजिक संरचना को जो रूप दिया और व्यक्ति तथा समूह के जीवन की सुरक्षा तथा उन्नति के लिए जिन संस्कारों को आत्मसात् किया उनका

स्पन्दन, उनकी अनुगूंज 'माटीमटाल' के पन्ने-पन्ने और शब्द-शब्द में है। जीवन कभी ठहरता नहीं, परिवेश कभी एक से नहीं रहते; मिट्टी और हवा-पानी के रंग-रूप-गन्ध भी बदलते रहते हैं। नये परिवेश नये सकटों और संघर्षों को जन्म देते हैं, और मनुष्य की जिजीविषा इन चुनौतियों पर विजय पाने के लिए सदा उत्साहित करती रहती है। बहुत कुछ नया बनता है और पुराना टूटता है, साथ ही बहुत कुछ ऐसा रहता है जो सस्कारों की अन्तःसलिला के रूप में प्राणों को रस से सिंचित करता रहता है। तथ्य के रूप में इसे जानना एक बात है किन्तु सृष्टि के इस सारे नाटक को जीवन्त रूप देकर चित्रित करना दूसरी बात है। श्री गोपीनाथ महान्ती ऐसे ही रस-सिद्ध साहित्य-स्रष्टा है जिन्होंने गद्य की भाषा को कविता का लालित्य दिया और मानवीय-भावनाओं की सूक्ष्मता को, उसके सस्कारों और विकारों को अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता, क्षमता और चारुता।

'माटीमटाल' लगभग 1000 पृष्ठों का उपन्यास है। कथा का विस्तार, पात्रों की बहुलता, उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का संसार, क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रसार, प्रकृति के नाना रूपों का निखार, इस उपन्यास को गद्य का 'महाकाव्य' प्रमाणित करते हैं। उपन्यास का एक-एक चरित्र सजीव होकर मानस-पटल पर अंकित होता चलता है; तूलिका के चित्र-विचित्र रंग पाठक को मन्त्र-मुग्ध करते रहते हैं।

उपन्यास के अनगिन पात्रों में मुख्य हैं नायक रवि और नायिका छवि। स्पष्ट है कि 'माटीमटाल' की कथा इन दोनों के प्रेम सम्बन्धों को केन्द्र में रखकर चलती है। किन्तु, आप कल्पना नहीं कर सकते कि इस बृहत्काय उपन्यास में दोनों के प्रेम को तूलिका के कितने कोमल स्पर्श मिले है कि प्रेम लाज से ढँका रहता है और जब अनेक संघर्षों, विडम्बनाओं, अपवादों को झेलकर विवाह में प्रतिफलित होता है तो वह जीवन की सिम्फनी का प्रमुख स्वर न होकर, कोमल गान्धार-सा अन्तर्व्याप्त रहता है। प्रमुख स्वर होता है जीवन की उद्देश्य-साधना का, नव-निर्माण का, मानव सहयोग पर आधारित नव निष्पत्तियों के स्वप्न का। उपन्यास के प्रारम्भ में वर्णित जिस ढलती सन्ध्या की विरागी लालिमा में 'रवि' अकेला चला जा रहा है, उपन्यास का समापन भी एक ऐसी सन्ध्या में होता है जहाँ सार्थकता की अनुरागी रश्मि से पुलकित 'छवि' पथ पर बढ़ी जा रही है—अपने लक्ष की ओर। जिस पेड़ की बाँह थामकर उसकी छाया में वह क्षण-भर खड़ी रहना चाहती है उस छाया का सुख उसे ठहरने नहीं देता। उसे अपनी सखी की आवाज़ सुनाई देती है जो कहती है: 'पगली, कहाँ रुक गयी, देख तो कितना लम्बा रास्ता है और तुझे किस महान् लक्ष्य तक पहुँचना है।'

पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर श्री महान्ती को जो प्रशस्ति-फलक

भेंट किया गया है वह सार रूप मे उनकी उपलब्धियों का चित्रण इस प्रकार करता है : "आदर्श और यथार्थ के समन्वयी; शक्तिशाली उपन्यासकार श्री महान्ती के कथासाहित्य का परिदृश्य अधिवासित है प्रायः पददलित हरिजन और मूक आदिवासी द्वारा; चिरशोषित कृषक और नगर-पले बाबूवर्ग द्वारा जो अस्तित्व-रक्षा के संघर्ष में ही नि.सत्त्व हो रहता है : निरकुशता और उत्पीड़न के नाना रूपों को अनावृत करते हुए भी, उन्होंने तिक्त नारो या वर्ग-संघर्ष का कभी सहारा नही लिया। मनुष्य यहाँ अन्धकार मे घिरा यातनाओं की दलदल में धँसा है, किन्तु दृष्टि उसकी फिर भी टिकी है सितारो पर। श्री महान्ती का स्पर्श पाकर समाजत्व भी लोकोत्तर हो उठता है। वे संपोषण और सम्वन्धन करते हैं, विखण्डन या अस्वीकरण नही। उनकी शैली मे महाकाव्य की गरिमा है और भाषा मे लोकवाणी की सरसता।

"पुरस्कार-जयी उपन्यास 'माटीमटाल' उड़ीसा के ग्राम्य जीवन का गौरव-ग्रन्थ है : एक अविराम खोज वहाँ के लाख-लाख जन द्वारा अपनी सामुदायिकता को साकार करने की। यह प्रतीक है समाजत्व में प्रवेश का, जो प्राप्त होता है आधुनिक मनोविज्ञान की 'मैं' और 'तू' और आधुनिक विज्ञान की 'मैं' और 'वह' की द्वैत भावना के अतिक्रमण से। तीस से अधिक कृतियों के बहुमुखी प्रतिभायुक्त रचयिता, श्री महान्ती नवनवीन विषयवस्तु और शैली के सतत अन्वेषी है।"

नयी दिल्ली
8 नवम्बर 1974

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
भारतीय ज्ञानपीठ

तीसरे संस्करण के अवसर पर

लेखक का पत्र पाठकों के नाम

प्रिय पाठक,

आप मेरे मुंह से कुछ सुनना चाहते हैं।

पहले मेरा नमस्कार स्वीकार करें। आपका स्वस्ति हो। 'माटीमटाल' नामक जिस उपन्यास को पढ़ने आप बैठे हैं, उसमें ही लम्बे समय तक अपनी बात कहता रहा हूँ। और अधिक उससे हटकर क्या कहूँ ?

अलग से लेखक पाठकों से निवेदन करे, यह प्रथा तो बहुत दिनों से उठ गई। पर भारतीय ज्ञानपीठ ने चाहा, और उनका आन्तरिक अनुरोध—कि मैं सीधे दो-चार बातें पाठक से करूँ। वही हो।

उपन्यास में मैंने जो कहा है वह आपकी रुचि के अनुकूल है या नही, ठीक है या नही—ये सारे विचार तो आप करेंगे, मैं उस बारे में क्या कहूँ ? रचना छपने पर उसकी 'जन्मकुंडली' अलग होती है, उसका अपना दायित्व होता है। उसे समर्थन देने का भी लेखक का अधिकार नही होता।

क्यों ? भला कोई सोच-विचार कर सृजनशील रचना लिख सकता है ? लेखक उस रचना के भाव को उतारने वाला होता है। उस भाव के लिए वह एक पात्र बनता है, जिसके पूर्ण होने के बाद भाव स्वत: छलक पड़ता है। शायद लेखक से कुछ आशा की जाती हो—अपना अहम् भाव छोड़कर ध्यानरत रह भाव के लिए उपयुक्त पात्र होना। क्या हुआ—यह आप लोग विचार करें। प्राचीन काल में हमारे देश में अनेक कलाकार, कवि, शिल्पी, चित्रकार आदि हुए हैं जिन्होंने अपनी कृति में अपना नाम या परिचय कही नही दिया। ठीक ही किया। वह कलाकार परिचय देनेवाला कौन होता है ?

आप कह सकते हैं—पुस्तक आकार में बड़ी हो गई है। मूल पुस्तक डिमाई साइज के हज़ार पृष्ठ की है। वह भी छोटे अक्षरों में। पर यहां यह स्मरणीय है—इतनी सारी सामग्री अक्षरो मे उतारने में दस वर्ष लगे हैं। उसकी तुलना में

पुस्तक का आकार उतना बड़ा नहीं । दरअसल उसे विस्तृत करने का उद्देश्य तो कभी था ही नहीं, वरन् यथासाध्य संक्षेप में ही व्यक्त कर प्रकाशित करने की कोशिश थी।

मेरे और आपके बीच अतराय यही है कि मैंने पुस्तक लिखी अपनी मातृभाषा मे—ओडिया में। और अब आपके पास आयी है राष्ट्रभाषा मे—हिंदी में। अनुवादक ने यथासाध्य कुशलता का परिचय दिया है, पर यह बात सर्वविदित है कि मूल से अनुवाद की यात्रा के बीच कुछ गुण, कुछ अर्थ, कुछ रग, कुछ भाव खो जाने को बाध्य हैं—विशेषत: शब्दों का, अतर्निहित ध्वनि का, अंतर्निहित छदोबद्ध भाषा का, सगीत का, जिस सांगीतिक माध्यम से भी कई प्रकार से अर्थ प्रकाशित होता है। ऐसे एक-एक शब्द अपनी भाषा मे जीवन और समाज से जुड़ कर अपने अपने आभिधानिक अर्थ के अलावा परिवेश और परम्परा के कारण अर्थ और भावपूर्ण चित्रों को उतारने में समर्थ होते हैं। अत: एक-एक शब्द से भिन्न-भिन्न स्तरों पर नाना प्रकार का अर्थ निरूपण सभव होता है। शब्दों के चित्र-विन्यास, स्वर, सगीत आदि से रूप-रस-गध-स्पर्शमय जीवन का सधान सभव होता है। अनुवाद के माध्यम से यह सब सहज ही उपलब्ध नही हो पाता। कुछ अंश तक अर्थ मिल पाता है, लेकिन जहां कही अपेक्षित अर्थ के स्पष्ट इंगित और नाना सकेत समझाये नही जा सकते। फिर भी मुझे विश्वास है उपन्यास की मूल कथा-वस्तु, विषय और उसका असल निर्यास इस वाक्य-दर-वाक्य अनुवाद से आप तक पहुँच सकेगा।

हाँ, तो मैं दस वर्ष के उद्यम की बात कर रहा था। नदी किनारे बालू में एक रेत का मदिर बनाना—दुर्बल शिशु के हाथों। और देखते ही देखते दशाब्दी बीत गई। इसकी एक खास वजह भी थी। तब तक वर्षों बीत चुके थे—अनेक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी थी। मन में अभिलाषा थी—कम से कम एक ऐसी रचना हो जिस मे लम्बे समय मे मुझ पर पड़े प्रभाव और मेरे अन्दर इस बीच जो कुछ उथल-पुथल हुई—उसका कुछ अंश कला का रूप धारण करे। इस का यह अर्थ नही कि वे सारी घटनाएँ इसमे हों। मतलब इतना ही है कि लम्बे समय मे जो कुछ परिवर्तन हुआ है, स्वप्न और स्मृति में जितनी यात्रा हुई है वह स्वत: 'माटीमटाल' के स्वप्न में व्याप जाय, मैं उसे कोई बाधा न दूंगा।

वैसे भी मैं किसी उपन्यास के लिए कभी कोई समय-सीमा निर्धारित नहीं करता—कि अमुक जगह आरम्भ होगा, इतने दिन मे समाप्त होगा, अमुक जगह समाप्त होगा। ये भाव अधर में होते हैं—जैसे किसी में देवी आती है—वे भाव उसी तरह कब किस मे 'आते' हैं—उसी माध्यम से प्रकाशित होते हैं। जब वे छोड़कर चले जाते हैं, कलम अपने आप बन्द हो जाती है। ऐसा लगता है—अब एक अक्षर भी और अधिक नही। बस यही। विस्मय में भरा लेखक देखता रहता

है—यही थम गया ! ऐसा ही होता है। इसी तरह देखा 'माटीमटाल' यहाँ आकर पूरा हुआ, और अंदर से बाहर आयी इस नवशुक्ला सरस्वती को मैंने प्रणाम किया :

"मम कण्ठे रमतां नित्यं सर्व शुक्ला सरस्वती।"

यह अपनी व्यक्तिगत बात ठहरी। मगर इस समय निहायत व्यक्तिगत बात ही तो कर रहा हूँ। यहाँ अन्तराय नही रख रहा।

कुछ स्वप्न थे, समय के संबध में जिन्होंने मुझे उद्‌बुद्ध किया था, अवश्य किया था। एक है—चन्द्रभागा के महोदधि तीर पर बारह वर्ष में खड़ा किया गया कोणार्क मन्दिर। सैंकड़ों-हजारों कारीगर जुटे थे, मन्दिर गढ़ने। एक युग लगा। अधीर नहीं हुए। उनके आगे कला का उदय हुआ था। चिरतन कला के लिए वे बारह वर्ष तक लगे रहे। उसी प्रकार की अनेक कीर्तियाँ हैं—भारत के इस इलाके में जहाँ मैं निवास करता हूँ। उसमें एक है—शारला दास का महाभारत—जिसके भाषा-भाव ने मुझे विह्वल किया है। उडिया भाषा में रचित प्रथम महाकाव्य—व्यास रचित महाभारत के ढांचे और उनकी छाया मे ज़रूर कहा जायेगा। वरना स्वतंत्र, स्थानीय संगीत और छद में ओड़िशा के उपकूल पर, यहाँ के सागर की लहरों में बना—सपूर्ण सार्वजनीन, विशाल ग्रथ, ताड-पोथियों में लिखा गया है। उन कवि की कृति जो अपना नाम-परिचय तक छुपा कर चले गये। बस इतना ही कहा—कभी सारोल नाम का जो गाँव है, वहाँ चंडीदेवी रहती है। यह उन्ही का दास है—और सब उसे सारोल कहने लगे। उनकी वह अनुल्लंघनीय रचना—बस यही खुशी, आनन्द पाने के लिए लिखते गये कि इसे उनकी माँ सारोल चडी कुतूहल से प्रसन्नतापूर्वक सुन रही है। वे स्वयं क्या लिखते रहे—"से जाहा कहइ, मुँ ताहा लेखइ"। जो इसमें विश्वास करता है वह—सारोल दास ने जैसा कहा था—समय की क्यों परवाह करेगा? समय से क्यों डरेगा? प्रिय बंधु? इसी लिए यह रचना व्यावसायिक हानि-लाभ के सासारिक माप पर लिखना मेरे लिए कल्पना में भी संभव न था।

लिखते समय बार-बार एक बात याद आती रही—महान् भारतीय संस्कृति और परम्परा—"वसुधैव कुटुम्बकम्। सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥ ओम् ऋण्वन्तो विश्व अमृतस्य पुत्राः..."। महान् दर्शन, मानवीय दर्शन, मानवीय समाज का उत्कर्ष! टूट गया। टूट गया। टूट पड़ा है!

पर क्या वह पूर्णतः लुप्त हो गया? लुप्त तो कुछ होता नही। कहाँ-कहाँ से टूटा है? कितना टूटा? कितना बच रहा? वह सामान्य-सा, क्षीण-सा स्फुलिंग कहाँ, कब किस अवस्था में कैसे प्रकट होता है? इस पृथ्वी पर क्या घट रहा है?

इतने युग बीत गये? कैसे बड़े-बडे परस्पर विरोधी स्रोत दुनिया के एक छोर

से दूसरे छोर तक प्रवाहित हो गये हैं ! क्या प्रभाव पड़ा उनका साधारण आदमी पर ? उसमें कैसे मजदूर, गाँव का किसान, सामान्य आदमी अपने कदम सम्हाल पाया है ? उसमें कौन-सी शक्ति भरी है जिससे वह धरती पर साहस के साथ कदम रखता चल पा रहा है, उसकी जड़ें नहीं उखड़ रही। क्या है वह चीज ? खोजेंगे नहीं ? पास ही हमारे पूर्वज खड़ा कर गये शिवालय। माँ के स्तन से क्षीर झर रहा है, नीचे भक्त अँजुरी बाँधे खड़ा है, पादोदक पाता है, मातृस्तन्य से पालित होता है। भारतीय संस्कृति यही है। ओड़िशा का मन्दिर यही है।

और पास ही साँय-साँय करता उड़ जाता है हवाई जहाज—हिरोशिमा, नागाशाकी और पता नहीं क्या कुछ ! इधर पास-पास मिल जुल कर घर बना रहे हैं, स्नेह में बंधे-कसे। उधर चल रही है मार-काट, बमबारी। मानो इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन की वर्षा हो गई है। चीटियों को पँख लग गये हैं—झुण्ड की झुण्ड निकल रही हैं। कहाँ से बन्दर उछल-कूद मचाये हैं—लँगूरों का दल कहाँ से आ गया ? पूँछ में तेल बोरा कपड़ा बँधा है, आग लगा दी गई है। इधर और उधर से इधर-उधर आग लगाते जा रहे हैं। यह आग क्या हम बन्द नहीं कर पायेंगे ? आप, मैं, चायी मजदूर, आम आदमी, दुनिया भर के विभिन्न रंगों के आदमी, विभिन्न भाषा-भाषी लोग। क्या यह आग नहीं बुझा सकते ? अवश्य। असंभव क्या है ? तो क्या शास्त्र झूठे हैं ? या भगवान का आविर्भाव पुनः होगा ? इसके लिए क्या ढोल बजेगा ? इसके लिए क्या कोई आडंबर की जरूरत है ? कभी भगवान का आविर्भाव किसी विशाल अट्टालिका, या कलरवमय या बहुत बड़ी नगरी में नहीं होता। किसी अज्ञात स्थान पर, किसी दूर देहात में किसी दरिद्र की कुटी में भगवान जन्म लेते हैं—साधारण आदमी के रूप में। और एक बार फिर वे प्रतीक्षा कर रहे हैं—आ रहे हैं—फिर जन्म लेंगे—मेरे अंतर में—आप के अंतर में।—शायद यही भावना थी जो प्रकाशित होना चाह रही थी। वह किस प्रकार आयेंगे, कैसा रूप लेंगे, कैसा रंग होगा, काव्यादर्श के कौन से गुण-दोष उनमें होंगे—यह सब आप देखें।

बंधु !

फिर एक बार नमस्कार !

—गोपीनाथ महान्ती

भुवनेश्वर
24 अगस्त, 1982

माटीमटाल
(भाग : एक)

माघ की धूप कैसी चुपके से चली जाने को हुई ! फिर देखते-देखते साँझ भी घिसटती-सी तैरती हुई जल्दी चली जायेगी। उसके बाद फिर रात चली जायेगी। यह श्रीपंचमी की रात भी : वहीं जहाँ चले जाते है सब दिन, सारी रातें ! इसी बात को याद कराये दे रही है यह ठण्डी हवा—हलके झकोरों से कमीज को हिलाती हुई, सिर के बिखरे बालों को और भी अस्त-व्यस्त करती हुई, और मुँह, आँख और गरदन पर सर्दीली चेतना की तूलि से सिहरनें आँकती हुई—कि आज चली गयी : श्रीपंचमी चली गयी, और साथ ही हलकी-नरम धूप भी !

दूर क्यारियों में भरे सरसों के फूल जो कुछ देर पहले साफ़ दिखाई पडते थे—पीली धूप में टिमटिमाते हुए छोटे-छोटे दीयों जैसे—हठात् अब सघन होकर छाया मे खोते हुए मलिन लगने लगे हैं, और उनके नीचे काजल की लम्बी रेखा-सी दिखनेवाली नदी भी लग रही है—मानो कोई बहुत लम्बी बत्ती हो जो जल-झुलसकर काली पड़ गयी हो। ऊपर-ऊपर जो धुआँ-सा था, जान पडता है वही उसका आख़िरी धुआँ है। थोड़ी देर बाद सब कुछ साफ़ दिखने लगेगा। माघ की साँझ में नदी के ऊपर का धुआँ कितनी दूर-दूर तक दिखाई देता है !

बाद को यह धुआँ भी जैसे नहीं होगा, ऊपर शून्य में ऐसा टँगा रह जायेगा जैसे परत पर काले कपड़े हों। फिर तो इतने बड़े काले सुरमई आकाश में श्रीपंचमी के चन्दा के चारों ओर तारों के फूल खिलेंगे और ऊपर से नीचे तक इस अपार विस्तार तले चिकना-चिकना अँधेरा और रुपहली उजास धीरे-धीरे एक में घुल चलेंगे। फिर, धीरे-धीरे रात भी चुपचाप सो जायेगी : उजले कोहरे का लिहाफ ओढ़कर, कुनमुनाती बैंजनी रात सो जायेगी—और खो जायेगी, ढूँढे भी कहीं मिलेगी नहीं।

यही सब सोचता चला जा रहा था वह अल्हड़ युवक जिसकी अभी मसें भीग रही थीं और जो मन ही मन इस प्रयत्न में था कि सामने पसरे-फैले उस शून्य के फलक पर कहीं अपने को भी सुघड़ाई के साथ भाव-भावनाओं के रंगों में रँगकर अंकित कर दे—ठीक उसी तरह जैसे किनारे-किनारे हलका रंगीन होता जाता वह बादल का टुकड़ा उधर टिका हुआ है। आँखें मूँदकर उसने मन ही मन उस बादल को देखा; फिर आँखें खोलकर भी। उसे प्रतीति हुई कि कितना विशाल है यह आकाश और कितना लघु उसके एक कोने मे टँगा वह बादल का टुकडा। कोई सत्ता नही उसकी यहाँ। देखते-देखते रूप बदल गया। अभी हाथी जैसी

आकृति थी, अब उलटे हंस जैसा दिख रहा है। दो ही क्षण में नया रूप !

उसने फिर आँखें मूँद लीं। याद आया जैसे रास्ते में आज श्रीपंचमी के अवसर पर एक के साथ एक मिले कुँई के फूलों के नालों में ही आम के पत्तों से गुँथे हुए तोरण लटक रहे थे, उसी तरह तो ये दिन भी हुआ करते हैं। एक के बाद दूसरा : अटूट ताँता : नपे-बँधे निर्दिष्ट कालखण्ड। प्रत्येक का अपना एक परिमाण है : एक सूर्योदय के बीच अपनी माँ के गर्भ से धरती पर आने और फिर पंचतत्त्वों में विलीन हो जाने तक का एक विशिष्ट प्रकाश-काल—सबसे अलग, सबसे भिन्न।

फिर भी, कुछ तो चुक नहीं जाता, कहीं तो अन्त नहीं होता। आँख मूँदकर सोचने पर जैसे लाल सेब और पके सन्तरे सब एक दिखाई देते हैं, लाल कुँई और हलद आभा लिये कनकचम्पा के फूल एक पर एक लदे हों तो उन्हें अलग-अलग गिना नहीं जा सकता, उसी तरह ये दिन : कितने-कितने आये हैं और कितने और आयेंगे। अनगिनत सूर्योदय और सूर्यास्त चले गये, अनगिनत और आकर चले जायेंगे। घुल-मिलकर सब जैसे चेतना का एक अकूल सागर हो जाते हैं, जो पल-पल के बाद नये रंग का दिखता है, नये भाव में अनुभूत हुआ करता है।

कनकचम्पा के रंग का सूर्य भी चले जाने के लिए ही जा-जाकर फिर एक बार आता है और धीरे-धीरे पश्चिम से दक्षिण की ओर को हटते हुए क्षितिज में झुक जाता है। उसके अपने तेईस वर्षों में आठ हज़ार से अधिक बार यह ऐसे ही झुकता हुआ डूबा है और फिर उगा है। छह वर्ष की उम्र से अब तक कम से कम छह हज़ार बार की तो उसे याद भी है। इसी प्रकार लाखों-करोड़ों बार आगे-पीछे को आया है, गया है।

चलते से वह अटक गया है। मानो सोच ही सोच रहा था, पाँव नहीं चल रहे थे। मनुष्य ही जैसे न चल रहा हो, मात्र सरक रहा हो। कानों में यह क्या गूँजा ? आकाश में एक गम्भीर शब्द की लहरें-सी बढ़ती आ रही हैं। लगता है कोई हवाई जहाज़ जा रहा है। उधर दूर चमकते बादल के टुकड़े के उस ओर जो गाढ़े नीले आकाश की स्थिर झील है, उसी की सतह पर उतरता चला जा रहा है : जैसे कोई बड़ी-सी बेडौल मछली हो।

इधर कैसे सुन्दर-सुन्दर हम उड़ते जा रहे हैं ! झुण्ड के झुण्ड एक साथ एक-दो-तीन-चार...ग्यारह...तेरह—ना, गोलमाल हो गया। एक के साथ एक सटे कितने पक्षी उड़े चले जा रहे हैं : अनेक श्यामल छायाओं का एक भारी समूह ! इनके इकट्ठे उड़ने से जो एक आवाज़ होती है उसमें भी शायद एक आनन्द होता है, एक अनूठा आकर्षण—देखी-जानी, हिसाबी-किताबी, और हानि-लाभ परखने-वाली सांसारिकता के लिए अदेखा-अजाना आकर्षण। दल के बाद दल ! ओह ! कितने हैं ये ! कहाँ छिप गये अचानक ? नहीं; चले गये ये भी : आते और चले जाते सूर्योदय और सूर्यास्त की ही तरह।

अब तो सामने से उड़ते जा रहे हैं कौए। मानो गाँव-भर के कौए एक साथ उड़ने निकले हों। काला कौआ तो बस काँव-काँव करता है। मगर इस कर्कश ध्वनि और उसके पंख हिलाने की भंगिमा में भी एक छन्द है, उस आकाश और इस माटी के साथ एक समन्वय है और उसके साथ ही एक सन्देश भी, जो मन को छू-छू रहा है और जिससे लगता है कि मानो यह आकाश अपना हो, यह माटी भी उसकी अपनी हो। उड़ते हुए ये वहीं चले जा रहे हैं जहाँ पहले भी उड़कर गये हैं।

हवाई जहाज पास आ रहा है जिसकी मछली के आकार जैसी बनावट है और बाट भूले नारियल के भौरों की जैसी राव-राव करती आवाज। पहले दूर था, अब पास आ गया। पेड़ों की ओट भी पार हो गयी। वह सामने ही दिख रहा है नदी किनारे का प्राचीन बरगद और पास ही बकुलेश्वर का शिव मन्दिर। कोई साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व का ईंटों का मन्दिर टूट गया तो लगभग पाँच सौ वर्ष हुए यह पत्थर का मन्दिर गढ़ा गया। सब याद आ रहा है...

वह विस्मित करता प्रकाश! हवाई जहाज का नहीं, मन्दिर का है। मन की आँखों के आगे आपसे आप फिर जाती है प्रवेशद्वार के ऊपर काले मरमर पर अंकित शिलालिपि जो मुखशाला पार कर जाने पर हवाई जहाज से भी दिखती है; वही शिलालिपि जिसके अक्षर कुछ विचित्र प्रकार के हैं। इधर से जाते हुए बार-बार पढ़ने से वे पंक्तियाँ कण्ठस्थ हो गयी हैं।

"नवकोटि कर्णाटोत्कलवर्गेश्वर वीराधिवीरवर पुरुषोत्तमदेव महाराज के विजय शुभ समस्त 15 अंक...रविवार समय। दण्ड अश्लेषा नक्षत्र...जिसे अनग भीमदेव राजा के भाई गोपाल छोटराय ने ईंटों से निर्मित कराया था वह अब टूट गया। इसलिए पखिखण्ड गाँव के खण्डाइत राय पीताम्बर महापात्र ने पत्थर से निर्मित कराया। इस देवता के सेवक वराही नायक हैं। श्रीकर महाराणा ईश्वर महाराणा सारथि महाराणा सोचल महाराणा"—और भी कितने ही नाम इस मन्दिर के बनानेवाले कारीगरों के थे जो अब शिलालिपि में से विलुप्त हो गये हैं।

ये साढ़े चार सौ वर्ष तो कल जैसे लग रहे हैं। शिलालिपि की भाषा भी ऐसी लगती है मानो किसी ने अभी लिखी हो। यहाँ के लोगों की बोली तक में इस बीच ऐसा कोई परिवर्तन नहीं आया जो स्पष्ट गोचर हो। मन्दिर है जो अपनी पार्श्वभूमि के साथ एक आदमी जितना नीचे को धसक गया है। कोई मूर्ति साबित बनी है तो कोई टूटी हुई है, कोई बिलकुल ही घिस गयी है। फिर भी मन्दिर आज तक अपने समूचे भव्य रूप में वैसे का वैसा खड़ा है: लगता है जैसे उत्कृष्ट कला-शिल्पयुक्त तीन विमान एक के ऊपर एक स्थित हों—और इसी प्रकार उनके ऊपर से गुज़र गया हो आलोक और छाया-भरे साढ़े चार सौ वर्षों के

इतिहास का समूचा क्रमिक प्रवाह ।

मन्दिर के ऊपरी भाग से देखने पर नीचे का सारा भाग दिन उतरते की सुनहली धूप में नहाया हुआ चमकता दिखाई देता है। लगता है जैसे इस मन्दिर का भी एक अपना व्यक्तित्व हो। चारों ओर अनलिखी अनुभूतियों की भूली-बिसरी कहानियाँ अंकित हैं। टिमटिमाते तारों तले अँधेरे मे अकेले खड़े होने पर जब निरावृत्त झिलमिलाते जुगनुओं के जलने-बुझने के साथ-साथ सियारों की उल्लास-भरी चीत्कारें सुनाई देती हैं और इस मन्दिर के अकेले सिर ऊँचा किये खड़े रहने की कहानी प्रत्यक्ष होती है, तब सचमुच ऐसा लगता है कि टप-टप करता आकाश नीचे को बहा आ रहा है और बिजलियाँ कड़क-कड़ककर इस विराट् शून्य के अस्तित्व को ही विदीर्ण कर देंगी !

गाँव यहाँ नही है, सारी भूमि बन्ध्या है। मन्दिर को दूर-दूर तक घेरे हुए है ख़स के फूलों का एक सागर जिसमे हलकी हवा भी चले तो मानो दूध उफन आता है। कही-कही तो इन फूलों के झाड़ ईख के दण्डो जैसे घने और ऊँचे-ऊँचे हो गये हैं। बीच-बीच मे इक्का-दुक्का बबूल के काँटेदार पेड़ भी हैं : छोटे-छोटे गोल पीले फूलो से लदे हुए। हवा मे इन फूलो की मीठी महक भरी है। नीचे-नीचे नाना रंग-रूपों के नाना नक्शे जैसे बन उठे है। इनमे मनुष्य के द्वारा नाप-नापकर बैठायी हुई लम्बाई-चौड़ाई की सीमाएँ नही हैं। एक नक़्शा फैलता-बढ़ता दूसरे में मिल गया है। इनका धर्म ही है : मिलना, एक हो जाना, अलग-अलग 'मैं' के घेरे बनाये रखना नही।

उसी तरह कही यहाँ पीले ही पीले फूल खिले हुए अंकित है; कही तोतई अगर के झुरमुट जिन पर फूल तो नहीं है, पर जैसे अनगिनत तितलियाँ पंख से पंख जोड़े सुस्ता रही हों! कही पर झुण्ड के झुण्ड अर्क के पेड़ खड़े है : बड़े-बड़े हो आये फलों के गुच्छों से लदे हुए, पर फिर भी पुष्पकोशों को ज्यो का त्यों बनाये हुए, और इसलिए मानो लाज के मारे झुके-झुके-से। काली देह पर लाल-हलद रंगों की बुँदकीदार पीली रेशमी पोशाक पहने भौरो की भीड़ें यहाँ मँडरा रही हैं। नुकीले काँटेदार झाडो के घने बिछाव अलग हैं जिन पर फूल ही फूल भरे हैं। सत्यानाशी की बेल ने मानो अपने को धरती पर पसरा ही दिया है और इसके गोल-गोल अगारों-से फल जैसे पीली धूप की धीमी आँच पर पकते हुए यहाँ से वहाँ तक फैले हुए हैं। ढलान पर घास की बिछावन पर धूप फैली पडी है। उधर की ओर वह मन्दिर दिखाई दे रहा है, इधर पीली महीन बालू का फैलाव, सामने नदी की धार है, सबके ऊपर आकाश।

इस समूचे परिदृश्य पर उड़ता हुआ आ रहा है हवाई जहाज...अब दूर हो चला...इसी तरह विलुप्त हो जायेगा, फिर दिखेगा नही। कुतूहल की चीज़ नही रह गया यह अब। नागासाकी और हिरोशिमा के ध्वंस के बाद—अनगिनत

हँसते-खिलते परिवारों के ऊपर, जीवित हाड़-मास की कायाओं के ऊपर, बम फेंक-फेंककर उन्हें राख की ढेरी या अपंग-अपाहिज बना देने के बाद—यह अब मानव समाज का शत्रु, कुत्सित यन्त्र-विज्ञान के आसुरी वश का एक घृणित विध्वंसकारी अंग बन गया है !...निकल गया दूर, आकाश अब विमुक्त है। कौन जाने उसमें परदुःखकातर जनसेवक ही उड़कर गये हों जो पृथ्वी पर शान्ति-प्रतिष्ठा के कार्य में सहयोग देंगे; पर तो भी हिरोशिमा की छाया उस जहाज़ पर है : उसका कोई विश्वास नहीं।

इधर यह बकुलेश्वर है। सूर्यास्त हो जाने के बाद और साँझ के घिर आने से पहले, सचमुच, दिन के इस अन्तिम पहर में यह पुराना मन्दिर मानो एक नये ही रूप में प्रतिभासित होने लगता है—कितना स्पष्ट, कितना वास्तविक।

रवि ने रुककर चारों ओर देखा। कहीं कोई नहीं ! दूर बाँध के नीचे से कटर-कें, कटर-कें करती कोई बैलगाड़ी जा रही है। दिख नहीं रही, सिर्फ़ सुनाई आ रहा है उसका करुण विलापमय संगीत। जैसे वाद्ययन्त्र के तारों पर धनुइ की डोरी को रगड़ते हुए कोई बार-बार वही सुर निकाल रहा हो, उसी तरह पहियों के भीतर रगड़ खाते धुरों की आवाज़ है और साथ में बैलों के गले में बँधे घुँघरुओं की रुनक-टुनक। जितनी ही दूर होती जाती है गाड़ी, उतना ही मधुर होता जाता है यह संगीत ! बस, केवल चले जाने का संगीत ! कितनी गाड़ियाँ ऐसे हो गयी हैं, कितना-कितना सुना है यह संगीत !

मन्दिर को देखते ही उसने हाथ जोड़े। उसे याद हो आया : यह अनन्त-अखण्ड महाकाल समय जिसके अन्तर्गत निरन्तर उत्पत्ति हुआ करती है और कितनों का ही अवसान हो जाता है, यहाँ एक वही चिरन्तन है, जिसकी ओट लिये सारा जन्म-मरण और उदय-अस्त होता है और तमाम घटनाएँ घटा करती हैं। उस समय की ही स्मृतिवत् यह मन्दिर खड़ा है। इधर से जाते हुए वह इसे हाथ जोड़ता है : आज भी जोड़े। और सदा मन ही मन जैसी कल्पना करता, आज भी की।

अनंग भीमदेव के समय से लेकर कितने-कितने वर्ष बीत गये ! कई सौ वर्ष ! कैसे-कैसे उत्सव मनाये गये होंगे यहाँ : कितनी-कितनी भीड़ें, किन-किनका आना-जाना ! क्या-क्या मनौतियाँ मानी गयी होंगी : 'मुझे पुत्र हो' या 'इस रोग से मुक्ति मिले' से लेकर 'युद्ध में विजय हो' तक ! शायद पहले यहाँ कोई बड़ा नगर रहा। नहीं तो इस उजाड़ बन्ध्या अचल में ऐसे सुन्दर कलापूर्ण कारीगरी-भरे मन्दिर की स्थापना कैसे होती ? शायद यहीं था वह पक्षिखण्ड गढ़ और उसी का है यह

महादेव मन्दिर।

कैसे रहे होंगे उस काल के वे लोग? कैसे उनके चेहरे-मोहरे, कैसा उनका पहनावा, साज-सँवार? सब कुछ मानो इस मन्दिर में अंकित है। वैसा ही ऊँचा-लम्बा बलिष्ठ शरीर, चौड़ी छाती, बड़ा-सा गोल चेहरा, तीखी नाक, सिर पर लम्बे केश, कानों से नीचे तक गलमुच्छे और उनमें मिली हुई मूँछें, कानों में कुण्डल होते, गले में हार; छाती पर तीनलड़ी सोने की कण्ठी और उससे झूलता टिकड़ा, युद्ध को जाता वह तो घुटनों से ऊपर कसी हुई लाँग लगाता, कमर में आठ सूत की डोर लिपटी होती, पैरों में जूते रहते, सिर पर शिरस्त्राण या पगड़ी। सचमुच ही जैसे एक पँचहत्था मर्द, सात फुट का जवान! और कैसे मजबूत उसके हाथ-पैर, छाती और जाँघें!

और उन्हीं जैसी उनकी स्त्रियाँ भी, ऊँचाई में चार हाथ से कम न होंगी, पतली कमर, चौड़ी जंघाएँ, भरे-पूरे पुट्ठे, सिर से पैरों के अंगूठों तक सुन्दर-सुन्दर गहने पहने हुई, पर वे चोरसी जलाये पाँव फैलाकर पीढ़े पर बैठी तापती न रहतीं; न पालतू सूए को उँगली पर बैठाये दुलारती रहतीं; न झांझ-वंशी, वीणा-मृदंग बजाती या नाना भंगिमाओं में नृत्य ही करती रहतीं; और न अलसाये भाव से पीठ को पीछे टिकाये दर्पण में मुखड़ा निहारती रहतीं। यह सब वे करतीं: मन्दिर में ऐसे चित्र पर चित्र अंकित हैं जो आज भी अक्षत हैं। पर साथ ही अनेक-अनेक चित्रों में यह भी दिख रहा है कि युद्ध का साज साजे हुए, एक हाथ में तलवार और दूसरे में बाण सँभाले वे घोड़े पर जमी बैठी हैं, उन वीर युद्धों की स्त्रियाँ समरवेश में, हाथी-घोड़ों पर सवार होकर, दल की दल युद्धों में जातीं। चित्रों में ही उनका यह रूप भी दिख रहा है कि वे सन्तान के लालन-पालन में लगी हैं, अपनी घर-गृहस्थी के कामों में जुटी हैं। सच ही, किसी अन्य देश की नहीं, इसी माटी की बेटियाँ हैं ये।

कहाँ चले गये वे सब लोग!!

वस्तुतः कितना उग्र होता है दुर्दशा का क्रम—मारकाट, बलक्षय, पराधीनता, लूट और अनाहार का क्रम—जिसमें इस देश के जन-जन का चेहरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी उतरता ही आया है: सूखता, सिकुड़ता, छोटा होता आया है।

एक-एक बात याद हो आती है उसे इधर से जाते समय, जब बकुलेश्वर के मन्दिर और वहाँ की अपूर्व कारीगरी पर दृष्टि पड़ते ही यहाँ का सारा खोया हुआ अतीत उसके मन की आँखों के आगे फिरने लगता है। मन्दिर में केवल मनुष्य ने ही अपनी कारीगरी नहीं अंकित की है, समय भी अपने को अंकित कर गया है।

वह उधर कोई मृदंग बजा रही थी, कितनी सजीव है उसकी भंगिमा! अब हाथ में मृदंग तो है, सिर नहीं रहा। क्या भाव रहे होंगे चेहरे पर? कैसा था

उसका चेहरा ? कोई नही बता सकेगा अब। ऐसे कितने ही सिर झड़ गये है, कितने ही अन्यान्य अंग नही रह गये।

उस तरफ़ बच्चे का हाथ थामे एक स्त्री अपने योद्धा पति के सामने खडी थी। बच्चा एकटक पिता के मुँह की ओर देख रहा था, पिता के एक हाथ मे ढाल, दूसरे मे लम्बा बरछा; चेहरा गम्भीर, स्त्री कुछ सुख-दुःख की कह रही होगी ! "कब तक लगे रहेगे ये मानस-घाती युद्ध राउतजी ? तुम कब तक लौटोगे ?" क्या उत्तर दे वह ? एक ओर राजा का आदेश, देश-रक्षा का तकाजा, दूसरी ओर स्त्री-बच्चे ! क्या भाव-भगिमा थी स्त्री के चेहरे पर ? जैसी की तैसी वह खडी है, गरदन से ऊपर का भाग नही है।

नीचे दल के दल सैनिक चले जा रहे है, चले जा रहे है। अनगिनत हाथी-घोड़े, जुझार बाजो के साथ वीर बाँकुरे चले जा रहे हैं। अपनी पूरी साज-सज्जा मे कलिंग का सैन्य चला जा रहा है। दल के बाद दल चले जा रहे है सब अतीत के गह्वर मे—दूर, भीतर-भीतर—जहाँ से कोई भी लौटा नही, लौटता नही।

बहू डोली चढ़ ससुराल जा रही थी, छात्र पढ़ने निकला था, और मगरमुखी नौकाओं में बैठकर पाल उड़ाते बढ़े जा रहे थे सागर में नाविक। बरगद तले कुजों मे चुपचाप हँसते प्रेमी युगल मिल रहे थे, सामने व्यासासन पर पोथी खोले बैठे कोई वृद्ध कुछ पढ़ रहे थे और एक वृद्धा सुन रही थी। पास मे गाँव के देवालय को जाती हुई कुलवधुएँ चित्रित थी, गोहाल में रँभाती हुई गायें, बाघ से लड़ता मल्ल और उसे देखती नागरिकों की भीड !

पत्थर में कला जीवन पाकर रह गयी है इस मन्दिर की दीवारों पर ! घर-आँगन, अट्टालिका-कुटी, दीवारें-आले . सब दिखाई दे रहे है; पीपल के पत्ते और बरगद के पत्ते साफ़ पहचान मे आ जाते है; यहाँ तक कि धीमे-धीमे वह रही हवा भी पकड़ मे आ रही है। आँचल उड़ा जा रहा है : छोटे-छोटे गेंदे के फूल जिसमें गुँथे है वह वृन्दावनी केलिकुसुमो का हार भी हवा में झकोला खा रहा है ! मन्दिर की दीवारों पर सब स्पष्ट दिख रहा है। उसे अनुभव होता है वह उसी युग की दुनिया में पहुँच गया है...

हठात् वह चौक पडता है। कितना समय चला गया !

एक जगह एक पुरसा ऊँचाई पर पादोदक निकलने की नाली बनी है। पानी बह जाने के लिए यह रास्ता ही बनाया गया हो सो बात नहीं; दूध पिलाने की मुद्रा में बच्चे को गोद में लिये एक मातृमूर्ति भी बनी है : सुपुष्ट स्तन और स्तनों के आगे दो छिद्रों में से पादाम्बु निकलता है, मूर्ति के भीतर ही भीतर होता हुआ। भीतर महादेव है और उनका पादोदक माँ के क्षीर की नाईं सन्तान के कल्याणार्थ झरेगा ही—ऐसी कलाकार की कल्पना है।

माँ का सिर अब नही है, स्तन भी सूख चुके हैं।

भावनाओं की झझा में उसे जीवन की निर्वाच बुझती-सी लगी। देह सिहर उठी। चारों ओर मानो अतीत ईंट-पत्थर हुआ पडा है। ढेर का ढेर ध्वस। दूर-दूर तक सुनसान, निर्जन। नदी किनारे से सफेद कुहरे की चादर धीरे-धीरे खिसकती आ रही है। ठण्डी हवा के मन्द झोंके आ-आकर छाती कँपा देते हैं।

पड़ा है वकुलेश्वर का मन्दिर और उसके चारो ओर फैला हुआ ध्वस। पुराने समय के वहाँ रह गये है घने-घने बरगद और निर्जन बेल के पेड़। ऊपर से नीली-काली चिकनी-चिकनी साँझ उतरती आ रही है। रास्ता सुझाने को उग आया है पचमी का चन्दा। वह जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाने लगा।

दूर कही सन्ध्या आरती का शंख बज रहा है। या मात्र उसका अनुमान है, भ्रम? अतीत तो अतीत में ही रह गया। तब यहाँ चारों ओर घर-घर मे दीये जला करते, प्रार्थना-आरती के समय शख और घण्टे बजा करते। अब वे घर-द्वार तो नही रहे। यह सामने एक रोशनी दिखाई दे रही है। घर के भीतर जलती ढिबरी की रोशनी जो खुले दरवाजे से बाहर तक आ रही है। कुछ लोग चबूतरे के नीचे की घास-फूस जलाकर आग ताप रहे हैं। यह बाउरियों की बस्ती है। थोड़ी दूर पर अँधेरे में लिपटी जो अमराई दिख रही है उसके पीछे षडगी रहते है। ये लोग धनी है: इनकी ही बस्ती के मन्दिर से घण्टे और शख की आवाज आ रही है।

नदी किनारे चलता-चलता वह पाँच कोस पार कर आया है। कोस-भर और चले तो मँझले शहर की सीमा-चौकी आ जायेगी। वहाँ से लाल सड़क पर पन्द्रह कोस—तब जाकर बड़ा शहर! आज की रात मँझले शहर में ही बितायेगा। भोर मे वहाँ से बड़े शहर के लिए मोटर सर्विस है। थोड़ा और चलने पर मोड़ घूमते ही मँझले शहर की रोशनी दिखने लगेगी। लो, मोड पार भी हो गया। दोनों तरफ पहचान के लिए वह लम्बे-लम्बे देवदारुओं की जोडी है, जिनसे आपसे आप घर का रास्ता पहचाना जाता है और साथ ही अपने गाँव का आराम, घर का सुख, याद हो आते है। ऐसा लग उठता है कि अब सारा रास्ता खतम हुआ, शहर आ गया।

मँझले शहर की बिजली बत्तियाँ चमकने लगी है। सड़क की बत्तियाँ आगे बड़े बाजार तक चली गयी है। इधर पोखर के किनारे केवड़े के झुरमुट से लगे खड़े दोनों देवदारु यों लग रहे हैं जैसे दो भाई किसी घर मे युगों से खड़े हों। कितने पेड़ हैं आम और जामुन के, अमरूद के! तने कितने मोटे हैं! सेंहुड़ा—वह कभी किशोरी थी, अब तो बूढ़ी हुई। कहते है, बहुतों ने इसके साथ ब्याह

किया है। दो पत्नियों के मर जाने पर लोग पहले मेंहुडा से ब्याह रचाते हैं, फिर तीसरी पत्नी लाते हैं। माना जाता है कि तब तीसरी की आयु खण्डित नहीं होती। पर अभाव-असुविधा, रोग से जर्जर शरीर, ऊपर से बच्चे जनना; फिर, घर से उठा लाकर नदी की सेज में सुला देना—यही मानो गणित का फल है।

उसे इन लोगों का ध्यान आता है। फिर ध्यान आता है उन तमाम लोगों का जिन्होंने देवदारु के इन दोनों पेड़ों को लगाया होगा, जिन्होंने पोखर-बाँध के किनारे-किनारे पेड़ों के इतने कुंज और दूर-दूर जहाँ तक आँख जाती है वहाँ घर-बगीचे, बाँसों के झुरमुट सजा दिये। उसे याद आते हैं वे लोग जो इधर की सारी धरती को जोतते-जोतते पहुँच आये बकुलेश्वर महादेव के इस मन्दिर की ओर—"अनंग भीमदेव राजांक भाइ गोपाल छोटराय ईंटा पोडाइ तोलाइ पिले। एते दिनें भाँगि गला।" उससे भी पहले, बहुत पहले की सोचो—तब कितनी नदियों का जन्म नहीं हुआ था और कितनी नदियाँ जो मिट्टी से भर गयीं और जिन पर अब घर-द्वार बन गये हैं उनमें तब अथाह पानी था और नावें चला करती थीं। सोचते-सोचते रवि रास्ते के एक किनारे को खड़ा हो गया और मँझले शहर की बस्तियों की ओर चुपचाप देखता रहा।

सोचता वह बहुत बार है, पर आज की बात और है। घर से उसे ठेल-ठालकर भेजा गया है कि कहीं जाकर नौकरी करे। पिता की इच्छा को टाल न सकने के कारण उसने एक जगह अर्जी दी थी। दैवयोग से नौकरी उसे मिल गयी : किरानी की नौकरी, शुरू में सत्तर रुपये। वहीं से चिट्ठी आयी है। ज्योतिषी को बुलाकर पंचांग दिखाया गया और शुभ मुहूर्त निकलवाकर उसे विदा किया गया है। माँ ने कहा था, बैलगाड़ी से जाना, पिता भी यही कह रहे थे। पर उसे तो पैदल चलने का अभ्यास है। चलना उसे अच्छा भी लगता है। अन्त में उसकी ही बात रही। ज्योतिषी ने बताया था कि इस सत्तर की नौकरी से बढ़ते-बढ़ते वह बड़ा हाकिम तक बन जायेगा।

बी. ए. किये उसे ढाई वर्ष हो गये थे। टाइफाइड में पड़कर तब मुश्किल से बचा। शरीर से दुबला-पतला था ही। उस वर्ष तो नौकरी के लिए चेष्टा न करने का यह एक अच्छा कारण बन गया। फिर स्वास्थ्य सुधरा, किन्तु उसने नौकरी के बजाय अपना मन घर की जमीन-जायदाद के कामों में लगाया। उसे अपने हाथों हल चलाना बड़ा अच्छा लगता। आस-पास के गाँव-हाटों में खूब घूमता; बाउरियों और मेहतरों की बस्तियों में जा-जाकर उनके सुख-दुख की पूछने-करने में उसका समय लगने लगा। नौकरी की ओर ध्यान ही नहीं दिया। मगर पिता का दबाव दिनोदिन बढ़ता गया।

माँ अपने मन में सोचे बैठी रही कि दिनों को जाते देर नहीं लगती, एक न एक दिन चिड़िया घोंसला बाँधेगी ही। बेटा नौकरी करेगा, ऊपर उठेगा। फिर

हाथ से दो हाथ होंगे। घर में वह आयेगी। सुनते-सुनते अन्त को बड़ा झिझकते हुए उसने यह अर्जी भेजी थी। आज वह चला जा रहा है, नौकरी करने। वह, रवि—जिसके अपने जीवन के बारे में कुछ स्वतन्त्र विचार थे! उस देवदार तले खड़े-खड़े मँझले शहर की बत्तियों की ओर देखते समय उसके भीतर का अव्यक्त व्यक्तित्व भी मानो अनजाने सामने आकर खड़ा हो गया और कहने लगा: मुझे यों सस्ते में न बेच फेंको, मैं जीवित रहना चाहता हूँ, फूल की तरह खिलना चाहता हूँ।

एक ओर समाज की बँधी-बधायी निष्प्राण संस्कार-धारणाएँ जो औरों को देख दर्द पैदा करती हैं और अपने प्रिय-आत्मज को मशीन बना देना चाहती है—दूसरी ओर उसका स्वतन्त्र मन। यही सोचते उसे लगा कि जीवन-प्राचुर्य में जब वह लहरों की तरह बढ़ने जा रहा है तो उसके उद्दाम आवेग को रोकने के लिए उसके माँ-बाप, बन्धु-स्वजन अपनी-अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। मात्र बेटा या भतीजा बनकर आदर-स्नेह देना ही यथेष्ट नहीं, उन लोगों की बात मान, पंख कटा, कोल्हू के बैल न बन जाने तक उन लोगों को चैन नहीं पड़ेगा। चूल्हे की जलावन की तरह वह अब अपने आप को ही झोंक देगा।

अघोरी का कोई घर नहीं, भूखे-रंक के पेट के लिए आधार नहीं; जहाँ धन और बढ़वार हैं वहाँ मन में भरा है अँधेरा, दारिद्र्य, मनुष्य ने तमाम देवताओं को परे हटा दिया है और केवल लक्ष्मी की पूजा में लग गया है—तन से, मन से। समाज भी गढ़ा जा रहा है तो धन के इसी भाव और अभाव के अनुपात में। आदमी का मोल-भाव धन पर आधारित है। जिसके पास धन नहीं, उसका कुछ नहीं।...छोड़ो यह सब। उसे तो अब अपने को एक बँधी-बँधायी लीक पर चलने के लिए डाल देना है। औरों को सुधारने, औरों का भला करने के कामों में, उसे अब हाथ नहीं डालना।

पंचमी के चन्दा तले शहर की बत्तियाँ बड़ी विवर्ण-सी दिखाई पड़ रही हैं, मानो राख-जैसे रंगवाले कुहासे में से टिमटिमाती हुई अंगारियाँ हों, चन्दा ने कुहासे को ही रँग दिया है, लगता है जैसे चाँदनी भाप बनकर सारे में भर गयी हो, नदी किनारा एकदम सूना है, जैसे छाया और उजाला दो जन पास-पास सोये पड़े हैं: एक महीन उजली बालू की धारा है, दूसरी साँवली पानी की, यहाँ-वहाँ ऊँघते हुए पहरेदारों-से इक्का-दुक्का पेड़ हैं, बार-बार अपनी चमक-भरी चिकनी चाँदनी फेंकता हुआ चन्दा उझक-उझककर देख लेता है—सब कोई सो गये क्या? अभी देर ही कितनी हुई। साँझ ढले पहर नहीं हुआ और चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया।

खड़े-खड़े उसे ध्यान आता है। कितनी रेखाएँ इस धरती पर खींची गयीं, कितनी विलुप्त हो गयीं, कितने-कितने युग कहाँ खो गये! वह लोभ और आशाएँ,

लूटमार और कमाइयों के पर्वत, क्षमताओं की अविराम छटपट—कुछ भी कितने दिन के लिए? बड़ी उद्धतता से सिर उठाया, पर कहाँ खो गया कौन—पता तक नहीं, गिलास-भर पानी के लिए करते-करते आदमी समुद्र ही सोखने पर कमर कस लेता है, प्यास तक बुझती नही कि वह कहाँ न कहाँ चला जाता है। सदा के लिए बुझ ही जाता है उसका अनुभूति-बोध। और फिर तो—न यह चाँदनी रात न अँधेरी रात, न कूँई के फूल-सी कुँआरी भोर न गोधूलि वेला का सूर्यास्त, न कोई संगी न किसी की माया, न सुख न दुख!

कुछ नही रहता, सब कहाँ चले जाते हैं: दिन-रात तक!

जीता वही है जिसने ईंट-पत्थर नही जोड़े, जिसने सोने-रूपे की दौड़ में न पड़कर लौ लगायी—जीवन के साथ, शान्ति और आनन्द के लिए।

पत्थर का घर टूट-फूटकर धूल हो गया, वह जायेगा—पत्तों का घर खड़ा करके स्वयं अपने को बाँधने के लिए?

नीद से जागे हुए की नाई रवि ने उन बत्तियों की ओर देखा और जैसे अपने से ही पूछा: मैं कहाँ हूँ? बड़े शहर में रहकर बी. ए. तक पढ़ा। इधर से ही रास्ता। पर साल-भर से दो-एक बार को छोड़ इस रास्ते जाना नही हुआ। गाँव उसे अच्छा लगता। वही डूबा रहता। खेती-बारी में ध्यान देने पर, अपने आप ही वहाँ चिपका रह जाता। माटी सहज मे छुट्टी भी नही देती।

फ़सल का मोह उसे इतना न था जितना नया कुछ गढ़ने, देखने और सेवा करने का था। माटी की अनलिखी छाया उसके ध्यान को बाँधे हुए थी। बीज डाला जायेगा, अँखुए फूटेंगे, पौधे-पेड़ फूलों और फलों से लद उठेंगे। प्रकाश में भी रग भरेगा, और जैसे विस्मित होते प्रकाश पाया था उसने, वैसे ही विस्मित होते अजाने-अकहे एक दिन नही भी रहेगा। मर गया या कही चला गया सो भी कहा न जा सकेगा। इतना भर ही होगा कि अब नहीं है, पर इतने में ही तो उस खेल का अवसान होता नही। माटी फिर लुभायेगी: फिर दे, फिर दे। फिर घास अँखुआयेगी, फ़सल लहलहायेगी—वह फिर चला जायेगा।

और इस होने न होनेवाली नित की फ़सल की नाई ही गाँव का जीव: आदमी! कौन नया आया, कौन था और अब नही है—इसका कोई दिखावा नही। न कही चिरजीवी होने की होड़, न किसी बात के लिए अड़ियलपन। उन्हें देखते फिरने में सिनेमा से अधिक आनन्द आता है। लगता है जैसे कोई नाटक है और उसमे वह स्वयं भी अभिनय कर रहा है। कितने अनगिनत हैं पात्र-पात्राएँ! कोई सीमा नही। सब कही मानो चल रहा है वही जीवन और विलय

का महानाटक . और वही तो उसका अपना भी परिसर था। अनजाने, अनसुने मैदान में खड़े इतने घास में वह भी कोई तार था। इससे अधिक की कभी कामना भी न की थी।

वैसे भी वह समाचारपत्र पढता, राजनीतिक समस्याओं की विवेचना पर ध्यान देता, बहुत बार पुस्तकें भी मँगाता और पढ़ता। मगर उसकी गँवई बुद्धि को यूरोप-अमेरिका या चीन का सामान्य जन अपने गाँव के सामान्य जन से भिन्न न लगता। ऐसा लगता जैसे पता नहीं किस युग से वे सब उसके परिचित हैं। हाँ, उन्हें वह देख और जान रहा है अब—अँगरेजी कविता-उपन्यास और समाचार-पत्रों के माध्यम से! उनके जीवन का चित्रण पढते समय वह तन्मय हुआ अपनी और उनकी हृदय की धडकनों को मिलाता चलता। रंग-रूप और भाषा, आचार-विचार, खान-पान और जाति-पाँति के सारे विभेद उसे आदमी पर ऊपर से चढ़े केंचुल-से लगते।

मन ही मन उस केंचुल को भेदकर वह उसके साथ उठता-बैठता, घुलता-मिलता। कभी-कभी कोई किताब पढते ठहाका लगा बैठता और माँ पूछने लगती, "क्या है रे इसमें जो यों हँस रहा है?" तो वह बडी सहजता से बताता, "हमीं लोगों की बात है माँ, हमारे जैसों के ही बारे में लिखा है..." किसी दिन किसी अनदेखे विदेश की दुर्दशा भी कहीं पढता तो उसका जी भर आता और बिना खाये-पिये सारा दिन यों ही भटकता रहता। अपने गाँव के ही टूटे-फूटे माटी के घर देखकर तो उसका मन उछलकर सात समुद्र नौ खण्ड पार पहुँच जाता और उसे लगता कि दुनिया-भर का जन-मानव तो भाई-भाई की तरह अपने धन्धे से लगा भला जीवन जीना चाहता है, पर कुछ कुचक्री 'टाउटर' हर जगह है जो तरह-तरह के दावँ-पेंच लगाये निजी स्वार्थ सिद्ध करने में जुटे हुए है। इन्हीं के सुझाये होते हैं : नये-नये मूल्य, नित नयी आवश्यकताएँ; और नासमझ साधारण जन नाच उठता है और अन्त मे सबसे बड़ी आवश्यकता मान बैठता है : युद्ध तक को, हिंस्र नर संहार को!

गाँव की माटी के कण-कण के साथ मिलान करते हुए उसने बाहर की घटनाओं को पढा था, अनुभव किया था, और उन्हें पहचानने की चेष्टा की थी—बिना किसी उद्देश्य के। यन्त्र-विज्ञान के कल-पिंजरे में बन्दी-छटपटाते मानव के दुखों को देखते समय उसे यह भी दिखता कि कोपल फूट रही है, कपास के डोंडों से रुई निकल रही है, धूल उड रही है, दिन-रात जा रहे हैं, आ रहे हैं। राक्षसी कल-कारखानों में एक मिनट मे सौ-सौ मोटरगाड़ी तैयार होने की कहानी पढते हुए वह देखता कि चबूतरे के नीचे गिरगिट ने चुपचाप दो घण्टे परिश्रम कर चार अगुल का बिल खोदा है और सब ओर से चौकन्नी रहते चौदह अण्डे उसमें सँजो गयी है : ऊपर से मिट्टी से ढककर और अपने सिर से पीट-पीटकर सब

समान करते हुए, उस जगह दो पैरों से चिह्न बना गया है, उत्पादन तो इसने भी किया है।

उसने ध्यान दे-देकर देखा है, कैसे एक के पीछे एक चीटियों की टेढ़ी-मेढ़ी लम्बी रेखा अपना सबका आहार जुटाने के लिए जाया करती है और लक्ष्य किया है इसपर से उनकी समूह-भावना को, अनुशासनबद्धता को, यही नहीं, उसने घोंघों और केंचुओं की तन्मय गति, भाँति-भाँति की रंग-बिरंगी चिड़ियों का नीड़-निर्माण, पत्थर की शिलाओं के नीचे उग आनेवाली नाना प्रकार की वनस्पतियों का मुक्ति प्रयास और ऋतु-ऋतुओं में खुले खेतों और मैदानों में बिछे पड़े नन्हे-नन्हे अँखुओं का स्वच्छन्द जीवन—यह सब भी सजग आँखों देखा है, सरल जीवन से उसका परिचय नहीं हुआ; पर उसने अथक चेष्टा की है मानव की निष्कपट सरल भाषा, उसके सरल सुख-दुख, उसकी बड़ा होने की हवस से मुक्ति, और परिश्रममय साधारण जीवन का स्वाद—इन सबको खोज पाने की: यही सब करते तो बिताये उसने दो वर्ष।

सामने मँझला शहर दिखाई दे रहा है। लो यह आ भी गया। परिवर्तन साफ नजर आ रहे हैं, इस जगह तो बगीचा था! और इसके उस ओर पोखर और माइनर स्कूल जहाँ उसकी पढ़ाई शुरू हुई! टेढ़े-मेढ़े बेड़े की तरह, शहर के इस दक्षिणी भाग की ओर जो पूर्व से पश्चिम को घनी अँधेरी अमराई मुड़कर गयी थी, वह कोई मील-भर में फैली थी—कहाँ गयी वह? शायद जमींदारी समाप्त होने की सुनते-न-सुनते जमींदारों ने उसे कटवा-कटवाकर बेच दिया। चिलकती धूप मे वही सिर पर काला-हरा चँदोवा बना करती, लू-धूप वहाँ छू न पाती, हलकी-हलकी बयार टहोकती रहती; आँधी-पानी मे वही गाय-गोरू आश्रय लेते; और जब चाँदनी खिलती तो एक छोर से दूसरे तक उसके नीचे छाया और प्रकाश की छीटें ही छीटें बिछी होती। अनगिनत जीवों का जहाँ निर्भय वास था, नन्हे-नन्हे पाँखी भी मुक्त गान से जिसे गुँजाये रखते, प्रकृति के उसी विपुल सौन्दर्य-सम्भार और इतने युगों की जातीय सम्पदा को व्यक्तिगत अधिकार का आडम्बर करके मनुष्य ही ध्वंस कर बैठा!

उन्ही खाली-सूनी जगहो पर कितनी इमारतें खड़ी हो गयी हैं। पास ही चावल की एक बड़ी मिल है, उसके चारों ओर शावकों जैसे छोटे-छोटे कई मकान। ऊपर टिन के रग की लोहे की चादरवाली छत। इस मिल की देखा-देखी दो और धान की मिलें बन रही हैं। एक का तो अब तक लिपाई-पुताई का काम भी पूरा नही हुआ। चारों ओर बाँस के बाड़े-घेरे से लगता है जैसे पिंजरे में कोई असुर बँधा है। उधर शहर के समीप किसानों की जहाँ पास-पास बहुत सारी जमीन थी, वहाँ से रास्ता निकाला गया है। रास्ते के किनारे-किनारे, तार के बाड़ों से घेरकर हर मालिक ने दस-बीस एकड़ के अपने-अपने फ़ार्म बना लिये हैं,

जिनमें पोखर हैं, बागवानी होती है और जगह-जगह क़लमी पेड़ तक लगाये गये हैं। एक-आध मकान भी बन गया है।

यह रहा शहर, यह ऊँचे-ऊँचे मकान, यह बिजली का प्रकाश। बीते युग की यादगारों की तरह यहाँ-वहाँ अब भी माटी के झोंपड़ोंवाली बस्ती, पिछवाड़े सहिजन और केले के गाछ। पर इन सबके बीच-बीच भी ये मकान पैठ आये हैं। नये-नये मकान और खड़े किये जा रहे हैं। ईंटों के चट्टे लगे हैं। नाना दिशाओं से व्यवसायी लोग आये हुए हैं। शरणार्थियों की बस्ती भी उभर रही है। शहर बढ़ता जा रहा है। गाँव सिकुड़ रहा है, शहर फैल रहा है। नया युग आ गया।

उसी के संकेत हैं ये मकान, यह बिजली। और ये रिक्शे, ये ट्रक। जोड़ा-जोड़ा रोशनी के साथ चाँदनी रात को चीरते हुए तूफ़ान की तरह हड़हड़ाते-रौंदते आते हैं ये ट्रक—एक के बाद एक! पहाड़ों को तोड़-तोड़कर पत्थर लाये जा रहे हैं—रबर के चक्कों पर! और लाये जा रहे हैं लोहे के छड़, ईंटों के चट्टे पर चट्टे, और न जाने क्या-क्या। यह एक ट्रक पान गये, यह सब्जियों का ट्रक, इसमें ऊपर तक केले लदे हैं, उसमें गोभी, पाँच ट्रक निकल गये, आज बड़ी हाट थी।

पता नहीं क्या न क्या भरे हुए कितने-कितने ट्रक इधर से उधर, उधर से इधर, हरदम दौड़ा करते हैं। बस धूल के बादल में एक पल के लिए रोशनी चमकती है। और—गर् गर् गर् गर्। उसके बाद, साँस तक लेना मुश्किल हो जाये, इतनी धूल उड़ती रह जाती है। चीजें सब चली गयीं। बड़ा बाज़ार ठसा-ठस भर गया है। सड़क पर साइकिल-रिक्शे दौड़ रहे हैं। दूकानों पर भाँति-भाँति का माल सजा हुआ है। जाड़ों की रात। एक दूकान की घड़ी में आठ बज रहे हैं। रेडियो पर समाचार भी आने लगे। बड़ा बाज़ार अभी भी खुला हुआ है।

सड़क के उस सिरे पर कुछ गोलमाल हुआ जान पड़ता है। लोग एक ट्रक को घेरे हुए हल्ला मचा रहे हैं। बड़ी देर से यह चल रहा था। अब भीड़ छँट गयी। ट्रक चल पड़ा: जिधर को जा रहा था उससे ठीक उलटी तरफ़। ट्रक पर बोरे ही बोरे लदे हैं। कई आदमी भी ऊपर चढ़े हुए हैं। अब वह गोदाम की तरफ़ जा रहा है। हो-हल्ला करने वाले लौट आये। ट्रक में चावल था। बड़े शहर को जा रहा था। लोग अड़ गये, ट्रक गोदाम की ओर लौट चला। लोगों की माँग थी: "यहाँ से चावल नहीं जाने देंगे। अभी ही रुपये का पाँच पाव मिलता है, फिर तो भाव और चढ़ जायेगा। चावल नहीं जाने देंगे। जो होगा देखा जायेगा।" लोगों ने रास्ता रोक लिया। ट्रक लौट गया। जनता की जय हुई।

पर कौन कह सकता है यह चावल नहीं ही जायेगा? जनता के प्रतिनिधि

बनकर जो लोग उस ट्रक पर चढ़कर व्यवसायी के गोदाम तक गये, वे कब तक सच्चे बने रहेंगे, कब तक निर्भय और अटल रह सकेंगे ? हो सकता है उस हो-हल्ले के ही बीच, आगे बढ़-बढ़कर बोलने वाले पाँच-चार जनों ने अपने लिए कोई डौल बैठा लिया हो। और-और लोगों में से दस-बीस पुलिस के कब्ज़े में आ जायेंगे। धर-पकड़ होगी। ट्रक चल देगा। हो सकता है आज ही : रात में ही।

सफ़ेद झक् धोती-कुरता पहने दो भारी-भरकम सज्जन इस घटना को लेकर चर्चा में लगे थे। एक बूढ़े थे, चँदले सिर के; दूसरे सज्जन की आँखों पर एक मोटा चश्मा था। शायद दोनों स्वयं व्यापारी थे। हर दूकान के आगे उधर दस-पाँच, दस-पाँच लोग जुड़े हुए थे और उस ट्रक की बात चल रही थी। उन दोनों सज्जनों का कहना था कि आज चावल के ट्रक को रोका गया, कल को बोरियाँ लूट ली जायेंगी, और फिर दूकानें, और फिर आग और मारकाट : सरकार अभी से व्यवस्था नहीं करेगी तो बाद में सँभालना भारी पड़ जायेगा।

ऊँची आवाज़ में बातें करते हुए लोग-बाग अपने-अपने रास्ते जाने लगे। किसी ने कहा, "इसी प्रकार हाथों-हाथ अपनी चलाये बिना ये व्यापारी लोग मानेंगे नहीं;" तो दूसरा फुंकारता हुआ बोला, "देखो न, सरकार का नाम लेता है : सरकार जैसे उन्हीं के लिए है : इन मुनाफ़ाखोर चोर बाज़ारियों के लिए : हम चावल का जाना रोकेंगे तो हमें पकड़ा जायेगा !" एक अधेड़ उम्रवाले अलमस्त सबको सुनाते हुए बोले :

"पेट मोहर निज गुरु उद्धव केते तू पचारु—

अरे मेरी सरकार तो मेरा पेट है, फिर कौन सरकार, किसकी सरकार : आज उसे सबक मिल गया। आगे बढ़कर मैंने ही तो उसे रोका।"

रवि ने उन लोगों को लक्ष्य किया। कोई कमीज़ पहने हैं, कोई धारीदार कम्बल लपेटे हुए। कोई क़लम खोंसे कोट-मफ़लर और बन्दर टोपी लगाये हैं तो कोई मात्र गेरुआ धोती में। किसी के चेहरे पर समझदारी के भाव हैं, कोई निरा घरद्वारी गावदी। कई तो सू-सू करते बीड़ी के कश खींचते हुए ऐसी-ऐसी हाँके जा रहे थे मानो पहाड़ को उलट देंगे। भीड़ में एक चेहरा उसे पहचाना-सा लगा। शायद साथ पढ़ा हो। पर ये इतने रंग-रूप के चलते-फिरते जीव, यही सब तो जनता है—जनता: जनार्दन ! योग पड़ा : आपसे जुड़ आये, उसके बाद जिधर जिसे जाना था चल दिया। रास्ता ख़ाली।

उसे अभी अपने बन्धु विपिन के यहाँ जाना था। किधर, कौन-सा होगा उसका घर ? खोजते हुए वह एक जगह रुक गया। थोड़ी दूर पर बिजली का ढेर-सा प्रकाश झर रहा था। शायद छोटे-छोटे बल्बों की मालाएँ झूल रही थीं। उधर ही बड़ा बाज़ार है। ख़ूब रोशनी है वहाँ, पर उसमें आभिजात्य नहीं। उसे याद नहीं आ रहा ऐसे जीवन से परिचय रहा हो। कोई अनुभूति ही याद में नहीं

उभर रही। सडक पर लगे बिजली के खम्भे तक उसे अटपटे और असुविधाजनक लगे। जैसे जीवन का प्रकृति के साथ तालमेल ही न हो, जैसे लोहे की ही तरह अनचीन्हे दर्शन-सत्यों की उद्धत घोषणा हो। यहाँ जीवन का समन्वय नहीं, संग्राम था, और यह प्रकाश उसी की विजय का प्रतीक—भले ही यह सामयिक हो, सम्बन्धमूलक हो, सापेक्ष हो।

जो हो, इस समय तो उसकी विजय ही है !

किन्तु यह विजय तो स्निग्ध कोमल चाँदनी रात पर विजय हुई ! इसमें शान्ति नहीं मिला करती, सपने नहीं छा आते, और कुहरे के कणों की नाईं अयाचित ही सहानुभूति बिखराते हुए मन भी दूर-दूर तक वहा नहीं फिरता। और यह हुई विजय तारों-भरी अँधेरी रात पर भी, जब मनुष्य उनीदा-उनीदा-सा सामने आता है। अपनी जानी-चीन्ही घटनाओं की अनुभूति को लेकर किसी अव्यक्त और अतीन्द्रिय अवस्था में ऊब-डूब करता हुआ।

पर न चाँदनी रात भरती है न अँधेरी रात ही। रास्ते पर लगी यह तेज़ बिजली की रोशनी केवल भ्रमित कर देती है मनुष्य की अनुभूति-शक्ति को, उनकी विचार-शक्ति के स्नायुओं को। मनुष्य वहीं, उतने में ही अटका रहा है, उसे दूर देखने नहीं देती। जो भी क्षति होती है—मनुष्य की, प्रकृति की नहीं।

यही दर्शन था उसके मन में।

और उसने सिर को एक झटका देकर सामने आये बालों को पीछे किया और पचमी के चन्दा की ओर भर-आँख देखा। इधर बायें बंजर में वह पुराना बरगद अब भी खड़ा है: इसे निकाला नहीं गया। उसके उस ओर मैदान में हलका-हलका कुहासा रुई के फाहों-सा तैरता फैला है, इस ओर उन्हीं दिनों के कुछ पुराने झोंपड़े हैं और कूड़े का ढेर। पीछे सबसे अलग-अलग ऊँचा सिर उठाये एक केले का पेड़ दिख रहा है, जिसके चौड़े-चौड़े हाथ निर्भय उल्लास के साथ फैले हैं: आकाश से झरती चाँदनी को पकड़ लेने के लिए। कुछ ने तो उसे पकड भी लिया है। सामने की तरफ खेत है, खाली। और उस तरफ़ भौरे जैसे काले रेशमी आकाश तले क्षितिज पर पेड़ों की घनी श्याम रेखा के ऊपर चन्दा।...

सब जैसा पुरानी दुनिया में था वैसा ही। कुछ तो बदला नहीं। न कोई हो-हल्ला, न कहीं हड़बड़ी। बिजली का उजाला भी नहीं, गरगराते ट्रक भी नहीं, जीप या मोटरगाड़ी भी नहीं। हैं तो बस यह आकाश, यह माटी, ये पेड़-पौधे, और चमक-दमक, दिखावों से मुक्त ये माटी के ही छाजनवाले कुछ घर।

ऐसा ही था हमेशा; आज भी है।

एक अपूर्व शान्ति का पसारा है इस समूचे विस्तार पर। कोई उत्कण्ठा नहीं: न रहने-रखने को, न नाम के लिए, दिखावे के लिए। रवि ने अपनी भावना, अपनी आज के दिन की सारी अनुभूति, इसी के आगे प्रसूत कर दी।

आज श्रीपंचमी है : उसका प्रिय दिवस। आज की रात चेतना को साहित्य-संगीत और सद्ज्ञान की प्रतीक वाग्देवी की आराधना में सुसम करने के लिए होती है, जीवन को तत्त्वदर्शन के आलोक से आलोकित करने के लिए होती है।

किन्तु वह तो निकला है नौकरी पर जाने के लिए।

आनेवाले तूफान की सूचना उसने आज देख ली है। भाव बढ़ गये हैं। भूख की आग सुलग उठी है। उपरोध टूट रहा है। रोक अब और नही रही।

इस मँझले शहर के लिए तो, जहाँ सब कोई सिर झुकाये अपने-अपने काम-धन्धे पर जाया करते और लाल पगड़ी को देखते ही कोसों दूर भागते, वहाँ के लिए तो यह एक बहुत बड़ी घटना है।

हाँ, क्योंकि वह जन-समूह की लहर है। यही हैं वे जो राज्य-भर के वंचित, दुखी, निरन्न जन। इस देश के ही नही, सब देशों के। इनकी भाषा या चमड़ी के रंगभेद से कुछ आनी-जानी नही, भीतर सबके वही आग है जो परमाणु बम से नही दबती, नीति-वचन और भागवत-पुराण या भाषणों से नहीं बुझा करती। यह तो बढ़ती और फैलती ही जाती है, सबको लीलती जाती है।

आदमी को आदमी पागल किये दे रहा है। सचय करने के लिए ताला लगा-कर औरो को भूखों मार रहा है और कहता है—क़ानून मानकर चलो ! शान्त, सुन्दर श्रीपंचमी की यह चाँदनी रात। इसमें चावल की मिल चल रही है—धान कूटनेवालियों के श्रम का मूल्य न देकर। असहाय विधवा स्त्रियाँ। किस-किसका बच्चा भूखा सो गया है ! कपड़े की मिल चल रही है—बुनकरों का रोज़गार छीनकर। यन्त्र मनुष्य को साधन बनाकर बढ़ रहा है—अपरोक्ष रूप से तन्त्र का ख़ून चूस लेने के लिए। पूँजी बढ रही है : साथ ही दारिद्र्य। इस शान्त रात्रि के तल में अशान्ति बढ रही है। कौन जाने कब क्या हो जायेगा ?

लगता है जैसे कोई बडी भारी होली सजायी जा रही हो और उसमें सब कोई अपना-अपना अंश-भाग डालते जा रहे हों। कोई पुआल दे रहा है, कोई लुआठे की तरह अपने-अपने हिंसा-द्वेष और अपमानों का ईंधन। होली का यह ढेर ऊँचा ही ऊँचा होता जा रहा है : घर-घर मे, गाँव-गाँव में, शहर-शहर में—जहाँ परमाणु बम भेद नही सकेगा, बिजली और धूप भी पहुँचेगी नही। यह ढेर तो जन-जन के मन में सात ताल गहरे पाताल में बढ रहा है। दिख जाता है साफ़ आँखों से।

और इधर वह स्वयं—चला जा रहा है स्वस्थ होते भी आँख मूँदे बँधी हुई लीक पर मशीन की तरह जीवन बिताने के लिए ! दुनिया में जो हो : उसे महीने होमहीने सत्तर रुपये मिलेंगे। बाद में कुछ बढ जायेंगे।

अपने को तौलने लगा वह तो आतंकित हुआ रह गया। कहाँ गयी उसकी भावनाएँ और योजना ? क्या हुई उसकी स्वाधीन चेतना ?

स्वाधीन पांखी स्वयं पिंजरे के मुंह की ओर जा रहा है। घर में आग लगने पर अपनी तसल्ली के लिए या औरों को समझाने के लिए, अपनी ही कमज़ोरी को दोषी ठहराता है। उसके पास अपने लिए बस एक ही कैफ़ियत है : आग उसे छोड़ नहीं जायेगी।

वह फिर चल पड़ा है। इसी तरह मशीन भी चलती है। सामने के बड़े-से फूस के घर में सिनेमा दिखाया जा रहा था। एक शो छूटा, दूसरा शुरू होगा। मॅझले शहर में तो सिनेमाघर ही बन गया है। सारे द्वार बन्द किये हाथ-पाँव बांधकर बैठे हुए चलती-फिरती तसवीरें देखने के बाद अब झुण्ड के झुण्ड लोग निकल रहे हैं, और झुण्ड के झुण्ड नये लोग आ रहे हैं—कितनी-कितनी दूर के गांवों से, घर-द्वार छोड़कर, स्त्री-पुरुष चले आ रहे हैं। खूब ऊँची आवाज़ में हिन्दी के गाने चल रहे हैं।

इन्हीं गानों को अब किसान खेतों में गुनगुनायेंगे, कुँआरी कन्याएँ अपनी कुँआर पूनो के उत्सव में गायेंगी, और गांव में गली-गली, घर-घर इन्हीं सिनेमा स्टारों के चित्र लगाये जायेंगे। आग तो पता नहीं कब जलेगी : सिनेमा चल रहा है।

और वह चला जा रहा है, अपने हृदय के एक लाख सद्‌विचारों और दो लाख जनहितकारी योजनाओं के लिए ममता के आल-जाल गूंथते-बुनते हुए—नौकरी करने।

आगे फिर बस्ती आती है। खंजड़ी पर थाप पड़ रही है, बीड़ी को कण्डे की आग से सुलगाया जा रहा है, द्वार से लगे सहिजन तले बैल सोये है, ऊँचे-नीचे कच्चे रास्ते के बीचों-बीच दो बैलगाड़ियाँ खड़ी हैं।

मानो उसका परिचित गांव यहाँ पीछा करता चला आया हो। जी रुकने को करता है। जरा भजन सुनता! उसी अव्यय-अरूप-निराकार का संगीत जो समझ में नहीं आता, पर सुनने में भला लगता है! जी खोलकर कोई गा रहा है, बजा भी खूब रहा है। चावल महँगा हो गया है, पसीना बहा-बहाकर भी पेट भरने को जुटाते नहीं बनता; फिर भी खजड़ी चल रही है, भजन थमे नहीं। रास्ते पर हलकी धुन्ध और कुहासा घुल-मिल-से गये हैं।

पर जाना पड़ेगा उसे तो और आगे। सामने वह छोटी-सी अमराई। यहाँ-वहाँ कुछ ये ही पुराने दिनों के अवशेष रह गये हैं। नहीं; और भी हैं। थोड़ी-थोड़ी दूर पर तमाम बस्तियाँ फैली हैं; उधर ही कहीं एक पोखर भी है और बीच में मन्दिर जहाँ सांझ घिरने से पहले कबूतर आ-आकर छा जाते हैं। और सफ़ेद कुंई! कुंई का एक-एक फूल जगा हुआ है, हँस रहा है। श्रीपचमी को फूल तोड़ने-वालों की भीड़ इन तक नहीं पहुँची। लोग जानते हैं, कीचड़ और लत्तर-पत्तर के

अलावा इनका एक और बडा रखवाला भी है। इनके बीच एक देवी रहती है।

सुना जाता है पहले यह देवी लोगों की बड़ी-बड़ी सहायता करती थी। किसी को शादी-ब्याह के अवसर पर बरतन-भाण्डों की जरूरत होती तो वह पोखर किनारे पूजा करता और साँझ ढले देवी की आरती उतारता। बस, सवेरा होने पर घाट किनारे टखनों-टखनों पानी में बरतनो का ढेर पड़ा मिलता। लोग इन बरतनों को उठा लाते और कारज निपटते ही जहाँ का तहाँ पानी में बहा आते। दो पीढ़ी पहले किसी ने एक बार इसी तरह बरतन लिये और फिर लौटाये नही। देवी ने उसका वंश तो नाश कर ही दिया, बाद को कभी और बरतन नही दिये। आठ एकड़ धरती में यह पोखर था : आधे मे अब खेती होने लगी है, बचे हुए आधे में देवी का वास है। सीढ़ियाँ फट-फटकर धँस गयी हैं।

रवि का छुटपन से विश्वास था कि मनुष्य मे सत्य नही रहा, इसी से देवी अब सहायता नही करती। कितनी बार वह और उसका साथी नील दोनों इन देवी को देखने के लिए साँझ पड़े छिप-छिपकर आम की डालों मे बैठे है। फूल, नारियल, ककड़ी—जो कुछ भी वे समझते कि देवी को प्रिय लगेगा—ला-लाकर उनके आगे रखते। हलका अँधेरा उतरते ही देहरी पर घी का दीया जला देते। बहुत-बहुत सोचकर आते दोनो मित्र। एक बार भी देवी के दर्शन मिल जायें तो फिर किसी बात की चिन्ता ही न रह जाये! उन्होने सुन रखा था कि जिस पर देवी दया करती है वह जो चाहे सो कर सकता है। और वे बोर्डिंग के दूसरे लड़कों से छिपकर बगीचे-बगीचे घूमते हुए अपनी योजनाएँ बनाया करते।

किसी दिन कोई नयी सृष्टि करने की योजना : एक बड़ा-सा घर-बगीचा, जहाज, किताबों में पढे हुए जीव-जन्तुओं में से ही कोई जैसे ऊँट-कगारू या हाथी-सिंह, या एक मन्दिर ही। किसी दिन संहार की, मार-काट की ही योजनाएँ बनाते : उस कोने डेंगू मास्टर को ठोकने की जो सभी को पीटा करता है, और उस बुढ़ऊ को भी सीधा करने की जो हर बात मे मीन-मेख निकालता है और जो स्कूल मे दाहिनी ओर वाली इमली के कटारे झाड़ने पर अपनी झुकी कमर और फूले हुए हाथ-पैर लिये उधर ही भागता आता है—भों-भो करते अपने कुत्त सहित, जिसकी आँखें सरसों के तेल के रंग की हैं। उनकी योजना सर्वशक्तिमान् तक बन उठने की होती। मन में आये और खाली डिब्बे में से चिड़ियाँ निकलने लगें, सोचें और मक्खी बनकर उड सकें! कोई सीमा नही इन सबकी तो, पर कम से कम परीक्षा तो पास की जा सकेगी।

बचपन की वे कोमल कल्पनाएँ! पोखर पर अब कुछ भी तो नहीं सूझता। थोड़ी दूर पर धुएँ की चमक दिख रही है। आगे कुछ नहीं। पहले भी शायद ऐसा ही था। उस युग की स्वप्न-लताओं का संसार इस धुएँ में मानो उलट-पुलट हुआ

ऊब-डूब कर रहा है। उधर है तिरछा चन्दा और उसके साथ श्रीपंचमी की स्मृतियाँ; इधर वह स्वय । एक अध्याय बीत चुका । अब वह नौकरी करेगा ।

देवी का दर्शन तब भी नही हुआ था, आज भी नही हुआ । किन्तु उस समय उसने देखा था प्रसारित चेतना का विस्तार, आकाश, टिमटिमाते जुगनू, बादलों से घिरा चन्दा, मछलियों का उछलना, कुंई के फूल, और पता नही कितना कुछ, और स्वयं अपना भविष्य ! कितना सहज-सरल था सब : बस जैसे मुट्ठी बन्द की और मनचाहा सभी कुछ बन उठता । आज दिखाई दे रहा है : कुहासा, केवल कुहासा । भीतर-भीतर अपने मन में वह समझ रहा है कि पोखर के उस पार बस्ती मे उसका मित्र विपिन रहता है, रात वही बितायेगा । भोर होते ही उठकर बस पकडेगा, और कुछ घण्टों में बड़े शहर होगा । वहाँ होंगी रेल की पटरियों की नाई नपे-बँधे जीवन की लौह-धारणाएँ : सर्-सर्-सर्-सर् साढ़े दस से पाँच या छह तक काम पर, फिर सर्-सर्-सर्-सर् अपने ठिकाने पर लौट आना—और एक दिन बीत जायेगा ।

और यह पोखर : अतीत के दिनो में से मानो कुछ दिन यहाँ रुक गये हैं, पानी मे घुल गये हैं, तब यहाँ का अनोखा ही रूप था। घाट के पास साफ़-सुथरी जगह थी, आईने जैसी । किनारे खडा बगुला अपनी शक्ल उसमे देखता शायद मन ही मन अपनी प्रशंसा करता...कितने सुन्दर छोटे-छोटे पैर, कितनी पतली गरदन, लम्बी चोंच, और नन्ही-नन्ही आँखें ! किनारे-किनारे चरती भैंसें भी अपना चेहरा देखती और, कौन जाने, पीठ पर चढी गौरैया और गरदन पर बैठा कौआ भी देखते हो ।

और चेहरा तो उसमें वह बूढा मियाँ भी देखा करता—अपने उप सदा एक रूप वेश में । जब देखो सिर पर डोरियेदार अँगोछे की पगड़ी और बदन पर कत्थई रग की लुंगी । सुग्गे जैसी काली नाक और ठुड्डी से झूलती सफ़ेद कूचिया दाढ़ी जो दोनों ओर की चौडाई मे कभी बढ़ी ही नही । एक साथ तीन-तीन बसी डालकर वह ध्यान लगाये बैठा रहता—मानो, न सही परलोक, इहलोक ही बँधा हो बंसी की डोर से ! किसी-किसी दिन उसकी टोकरी भर जाती तो किसी दिन उसमें दो-चार ही पडतीं—उस दिन वह रीती आँखो बस देखता रह जाता । कभी-कभी फँस जाती चार-पाँच सेर वाली भाकुर या रोहू । इसी से लोग उसे बसी डालने की कला का उस्ताद कहते ।

बूढा मियाँ उन्हे घुडकता नही। उनसे घोघे खुदवाता। कहता, चुपचाप बैठकर देखो ।

पानी भरने औरतें आतीं । कई चेहरे ऐसे होते जिन्हे देखकर बहुत खुशी मिलती। इच्छा होती कि वे इसे पास बुलाकर लाड-प्यार करें । कुछ चेहरे बिलकुल नही भाते—चाहे कितने ही गोरे क्यों न हों, कितनी ही नथ-बालियों

से सजी हुई क्यों न हों !

और कभी पोखर का किनारा सुनसान दिखता। हिलते अन्धकार में पास की वह थोड़ी-बहुत घास भी छिप जाती। हाडुक चिल्लाता। एक स्वर में मेढक टरटराने लगते। आम के अँधेरे तले झींगुर झी-झी लगा देते। पोखर के पानी में जगह-जगह कुंई और पास-पास टगर की तरह तारे खिल जाते। किनारे के पेड़ झिलमिलाते। ढेर के ढेर जुगनू चमकते, जैसे लोहारखाने में धौंकनी फूंकते हों चिनगारियां झिलमिलाती हैं—छोड़ने पर रुक जाती हैं।

पोखर की कीच से निकलती गन्ध में झपकी-सी आने लगती। वहां की सुनसान शान्ति को भंग करता सुनाई पड़ता चबर-चबर का शब्द। लोग वहाँ नहाना-धोना करते और रह-रहकर जल भरने का संगीत सुनाई दे उठता—हवा में सन्-सन् करती घास की पटभूमि दूर-दूर तक फैली होती।

वह और नील दोनों रहते। देवी नहीं दिखती, पर ये चारों ओर बिखरे-फैले जीवन के अन्दर पैठकर सब कुछ अनुभव करते। ममता लेकर वे आते और माया लिये हुए लौट जाते—लालटेन जलाकर अपनी पढ़ाई करते।

मैट्रिक के बाद नील चला गया डाकखाने में: चिट्ठियां छांट-छांटकर पेट भरने के लिए। अब कहीं सम्बलपुर में है। स्वयं उससे—रवि से—यह पुराना पोखर एक परिचित साथी की तरह पूछ रहा है: "और तुम किधर चल पड़े? क्या है वहां?"

अचानक उसे याद आया: अँधेरा करती हुई वह छोटी ढिबरी बुझ गयी थी। साथ ही ठण्ड-सी भी अनुभव होने लगी थी। बाहर उस दिन भी ऐसी ही कुहासे-भरी ठण्डी चांदनी रात थी। उस समय लगा था जैसे भीतर ही भीतर कुछ पसर गया हो, मानो खो जाने, चले जाने का कोई संकेत-भाव हो, सामान्य ही नहीं था, श्रद्धा-भरी आंखों के ऊपर से सचमुच ही मानो कुछ उतरा गया था।

कब की बात है? कहां की? उसे याद नहीं आया। पर इतनी दूर कहीं नीचे दबी वह ज़रा-सी घटना अचानक क्यों आज मन की ऊपरी सतह पर उठ आयी? वह समझ नहीं सका। पर उतने से ही भीतर के रंग बाहर के रंगों पर लद गये। मन दब गया। देर से चलते जाते उसके स्वप्न-संगीत की अन्तिम ध्वनि भी, पता नहीं, कहां खो रही।

सामने जो कुछ था उसे खुली आंखों देखते रवि सोचने लगा—देर हो गयी, ठण्ड भी लगने लगी, बीच-बीच में आते ठण्डी हवा के झकोरे बताने लगे कि जल्दी ही अब विश्राम करना चाहिए, और होना चाहिए विश्राम करने के लिए कोई ऊष्मा-भरा घर। फिर तो कल सुबह से नौकरी!

और वह चल पड़ा पांव बढ़ाकर विपिन के घर की ओर...

रात के लगभग नौ बज चुके हैं। दूर से संगीत सुनाई पड़ रहा है। हारमोनियम के साथ-साथ मनुष्य के गले की आवाज। ऊपर तबला। शायद तीनों एक सुर में मिल नहीं रहे। जाना चाहें तो प्रत्येक के लिए अलग-अलग कई दिशाएँ हैं पर जा रहे हैं सभी एक ही जगह, एक समय में। उस संगीत में मिल जाता है अन्य लोगों का शोर, हो-हा-हँसी, ताश की बोली—'नो बिड'। सबका मिला-जुला संगीत। उसमें कम से कम एक आवेश तो है।

संगीत लहरा-लहराकर लोचीला हो रहा है। एक सहज शब्द पकड़ में आया। शब्द है...'चोर'। 'चोर' शब्द को इतना मधुर बनाकर इतने प्रकार से उसकी आवृत्ति की जा सकती है—यह तो उसकी धारणा में ही न था। बार-बार वही—'चोर' 'चो...र' 'चो ओ र अ अ अ...' और फिर "ब्रज को चोर आया रे..."

यह भला आदमी विपिन 'चोर' शब्द पर गला साध रहा है, माने शब्द रूप धर रहा हो। रवि पास आ गया। साथ ही साथ संगीत में एक और स्वर जुड़ गया। यह एक कुत्ते की गिगियाहट थी। तबला बजानेवाले मोटे डाक्टर बाबू ने ज़ोर से कहा, "अरे ओ टॉमी, भूँक मत, रहने दे।" विपिन ने अपने भाव-गद्‌गद 'चोर' 'चोर' की आवृत्ति के बीच में ही अटककर देखा। उसके साथ और कइयों ने भी उधर झाँका। रवि ने भी उधर देखा। देखने की अधिक सुविधा उसे ही थी, क्योंकि वह तो है अँधेरे में और अन्य लोग रोशनी में हैं। एक बड़ा काला कुत्ता उसकी ओर लपकता-सा आ गया। डॉक्टर बाबू 'टॉमी-टॉमी' पुकारते हुए कहने लगे, "डरिए नहीं, पालिया है, कुछ नहीं करेगा।"

रवि देख रहा था वही परिचित घर। अगल-बगल दो कमरे, एक में रसोई और दूसरे में सोना-उठना-बैठना। सामने बरामदा और उसके आगे खुला मैदान। चेहरे को बाँहों में ढँककर विपिन का मुँहलगा रसोइया बाउर ऊँघ रहा है। रसोई के किवाड़ बन्द हैं। सोने के कमरे में पेट्रोमैक्स जल रहा है, बिजली इधर आना भूले हुई है। पेट्रोमैक्स के उजाले में तम्बाकू का नीला धुँआ साफ़ पहचाना जा सकता है।

उन लोगों की निगाह उसपर गयी, मौज-मस्ती के बीच अचानक बिन बुलाया मेहमान! खिझानेवाली बात! व्यक्ति भी नहीं। या कोई बीमार है? डॉक्टर बाबू ने सहज शान्त गम्भीर स्वर में पूछा, "कौन? क्या चाहिए? क्यों, किसी को कुछ हुआ है?"

सब इन्स्पेक्टर बाबू ने तीखी नज़र फेंकी, उनके पिचके गाल तेज रोशनी में चमक रहे थे। नाक के नीचे आधी मूँछों पर दोनों होंठ सामने से ठूँसे हुए-से लग

रहे थे। हेडमास्टर, पशु-डॉक्टर, ओवर सीयर, कोऑपरेटिव अफ़सर, कण्ट्राक्टर अमरसिंह सबने देखा। कोई आदमी बढ़ता आ रहा है। विपिन की आँखों में कौतूहल भर आया, इसके बाद ठहाका मारकर वह खड़ा हो गया और ज़ोर से कहने लगा, "अरे रवि! आओ-आओ, भई, ठीक मौके पर आये। ख़ैर, श्रीपंचमी की रात में बन्धु-मिलन सम्पूर्ण हो गया।"

हँसमुख विपिन। अब भी कॉलिज के दिनों जैसा ही विपिन—जिसे वे स्नेह से 'पिन' कहकर पुकारते। उसकी पिंजर देह के ढाँचे पर मांस ने मानो चिपटने से इनकार कर दिया हो। मांग ने सिर के बालों को दो भागों में बाँट दिया है। बाल एकदम चिकने सँवरे हुए, तेल कुछ अधिक लगा है। शायद छोटा कंघा जेब में पड़ा होगा। रंग लाली लिये गोरा, चेहरे का गठन कई ओर से अधूरापन लिये होने पर भी रंग सबको छुपा लेता है। घनी भौंहें धनुष की तरह न होने पर भी माथे के नीचे समानान्तर खिंच गयी हैं, इस सिरे से उस सिरे तक। नाक छोटी ही नहीं, उसकी नोक सीधी ऊपर उठ गयी है, अतः दोनों नथुने साफ़ दिख रहे हैं, चपटे गाल, और थोबड़े पर सीधे दीवार की तरह खड़े हैं। दोनों कान अपेक्षाकृत कुछ बड़े, सिर के साथ मेल न खाते हुए टेढ़े खड़े हैं। चार बरस की नौकरी में छोटे-से कुछ बड़ा हुआ है। यहाँ वह एक आंचलिक विकास अधिकारी है, महावारी डेढ़ सौ मिलती है।

विपिन ने एक-एक कर परिचय करा दिया। सबके साथ रवि का और रवि के साथ सबका। जैसे, "ये डॉक्टर बाबू है। उजाला देख रहे हो न? ये हमारे अँधेरे घर के चिराग़ हैं। जिसे इनके हाथ ने छू लिया, मरता हुआ भी उठ बैठेगा। दवा से तो ठीक होगा बाद में। पहले यह काया देखते ही उठ बैठेगा।"

"तुम कुछ मोटे नहीं हो सकते दवा-पानी से?" रवि ने पूछा। विराट्काय डॉक्टर ने कुछ गम्भीर बनते हुए सिर हिलाकर उत्तर दिया, "उनके लिए बन्दर की ग्लैण्ड खोजी जा रही है। लोग पेड़ों पर चढ़-चढ़कर खोज रहे हैं। मिलने पर देखा जायेगा। सरकार ने तो आदमी लाकर बन्दर मरवा डाले, वरना कब का काम बन जाता।"

सब हो-होकर हँस पड़े। विपिन ने बताया, "ये अपने इन्स्पेक्टर बाबू। विचक्षण हैं। इन्हें पहचान रखो। चीज़ चोरी हो गयी हो तो चोर को पकड़ो, माल ज़ब्त करो, साखी खड़े करो और इत्तला दो तब देखो, उस चोर का फ़ैसला ज़रूर होगा, सज़ा होगी, सब कुछ होगा।"

"हम तो सबके हैं, हुज़ूर!" सब-इन्स्पेक्टर ने बताया।

फिर हँसी।

"और ये हमारे पशु-डॉक्टर बाबू। इनकी महिमा अपार है। गाय-बैल, भेड़ बकरी, मुर्गा-अण्डा—रास्ते में जो-जो आपने देखा होगा, सब इनके ज़ुज़मात हैं

पर ये सदा अच्छी-सी बकरी कटवाते हैं ताकि अच्छा मांस मिले। अहिंसा के ठहरे अवतार! अच्छे नस्ल का खस्सी तैयार करते हैं। अच्छे नस्ल की गाय। यहाँ तक कि कृत्रिम प्रजनन आदि सारी विद्याएँ इन्हें ज्ञात हैं। ख़ुद भी बहुकुटुम्बी हैं। क्यों? कितने हैं? नौ तो हैं न हुज़ूर?"

बूढ़े पशु-डॉक्टर बाबू नकली दाँत हिलाते संस्कृत चबा-चबाकर कहने लगे, "या देवी...सा देवी वरदा भवेत्, सब कुछ देवी प्रसादात् हुज़ूर!" मोटे काँच का चश्मा, छोटा-सा सिर, पर शरीर का गठन सुन्दर। चमकदार सिर। सफ़ेद बाल और दाढ़ी, मानो चाँदी के बारीक तारों का समूह।

फिर हँसी।

विपिन ने आगे कहा, "और ये हैं अपने कृषि अधिकारी भागी बाबू। इन भागी बाबू को पहचान रखो, ये प्रगतिशील किसान हैं। क्यों रवि बाबू, बाँटने के लिए यदि आपके पास आलू के बीज आयें, यानी उस समय जब साधारण किसान की बाड़ी में आलू के फूल खिलते हों, तब आप बजर ज़मीन के परीक्षण के लिए वे बीज इन प्रगतिशील किसान को आसानी से बेच सकते हैं न?"

इस तरह एक-एक के साथ हँसी-मज़ाक़ में स्वागत-परिचय दोनों हो गये।

"ये पी. डब्ल्यू. डी. महकमे के काफ़ी तेज़ ओवरसीयर बाबू हैं। अँधेरी रात में नहर के किनारे केवड़ा और नागफनी के बीच चार अंगुल चौड़ी पगडण्डी में तीर की तरह साइकिल चलाने में धुरन्धर। इसके लिए यदि कोई पुरस्कार होता तो ये उनके हक़दार होते।"

"और ये रहे कण्ट्राक्टर अमरसिंह। कभी रिफ्यूजी थे, अब तो इस देश के नागरिक हैं। जो कहोगे ये जुटा देंगे; हाँ, पैसे ज़रूर कुछ अधिक लगेंगे।"

अमरसिंह ने अपनी दाढ़ी सहलायी। वे भी हँसने लगे।

अब विपिन ने उसका परिचय दिया। समझाया कि वह भावी नेता है, क्योंकि बी. ए. पास कर चुका, तब भी न तो नौकरी की ओर न शहर में रहा। गाँव में रहता है. लोगों के साथ हिल-मिलकर एक हो गया है।

रवि को लगा, वह और भी छोटा बन गया है। लाज से झुककर, कई तरह का विनम्र भाव दिखाते हुए उसने बात काटी। वह कुछ भी तो नहीं, नेतृत्व उसकी कल्पना में भी नहीं।

हेडमास्टर ने जोड़ा, "जो अच्छा पढ़ते-लिखते हैं वे नौकरी करते हैं, फिर थोड़े-से रुपयों में छटपटाते हुए, खींच-तानकर गृहस्थी चलाते हैं। और जो वैसे नहीं, या नौकरी-चाकरी में नहीं घुसे, उनमें तो कई ख़ूब मज़े में हैं। कोई नेता है, कोई व्यापारी। रुपयों की भी सुविधा है—कोई कमी नहीं। ऐसा ही मेरा एक छात्र था। चोकड़-खली, देशी और विलायती खाद का बहुत बड़ा व्यापारी है। कौन जानता था कि छोकरे में इतनी बुद्धि है। दो वर्ष फ़ेल हो चुका था। अन्त में मेरे

ही कारण पढ़ाई छोड़ घर बैठ गया। अब जब वह कहता है—"सर, आपकी ही दया से मेरा व्यापार-धन्धा हुआ तब मैं सोचता हूँ, कि बात सच है। अगर वह पास करता तो वह भी कहीं कोई किरानी बनता।"

पशु-डॉक्टर चिड़िया की तरह चहके, "मा देवी वरदा भवेत्। देवी प्रसादात् सब होगा, हुजूर..."

"जैसा आपका हुआ," डॉक्टर बाबू ने जोड़ा, "ये महाधुरन्धर ठहरे। पशु-विद्या, मानुष-विद्या—दोनों मे पारंगत हैं। जिसे सव्यसाची कहा जाता है, यानी बायाँ हाथ भी चलता है। अमरसिंह बाबू इनके पड़ोसी हैं। उनकी धर्मपत्नी के हाथ में एक फोड़ा हुआ। ऐसा ऑपरेशन किया कि..."

अमरसिंह ने आगे बताया, "बकरी काटनेवाली छुरी से, देवी प्रसादात्।" और डॉक्टर बाबू ने बात पूरी की—"हाथ में विष फैल गया।"

अमरसिंह ने कहा, "इतना फूला कि पहचानना कठिन था कि यह हाथ है या पैर। अन्त में पेनिसिलिन देकर..."

पशु-डॉक्टर बीच में बोले, "हूँ, बस आप तो सिर्फ़ ऑपरेशन करना जानते हैं। और सब तो निपट गँवार हैं। अरे बाबा! सकल घटे नारायण, मनुष्य क्या और पशु क्या? कहीं फ़रक है तो मुझे बताये कोई!"

अमरसिंह बोले, "मैंने पत्नी से यही बात कही थी। उन्होंने डॉक्टर बाबू की श्रद्धा भी ख़ूब की थी। करने की बात ही है। ये इतना पूजा-पाठ करते हैं कि मुझे भी कभी-कभी श्रद्धा हो आती है। मैंने पत्नी को बताया, कि तुममें और पशु में कोई फ़र्क नहीं।"

पशु-डॉक्टर बाबू क्षुब्ध होकर कुछ संस्कृत के श्लोक बोलने के लिए तैयार हो ही रहे थे कि बात की दिशा बदलते हुए सब-इन्स्पेक्टर बाबू ने कहा, "बुरा न मानना। नेता होने के लिए कुछ निम्नतम योग्यताएँ हासिल करनी पड़ेंगी। उसका दायित्व हम लोगों पर रहा।"

सब हँसते-हँसते लोट-पोट। फिर रवि ने भरे चावलों के ट्रक को लौटा देने की बात बतायी। सब-इन्स्पेक्टर बाबू ने खड़े होकर लुंगी पर, कमर पर और क़मीज़ पर, तिरछे कन्धे होकर छाती तक हाथ फेरा। चूँकि वे सरकारी पोशाक में न थे, अतः बेल्ट वहाँ नहीं था। कन्धा उचकाकर खड़े थे, "बहुत ज़रूरी ख़बर दी हुजूर ने। फिर कौन-कौन नेता बनने के उम्मीदवार आ गये? ऐसा तो हमेशा ही होता रहेगा! मारे गये! आकर तहक़ीक़ात करनी पड़ेगी, अच्छा भई नमस्कार।"

उनके साथ-साथ काम-काज और समय के बारे में सचेत हो सभी उठ खड़े हुए। सिर पर कण्टोप बाँधना था, गले के बटन लगाने थे। जूते पहनना आदि काम चालू हो गये अपने आप। असुविधा हुई तो डॉक्टर बाबू को। मोटे आदमी

ठहरे, झुककर जूता ढूँढ रहे हैं, मिलता ही नहीं। बोले, "अरे, भई, किसी ने मेरा जूता लिया है? टॉमी, तूने देखा है?"

"यह रहा, हुजूर, आपका जूता।" अरधिलिया ने उनके पैर के पास ही जूता दिखा दिया।

"कहाँ किधर है रे, दिख ही नहीं रहा।" जूता खो गया है, मानो भूगोल के चित्र में पृथ्वी को गोलाकार साबित करते हुए कोई जहाज उसकी ढलान में खो गया है।

वार्डरिया ने मदद की। डॉक्टर बाबू भी चले गये।

"हाँ, तो फिर रवि, इतने दिन बाद; कहाँ से?" उसके दोनों हाथों को पकड़ विपिन उसके चेहरे को देखता उत्तर खोजने लगा।

रवि हँस पड़ा।

विपिन ने पूछा, "किसी शुभ कार्य के लिए बुलाने आये हो? कब है? कहाँ है?"

इसी बीच देखा गया कि पशु-डॉक्टर बाबू हड़बड़ाये लौटे आ रहे हैं। दरवाज़े के पास रुककर सरस्वती के चित्र की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर बुदबुदाने लगे, "या कुन्देन्दुतुषारहार धवला..." फिर कसरत किये किसी थके व्यक्ति की तरह कहा, "रास्ते में याद आ गया, सो लौटना पड़ा, हुजूर! भगवान् को हाथ नहीं जोड़े थे। बिना हाथ जोड़े ही चला गया था।"

"आपने घर पर पूजा-ऊजा नहीं की क्या?" रवि ने पूछा।

"...घर में कौन देवता नहीं है? फिर भी भगवान् सब जगह हैं। यहाँ आपने जिन्हें पाया है, उन्हें भी अगर हाथ न जोड़ूँ तो यह मेरे कर्तव्य के विरुद्ध होगा। भगवान् हों या आदमी, हाथ जोड़ने में असावधानी क्यों, इसमें कोई पैसे थोड़े लगते हैं! समय पर काम ही आते हैं!"

अपनी प्रवीण विज्ञोक्ति पर स्वय मुग्ध होकर वे हँस पड़े। तुरत बोले, "वह अमरसिंह की स्त्री के हाथवाली बात...उसमें मेरा जरा भी दोष नहीं है। फोड़े को चीरा लगाकर पट्टी बाँध आया था। न कर आता तो वैसे ही रात-रात-भर 'माँ रे-बाप रे' कर रही थी। क्या बतायें, किसी ने, पता नहीं, थोड़ा बहका दिया कि कच्चा अण्डा फोड़े पर बाँध दो तो और भी आराम आ जायेगा। फल हुआ सेप्टिक। किसने यह उलटी बुद्धि दी, जानते हैं? हमारे स्टौकमैन बानाम्बर राउत ने। आपको पहले ही बता चुका हूँ कि वह बड़ा बदमाश आदमी है। यह उलटी विद्या सिखाकर अमरसिंह से एक रुपया ऐंठ चुका है। अमरसिंह क्या कहे? बेचारा भला आदमी ठहरा, उस राउत को यहाँ से भगाये बिना आपकी योजना-फोजना नहीं चल पायेगी, हुजूर!"

"...ठीक है, आप जायें, देखेंगे। नमस्कार!"

आशीर्वाद का श्लोक उच्चारते वे चले गये।

गये ही थे कि इतने में खांसने की आवाज आयी। कम्बल लपेटे घनी काली अँधेरी रात में से कोई निकल आया, चारों ओर सुनसान, शान्त चन्द्र डूबने को था, ढेंगू अन्धकार पास सरकता आ रहा था।

विपिन ने पूछा, "कौन है?"

"जी, मैं वानाम्बर, स्टॉकमैन।" वानाम्बर था पशु-डॉक्टर के अधीन छोटा कर्मचारी।

"वानाम्बर? अरे इतनी रात गये, कैसे?"

"जी, आपके पास लोग-बाग बैठे थे।"

"अच्छा कहो, क्या बात है? जल्दी बोलो, मेरे साथ एक मित्र हैं, हमें भूख लगी है—ज़ोर की।"

"जी, हुजूर, आप लोग थाली पर बैठें, मुझे भला कितनी देर लगेगी। ठीक लगा रे अरखित, सब ठीक-ठाक है न? नीबू काटा? नहीं तो ला, इधर मुझे दे। इतनी देर हुई, इसमें तो भात सुखकर कंकड़ हो गये होंगे? गरम किया है या मैं आऊँ अन्दर?"

"तुम छोड़ो। वो सब। जो कहना है, कहो। नहीं तो, तुम ऐसा करो, कल आना।"

"नहीं जी।...तो कहे ही देता हूँ। आपको तो बता चुका हूँ कि वे कैसे अस्पताल की दवाएँ बेचकर अपना व्यापार चलाते हैं। फिर जो कोई कुछ अस्पताल में लाये, उसपर उनका बट्टा लगता है। डॉक्टरखाने की सारी चीज़ें घर के काम में लगा डाली हैं। यहाँ छुरा तक भी नहीं। फिर ख़ुद पशु-डॉक्टर और जायेंगे लोगों को देखने। कोई कुछ भी दे, चवन्नी या रुपया। मुझे कहेंगे, पशुओं का इलाज करो, ख़ुद आकर नाम कमायेंगे। होते-होते अब आज झड़प हो ही गयी, मुझे गालियाँ दीं। बोले, 'तेरी नौकरी खा जाऊँगा, तुम्हारे नाम पर ऐसा लिखूँगा, वैसे करूँगा, नहीं तो मेरा नाम नहीं।' पता नहीं क्या-क्या अण्ट-शण्ट लिख दिया है।"

लम्बी कहानी।

विपिन ने कहा, "अच्छा जाओ, सो जाओ।"

"अब, क्या करूँ हुज़ूर?"

"इस बारे में कुछ भी करने की जरूरत नहीं। शान्त होकर सो जाओ, सुबह उठकर काम करो।"

"आप अगर कुछ नहीं करेंगे तो—"

"तुम उन्हीं पशु-डॉक्टर के आगे गुहार करो, वे ही सब ठीक-ठाक कर देंगे।" विपिन हँस पड़ा।

और कुछ ही देर बाद वहाँ पर वह न था, चाँद डूब चुका था। फिर वही सुनसान।

"भात लगा रे छोकरे !" विपिन ने कातर होते हुए कहा, "अच्छी जगह आकर पहुँचे कि भात चैन से नही खा सके। सूखकर चना हो गया होगा।"

दोनों खाने बैठे। रवि ने खाते-खाते पूछा, "क्यों, काम-धन्धा कैसा चल रहा है ?"

विपिन हँस पड़ा, "हाँ, चल रहा है। काम तो रोज ही होता रहता है।"

"लोगों की अवस्था कुछ बदली ?"

"बदलेगी, बदलेगी। हम योजनावाले किसी चीज में पीछे नही हटते, कभी आशा नही छोड़ते। फिर समय तो लगेगा ही, तुम्हारे गाँव में भी पहुँचेंगे हम। ठहरो, थोडा सब्र करो।"

रवि ने उत्तर दिया, "सब्र तो हम कर ही रहे हैं। देखते ही हो, आज से नही, जमाना गुजर गया; इतिहास के पन्ने पर पन्ने उलटते जा रहे हैं, लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं, सत उपजेगा। पर सत उपजता ही नही। गरीबी जायेगी, पर जाती ही नही। जिनके पास है, उनकी और भी बढोतरी हो रही है, जिनके पास कुछ नही, उनका और भी छीज रहा है। कॉलेज मे इतने ऊँचे-ऊँचे विचार बखाना करते थे। कहा करते थे, हालत कितनी ही असम्भव हो, मन को मजबूत करो और लोहे के चने चबा जाओ ! कर सकते हो ? मन मानता है तुम्हारा ?"

विपिन ने कहा, "हमारी जीभ में हड्डी तो है नही; बस एक ही बात जानते हैं—बौछार का रुख देखकर छाता घुमा दो। तभी दोनों किनारे बच सकते हैं। *आस-पास इस तरह के लोग हैं। उस ओर वे हैं जो आधी रात को सपना देखेंगे* और सुबह हमसे कहेंगे कि सपने को साकार किया जाये !"

चिन्तित हो अचानक रवि पूछ बैठा, "सुनो विपिन, बुरा न मानना, एक बात पूछ रहा हूँ, तुम्हारा यदि इस योजना मे विश्वास नही तो फिर इसमें रह क्यों रहे हो ?"

रवि का अस्तित्व भूलकर, स्वर में विरक्ति का भाव भरते हुए विपिन ने कहा, "सीधा-सा उत्तर है। मैं यहाँ हूँ अपने पेट के लिए। मात्र पेट के लिए ही नही, अपने कैरियर के लिए भी। हर्ज क्या है ?" क्षण-भर मे वह फिर बदल गया, हँसकर बोला, "धत्तेरे की, ऐसी बात का मैं क्या उत्तर दूँ। नौकरी करने जो आता है, अपने विश्वास और अपनी रुचि के अनुसार वह काम और जगह पायेगा ही—क्या इसीलिए आता है ?"

"फिर क्यों आयेगा ?"

"आयेगा नौकरी करने। नौकरी तो नौकरी ही है।"

"यह आत्मप्रतारण नही है क्या ?"

"वैसे समझो तो यह सारी दुनिया ही आत्मप्रतारणा है, खाली मेक बिलीव। बहादुरी इसी में है कि आत्मप्रतारणा इतने जोर से हो, इतनी पूरी मात्रा मे हो, कि आदमी मे आत्मविश्वास पैदा हो जाये, कि वह एक महापुरुष है ! दूसरों मे भी यही आत्मविश्वास पैदा कर दो।"

उसकी आवाज़ में गर्व भी था और अपने आप पर दया भी। रवि को बड़ा आदमी बनने का सकेत देकर वह मानो अपने श्रमजीवी होने की घोशणा कर रहा है। आगे कहा, "तुम क्या समझोगे, भई, तुम्हें तो ट्यूशन कर पढ़ाई चालू रखने की आवश्यकता पैदा नही हुई, भूख-प्यास के पास कभी फटके तक नही। नौकरी की तुम्हें ग़रज़ नही, अतः तुम शौकिया आदर्श की बातें कर सकते हो। मुझे यह सब करना पड़ा है। और अब मैं अपनी उस पुरानी अवस्था में लौट जाना नही चाहता।"

विपिन की यह लम्बी कैफ़ियत सुनकर रवि का मन और भी भारी हो गया।

चार वर्ष बीत गये कॉलेज छोड़े, उससे पहले कॉलेज मे चार वर्ष का परिचय ! फिर कौन किसकी देखभाल करता है, कौन किसके बारे मे सोचता है।

हाथ धोकर वे बरामदे मे बैठे। विपिन ने सिगरेट जलायी, रवि को देने लगा तो उसने इनकार कर दिया। विपिन ने कहा, "कॉलेज में तुमने देखा होगा, ये सारी बुरी आदतें मुझमें नही थी, यहाँ ये आ लगी हैं। इसे भी इस नौकरी के कारण अपने व्यक्तित्व का ह्रास ही मानना पड़ेगा। लोगों के साथ मिलना बन्द करें तो योजना बन्द।"

रवि ने पूछा, "तुमने योजना-कार्य करने के तरीके भी सीखे, अमल भी सीखा, फिर भी कहते हो, योजनाओं में तुम्हारा विश्वास नही ?"

"विश्वास नही, यह कब कहा ? कुछ भी नहीं हो रहा, सो मैं नहीं कहता। कुछ तो हो ही रहा है। कई गाँवो मे रास्ते बन रहे हैं। कही कुआँ, या तालाब-पोखर मे मछली बढ़ाना, कही साग-सब्जी, यह सब हो तो रहा है। हम जो कुछ कर रहे है, उसकी सख्या गिनने बैठें तो बहुत दिखेगा, इतना कि आदमी डर जाये। किन्तु दूसरी ओर जब नजर डालते है, कि हम क्या नही कर सके तो उनकी संख्या अनगिनत है। कही दस-बीस कुआँ या पोखर खोद डाले, बहुत अच्छा काम हुआ। किन्तु सैकड़ों गाँव ऐसे भी पड़े हैं, जहाँ सिर-फुटव्वल हुए बिना पानी की बूँद तक नही मिलती। और नही तो कोसों जाओ। रोज लम्बी कतार लगती है। हम सिखाते हैं स्वास्थ्य की रक्षा करो, सफ़ाई जीवन का मूल मन्त्र है। और नदी मे चल रही है हैज़े की जययात्रा, पुआल में आग पकड़ने की तरह यह तुरत फैल

जाता है। सहयोग का कितना प्रचार जोर-शोर से समाज में बढ रहा है। उधर बढ रहे है 'टाउटर', मुनाफ़ाखोर। दलों मे बँटकर घर-द्वार उजाड़ना। जितनी भी रोशनी जलाओ, वह बस जैसे अँधेरे आकाश में एक तारा-भर है, चाहे जितने झाड़-झंखाड़ जलाने पर भी लगता है जैसे बियाबान बीहड़ के बीच कही-कही एक आध टुकड़ा साफ-सुथरा खेत है। रास्ते के किनारे-किनारे हमारे शो-केसों की तरह। यार, इसी बात का तो दुःख है, हम भी कोई आदमी हैं! इतने नीचे जिसकी गणना नही हो सकती। फिर भी मन नही मानता, मुझसे क्या काम हो सकेगा? अतः बौछार की ओर छाता घुमाता हुआ हुकम की तामील करता नौकरी बजाये जा रहा हूँ। यहाँ जो ज्यादा बकबकाता है वही लाठी की पहली चोट खाता है, अतः यहाँ 'ये करूँगा-वो-करूँगा' डींग मारकर छटपटाने की भी सुविधा नही। संगीत, सिगरेट और समाज। हर बात मे 'हाँ जी', 'हाँ जी' कहना, 'नही' कभी जबान पर भी न लाना। बस, इसी तरह मेरी नाव चल रही है। सामने है शायद प्रमोशन, पदोन्नति। दुनिया भी असन्तुष्ट नही, मालिक भी असन्तुष्ट नही। केवल---कभी-कभी इस जीवन और इनसानियत के इस अभिनय पर घिन आती है, बस।"

रवि चुपचाप झुककर दोनों हथेलियो पर मुँह रखे, तन्मय होकर बैठा सुन रहा था, मानो उसका अस्तित्व उस अन्धकार मे घुल गया है। सुन रहा था कि विपिन की अन्तरात्मा से आवाज निकल रही है। वह विपिन भी नही है, बस एक स्वर है।

स्वर स्वयं अपना भाव प्रकट कर रहा है, केवल भाषा नही---यह तो एक बहाना है। नाना परदों पर नाना अवलय और नाना अनुप्रास में उसके भावो का प्रकाश है। हो सकता है, यह सूनी अँधेरी रात, सामने का अँधेरा मैदान और पास बैठे मित्र के वेश मे अतीत की स्मृति, ये सब मिलकर उस भाव को रास्ता दिखाती ले आयी हैं। या यह एक अनहुति प्रकाश है जिसका हेतु समझ मे न आये, केवल उसका अनुभव किया जा सकता हो!

रवि ने अनुभव किया जैसे यह किसी पीडित अन्त.करण का क्लिष्ट आर्तनाद है, वह करुण है अतःप्राणस्पर्शी है। लगता था जैसे उच्चांग सगीत सुनते-सुनते उसने उसकी सूक्ष्म कारीगरी में मन को डुबो दिया हो।

अँधेरे में विपिन की अधजली सिगरेट का अँगुली-भर गुल गिरकर भभक उठा। रवि का ध्यान टूटा। विपिन ने एक लम्बा कश खीचा और पीछे की ओर झुककर बैठ गया मानो वह कोई अभियुक्त हो। मन खोलकर अपनी लम्बी स्वीकारोक्ति पूरी करने के बाद किसी अदृश्य शक्ति के आगे आत्मसमर्पण कर हलका हो गया हो। अब उसे और कुछ नही कहना।

कुछ क्षण चुप्पी में कट गये।

रवि ने मन ही मन विपिन को तौला, उसके भाव को नहीं। सोचा, स्वयं वह कितना छोटा है, पर स्वयं बन गया है विचारक। वह स्वयं यात्रा (नाटक) में द्वारपाल के वेश में है, रवि; विपिन नहीं। मानवता के पक्ष में उत्साही, सहानुभूतिशील। शालीन स्वरूप को विपिन केवल जान-बूझकर कई फक्कड बातों के जाल में ढाँपे हुए है। उसे चोट लगी है, दौड़ने को चाहकर सामने जुड़े किवाड पाये हैं, सामयिक विफलता मिली है। उसमें उदासीनता नहीं, अनुशोचना है।

विनीत भाव दिखाकर रवि ने पूछा, "तुम्हारे ख़याल से ऐसा क्यों हो रहा है? कोई प्रतिकार भी है इसका?"

विपिन ने सिगरेट का वह टुकड़ा फेंक दिया, दूसरी सुलगा ली। कहा, "मैं समझता हूँ इसका प्रतिकार हमारे-तुम्हारे हाथ में नहीं है। जिनके लिए हम काम करना चाहते हैं, प्रतिकार भी उन्हीं के हाथ में है। वे अभी इसके लिए राज़ी नहीं हैं।"

रवि ने कहा, "उन्हें मनाने के लिए क्या-कुछ हो रहा है?"

विपिन ने पहलेवाला मज़ाक़िया ढंग दिखाते हुए बताया, "नींद से जगाने के लिए ढोल पीटना, अर्थात् प्रचार। उन्हें सचेत करने के लिए और अधिक ढोल पीटा जाये, अर्थात् ख़ूब प्रचार किया जाये। कम से कम हमारी पढ़ाई तो यही कहती है।"

"ढोल पीटने से क्या किसी सुननेवाले के कटे पैर का दर्द कम हो जायेगा? काने की आँख ठीक हो जायेगी? भूख कम होगी? आदमी क्यों मानेगा? इस समाज में एक को दूसरे के साथ बाँधने के लिए आज क्या रहा? सब अपनी-अपनी ढपली बजा रहे हैं। एक के नष्ट होने पर दूसरा पुष्ट हो रहा है। घर-घर में अलग-अलग देवता हैं, वे उसके स्वार्थ के, लोभ के प्रतिरूप हैं। वह जानता है कि अगर वह ख़ुद गिर पड़ा तो और कोई सहारा नहीं, किसी पर भरोसा नहीं। वह चलता रहा तो चलता जायेगा, अतः चारों ओर से खींच-तानकर अपना झोंपड़ा बाँधने में वह व्यस्त है। इन्हीं खण्ड-खण्ड लोगों के आगे आकर खड़ा होगा—योजना का मार्ग, सामूहिक उन्नति। उसमें फाँक जुड़ने की बजाय और चौड़ी हो जायेगी, इसमें कोई सन्देह है? साझे के बाग में आम के ढेर झड़ें तो लोग उन्हें धीरे-धीरे लाकर रखते हैं और अगर सब अपने लिए चुनने बैठें तो फिर आम ही सर-फुटव्वल का कारण बन जाता है, सब आतुर हो जाते हैं, क्या बूढा, क्या बच्चा, क्या मल्ल, क्या कमज़ोर। बुड्ढा धक्का खायेगा और बलवान् हाथ मार लेगा। यह कौन-सी विचित्र बात है?"

"सब जगह वही बात है। किन्तु इसका उपाय क्या है? क्या किया जाये कि एकता बढ़े? क्या केवल कहने से सब हो जायेगा?"

"तुम्हारा क्या विचार है?"

"इस तरह कहते गये तो एक न एक दिन हो भी जायेगा वैसा। यह हो सकता है कि वह दिन दूर है। वह दिन हमारे देखने में न आये।"

मानो विपिन पकड में आ गया हो। वह आशावादी और स्वप्नवादी भी है। उलटकर कहा, "ऐसे ही गीला-सूखा जैसे भी हो, काम चलेगा, जो भले होंगे—भले रहेगे। जो नही होंगे वे नही। उन्नति हो रही है, होती रहेगी और उसका परिसर फैलता रहेगा धीरे-धीरे।"

रवि ने कहा, "पर तुम अलग अपनी वही संस्था बनाये रखना। जिस संस्था के फलस्वरूप इतने युगों तक हम सब बढते आये हैं, उसे बदलेंगे नही। हर क्षेत्र में व्यक्तितन्त्र और धनतन्त्र को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए वैयक्तिक योजना के समय यदि यह कहा जाये कि—विचार समष्टिगत हो तो फटी दीवार पर चूना पोतने की तरह ऐसा हो नही सकता।"

"अन्तिम आसरा भगवान् का है, दैवी शक्ति पर ही भरोसा है, जय माँ सरस्वती। वे ही देंगी आदमी को सद्‌बुद्धि, और कोई नही।"

विपिन ने और सिगरेट नहीं सुलगायी, रवि ने भी कोई बात नहीं छेड़ी। गुमसुम बैठे दोनों खाली मैदान की ओर देखते रहे। आकाश मे था कितना चिकना अन्धकार, कितने तारे, कैसी झिलमिलाहट।

व्यापक जनसमूह की धारणा ही वहां पर मूर्तिमान् है, वारम्बार एक ही विचार—एक नही अनेक, एक नही अनेक। एक कब आता और चला जाता है, पर समूह सदा की तरह झलकता रहता है। उसके सामने 'मैं' और अपना स्वार्थ सिर उठाने मे संकोच करता है। रवि सोचने लगा—वह कल नौकरी पर जाने के लिए आया है। सोचते भी बोझ लगता है, कि वह अपने आपको बांधने आया है, बेचने आया है। उदार देश-प्रेम के कारण नही, पेट के लिए।

उसे अपने पिता याद आये। पत्थर के दांत हैं उनके मुँह में। दृष्टि और भगिमा की गति से नीति और नियम की नपी-तुली छटा। पहले ही अन्दाज़ हो जाता है कि किस बात का क्या फल होगा। किस खबर पर क्या प्रतिक्रिया होगी। उसने कल्पना में वहाँ कठोरता और क्षमाहीनता देखी। फिर उसे स्नेह-ममता से भी पूरी, प्यार-सहानुभूति की मूर्ति अपनी माँ और गाँव की याद आयी। गालियों के डर से चटशाला जाते समय मन जैसे करुण भाव से पिछड़ जाता, आँखों की रुलाई से मन की रुलाई कई गुना बढ जाती।

बहुत दूर तक पसर जाने के लिए प्रस्तुत होकर आया है यह जीवन। घेरा काटकर उसे दूर से देखा—उसका जीवन ऐसा क्लिष्ट और संकुचित नही होगा, वह अपनी रुचि से काम करेगा, गढ़ेगा, आनन्द प्राप्त करेगा और उसे बांटेगा।

विपिन बैठा है। अब बातचीत बन्द है, सिगरेट भी नही जलायी। उसके कार्य की आलोचना अब रूप बदलकर आयी है गाँव से शहर म, उसे आमने-सामने

बिठाकर दो बातें पूछ रही है। उसका नाम है रवि। गहरे मन में चोट लगी है। वह सोचता है कि ये इसी तरह आलोचना करेंगे। बिलकुल समझेंगे ही नही कि ऑफिस में कितने घण्टे वह काटता है, कितनी मील वह दौड़ा है, लोगों को कितने प्रकार से समझाया है, कितने कागज़ रगड़े हैं, कितनी चिट्ठियां आयी और गयी हैं।

बस, फल क्या हुआ, यही नाप-तौलकर देखेंगे—निर्दय जनता केवल फल देखती है, कारण नही। पर जनता की धारणा ग़लत हो—उसका मन यह नही मानता। उलटा सोचता है—जनता ठीक कहती है।

विपिन ने स्वयं अपने अयुक्त मित्र के साथ तुलना कर देखा। मन ही मन जैसे कहीं टूट गया।...कोई जंजाल नही, नौकरी की नही, शादी रचायी नही, जो दो बन्धन हाथी को भी क़ाबू में कर लेते हैं वे उसके पास नही। कितना मज़े का होगा उसका जीवन।

और खुद, विपिन! इसी में कितना उलझा-पुलझा है। घर पर दो बच्चे। स्त्री। अब नौकरी मामूली ज़रूरत ही नही, उसका आधार है। समाज में संस्थिति के लिए एकमात्र आधार। योजना चाहे कच्ची हो चाहे पक्की, उसका काम है आँख मूंद आज्ञा मानकर सुख-शान्ति से नौकरी करना। वह इसकी आलोचना नही कर सकता। अँधेरे में अपना बायाँ होंठ चबाते हुए उसने अपने आप को सान्त्वना दी—"घर मे दो मुट्ठी न अन्न होता, न ज़मीन या जीविका, फिर मेरी तरह बहन के ब्याह का कर्ज़ भी उतारना होता, स्त्री का पेट भरना, बच्चों का दूध लाना—इनकी चिन्ता भी होती, सुबह आँख खुलते ही तो पता चल जाता कि विचारों की धारा कौन-सी राह पकड़ती है—"

और फिर उसने इतना-भर कहा, "आओ, रवि, सोया जाये।"

रवि बोला, "तुम्हारी योजना की बातें सोच रहा था।"

जम्हाई लेकर विपिन ने कहा, "मैं घर की बावत सोच रहा था। देखो, मैं यहाँ, वे सब वहाँ, माँ और बापू के लिए ही सबको तो गाँव में रहना पड़ता है, चिट्ठी आयी थी कि छुटके को हरे-पतले दस्त लगे हैं।"

रवि कहने लगा, "हाँ, चिन्ता होती ही है। छुट्टी लेकर घर क्यों नही जाते?"

"छोड़ो।" गहरी साँस फेंकते हुए विपिन बोला।

"पहले तुम घर की बात समझो विपिन! बच्चा बीमार है, यहाँ तुम्हारा मन कैसे मानेगा? तुम कल ही छुट्टी लेकर घर जाओ।"

"कल कोई आनेवाले हैं। परिदर्शकों का आजकल कुछ अधिक ज़ोर है।"

अरखितिया खाट के पास फोल्डिंग खाट पर बिस्तर लगा चुका था। घर की रोशनी कम की गयी, किवाड़ भिड़काये गये। बिस्तर लगे। अन्धकार। विपिन ने कहा, "ब्याह करने को तुम्हारा मन नही करता? क्यों रवि, कहीं कोई बात

राटोमटाल

पक्की हुई ?"

रवि ने कहा, "धत्, फिर विवाह ! आ बैल मुझे मार ! और क्या ?"

"बैल तो मारेगा ही। और तनिक प्रतीक्षा करो।"

"ठीक है, तब देखेंगे; सो जाओ।"

"नहीं, केवल सोने से ही नहीं होगा। ध्यान करो। मन को भाये ऐसा एक बैल। इच्छानुसार मन ही मन पुकारो। वह दिखाई देगा। समझे चन्द्रभानु, नींद नष्ट न करो।"

रवि ने मुँह मोड़ लिया। किन्तु प्रस्ताव उसने ग्रहण कर लिया था। वह सपने में किसे देखेगा ? अनजाने ही नींद घिरी आ रही थी।

ये बन्दर भी बिलकुल आदमी की तरह हैं।

नदी किनारे के उस पार कछार को देखते हुए इस पुरानी बात को ही घुमा-फिराकर छवि सोच रही है।

कछार में रघुनाथ जोगी का कुलथी का खेत है। नाथ गया होगा केन्देरा[1] बजाकर भीख माँगने, चरते हुए गाय-भैंसों के मुँह से जो बचा होगा, बन्दरों का झुण्ड बैठकर उसका सफ़ाया करने में लगा है। रघुनाथ जोगी को भीख पाने की आशा है, कुलथी की उम्मीद कतई नहीं।

लगता है, जैसे आदमियों का दल पिल पड़ा। उखाड़कर दाने छुड़ाते और खाते जाते हैं। कई बार इधर-उधर झांक लेते हैं, पर मुँह बराबर चल रहा है। छोटी-छोटी मुट्ठियों में भरते हैं और मुँह में डालते जाते हैं।

किनारे-किनारे होते हुए पाँच-सात अहीर गुज़रे। तड़के ही गये थे शहर की ओर। लौट रहे हैं इस बेला। बहँगी में खाली मटकियाँ झूल रही हैं।

सर-सर वे लोग चले गये किनारे-किनारे। बन्दरों को धुड़का तक नहीं किसी ने।

छवि देखती रही। बन्दरों का भोज चल रहा है। लोट-पोट, भागम-भाग, दौड़ा-दौड़ी। चटोरा मुँह। बन्दर के बच्चे भी, मन करता है तो, कुलथी का पौधा उखाड़कर फेंक देते हैं। दो सखियाँ कन्धे पर हाथ रख ऊँचाई से लुढ़क गयीं। पता नहीं क्या बात चल रही है। दो बुढ़ियाँ किनारे पर बैठ गयीं। एक दूसरे के सिर में हाथ डालकर जूँएँ मार रही हैं। दो छोकरियों का झगड़ा देख दाँत किटकिटाती आ रही हैं एक अधेड़। कितने सुन्दर सफ़ेद चमकते हुए दाँत

[1]. केन्देरा—सारंगी की तरह का एक वाद्यन्त्र।

हैं उसके।

इन सबको तो कही उसने देखा है।

छवि देखती रही, मानो कुछ खोज रही है, कुछ हो तो नही रहा। बन्दरों के झुण्ड से दृष्टि फिसलकर उस कछार पर गयी। महादेव का सांड डकार रहा है। आगे गायों का झुण्ड गुजर गया, धूल उडाता। खजन सांड की पीठ पर बैठी चोंच मार रही है, कुरेद रही है। महादेव का सांड़ सिर हिलाता है और बार-बार गरदन मरोड़ता सीग झुकाये भाग रहा है। पर होगा क्या। हार गया, बूढा सांड ठहरा। इस बार शायद उसी छोटे सांड से मुठभेड होगी। कितनी बार पूंछ उठाकर भागा है, और उसी के पास से लहू-लुहान हो लँगडाता-लँगडाता लौटा है।

छोटे सांड़ की कितनी मोटी गरदन है! हिलते ही मांस लहरा जाता है। फुंफकारते हुए काले स्याह नथुने और निडर आँखें। आँखो मे कितनी उद्दण्डता दिखाई पडती है।

बाड़ी मे खसखसाहट सुनाई पड़ी। अण्डी के बाडे की फांक से झांककर छवि ने देखा। कही कुछ भी तो नही है उधर। सिर के ऊपर से धडाम से कुछ गया। छवि चौक पड़ी। नारियल से तोड़ा गया डाभ था। बाड़ी मे धूम-धड़ाम होने लगी। टट्टर सरकाकर वह अन्दर गयी। छवि देखती है कि उसकी बाडी मे भी बन्दरो का दल घुस आया है। टिमटिमाती आँखो से उसे घूर रही है बूढी बन्दरिया। बैंगन मे मुँह मारे चबा रही है। पूंछ पसारे बैठे हुए सब बन्दर यही काम कर रहे हैं। पौधों को खीचकर, तोडकर, बच्चे से बूढ़े तक सभी ध्वसलीला मे लगे हुए हैं। आव देखा न ताव, छवि 'खा गये, खा गये' चिल्लाती पत्थर फेंकने लगी। एक के बाद एक। उन्होंने भी कोई परवाह नही की। थोड़ा सिर झुका-कर बार बचा लेते, और पत्थर सांय-सांय करता निकल जाता। अब तो और भी गुस्से भरकर छवि ने बड़ा-सा ढेला उठाया और कसकर फेंका, पत्थर धम से जा टकराया एक बन्दर से, और साथ ही सुनाई दी एक व्याकुल कें-के। बन्दरिया की किचिर-मिचिर मची, मानो ज़ोरों से गाली-गलौज कर रही हो। बच्चा उसकी पीठ पीछे आश्रय पा गया है। अबकी बार छवि ने देखा, सामने कई सफ़ेद चम-चमाते दांतो की पंक्तियाँ उसकी ओर किटकिटा रही हैं। उधर बैंगन की क्यारी चरमरा उठी है। 'हूम' के साथ धडाम से गिरा और 'खों-खो' करता आ गया एक कटखना बन्दर।

छवि घूम पड़ी और एक ही सांस में जी-जान लेकर भाग पडी। पीछे-पीछे वीर हनुमान्। मन में बस एक ही चेतना थी—आया...आया...पकड़ा... पकड़ा...खाया...ये लहू-लूहान...नोच-खसोट...हूं-हूं...खों-खों! ऊँची घास, कँटीले पौधों—बेल—ऊँची-नीची, टेढी-मेढ़ी ज़मीन पारकर दौड रही है छवि।

क्या कुछ चीख रही है—होश ही नहीं। आगे गड्ढे मे पछाड़ खाकर गिर पड़ी। चिल्लाती रही—"ई लो-ई लो-ई लो..."

मुखिया बन्दर का क्रोध कम नही हुआ था, लपकता-सा आ रहा है, काले-काले चेहरे पर सफेद दन्तावली। वह किटिकटा रहा है। "ई लो-ई लो-ई लो—" और छवि की आँखो के सामने अँधेरा छा गया। उसने आँखें मूँद ली।

इसी बीच 'मारो-मारो-मारो' की आवाज़ गूँज गयी कानों मे, और उसके साथ-साथ ढेलों की बौछार। पीछे से बिजली की तरह कोई दौड़ा आ रहा है। अचानक मुटल्ला बन्दर पास के पेड़ पर चढ गया, फिर ऊँचे नारियल के झुरमुट में ओझल हो गया। छवि ने करवट लेकर गरदन घुमायी, वहाँ कोई बन्दर न था। मनुष्य था।

उसके चेहरे पर सहानुभूति झलक रही थी।

छवि के चेहरे और आँखों मे मानो सचमुच फूल खिल आये हों। कितना कुछ कहना चाहती है वे मौन आँखें। पर केवल इतना ही नही। सारी देह में फैल गयी है एक सरसराती सिहरन-भरी पुलक, फिर देह मे तपिश-सी भर उठती है, हलका-सा कम्पन जैसा महसूस हो रहा है। छवि उस नये व्यक्ति की खोजती-पूछती-सी निगाहों मे अपनी नजर डालकर अपने आप को भूल-सी गयी।

जान न पहचान। समय जैसे जमकर अधर में लटक गया था।

छाया ढल चुकी थी। ऊँचा-नीचा सब्ज़ झुरमुट।

यहाँ-वहाँ अकेला-दुकेला झाड़ और उसकी भाँति-भाँति की छायाएं, लम्बी, पसरी हुई। पेड़ के तने से कुजलता घनी होकर लिपटी, उसमें अकेले-दुकेले लाल फूल। झुरमुटो के साये मे कोइलिखिया झाड़ियों के नीले फूल। उधर बाड पर लदी सेम के ऊपर से झांक रहे है गुच्छे के गुच्छे लम्बे अरहर के पौधे। फूलों से लदे। घर की छाजन के सिरे पर घीया और कद्दू, जिनमे फूल आये हुए हैं, कुछ फल भी झूल रहे है।

सामने वह अकेला व्यक्ति।

पिछवाडे छाजन की ऊँचाई में नदी का लम्बा किनारा— ऊपर अपरिमित आकाश। पीठ पीछे अमराई, उससे हटकर जगल, बाँस के झुरमुटों से साँय-साँय की आवाज सुनाई दे रही है, सतभैया मैना की धीमी बातों के बीच खजन के जोड़े की आवाजें आ रही हैं। समय का एक मामूली टुकड़ा, पाँच-सात बार भी पलकें झपकी होगी या नही। छवि को मन ही मन लग रही थी—एक निश्चिन्त निर्भरशीलता के भीतर एक तृप्ति। बीजों-भरी घास की महक, कहीं-कहीं तेल की तरह झिलमिलाहट तो कही छाया से घिरे रूप की चमक। सभी जगह उसी तृप्ति का रूप फैला था।

वह क्षण बीत गया। छवि अचानक अपनी स्थिति के प्रति सचेत हो गयी।

लहँगा पहने है, जिसमें खोंच पड़ गये है, पैर मुड़ने के कारण वह झुरमुट में लुढ़क गयी है। किसी ठूँठ से टखने में खरोंच आ गयी है, खून अब भी रिस रहा है। कौन है यह अनचीन्हा युवक, सफ़ेद धोती-कमीज पहने झुका हुआ है उसके पैर के ऊपर ?

बिजली की लहर जैसे फैल रही है। कान-गात लाल पड़ते जा रहे है, आँखें भी मुँद गयी है। वह शायद कुछ पूछ रहा है, सब गड्मड्। कुछ भी तो दिमाग में नही आता। अपनी धोती की चुन्नट को दाँतों से पकड़ा और फट से चीर डाला, धीरे से पैर को टेककर रखा और सिर पर पट्टी बाँध दी हलके से। छवि जी-जान से अपनी थरथराहट को वश में करने के लिए साँस रोके निढाल पड़ी रही, मन ही मन कह रही है, वह मर चुकी है, तलुओं की ओर से मर चुकी है।

"दर्द बहुत हो रहा है क्या ?"

स्वर मे वही सवेदना। छवि कोई उत्तर नहीं दे पायी। सिर नीचा किये लँग-ड़ाती-लँगड़ाती घर की ओर चल दी।

वह अनजान युवक भी अपनी राह पकड़ने के लिए किनारे की ओर मुड़ गया। पर जल्दी-जल्दी नहीं, कुछ सोच-विचार में खोया-खोया-सा चल रहा है।

पीछे से सुनाई पड़ा, "वो कौन गया रे छवि ?"

'छवि' नाम तो सुन्दर है। गाँव की माटी का ताजा फूल ! भय से चेहरा कुछ मुरझा गया था, अब चमकने लगा हो। उमर यही कोई सोलह या अठारह। डील-डौल उभरा हुआ, काम-धाम स्वयं करती होगी। केवल खाकर सो पड़ने-वाली नही लगती। उसने होश सँभाला तब से कभी ऐसा नही घटा, मन को किसी महक ने थोड़ा छू लिया है।

वह अपरिचित किनारे की ढलान मे उतरा। मुड़कर नारियल के पेड़ की ओर देखा। जाने से पहले उस मोटे बन्दर को फिर एक बार देखने का मन हो रहा है। वो-वो कहाँ है, उस फुनगी के नीचे। पेड़ को कसकर पकड़े हुए उधर ही किचकिचाकर देख रहा है। हँसी आ गयी। इधर से जाते समय याद रहेगा।

छोड़ो, अब और क्यों ? सामने घने नीले आकाश की ओर दृष्टि फेरी और कदम आगे बढाया। फिर भी चाल धीमी, मानो कही कुछ उलझ गया है, मन में कहीं कोई अनजाना दर्द।

सोचने की फ़ुरसत नही। आगे चलना है, आगे। परन्तु सामनेवाले पिछवाड़े मे बाड़ी की ओर से आकर किसी प्रौढ़ा ने कहा, "अरे ओ, सुनो, जाना नही।"

गम्भीर, शान्त स्वर। वह चौंका। लगा कि छाती मे कुछ जैसे दबा जा रहा है। मानो उससे कुछ अनुचित हो गया हो, जो उसे नही करना था। खैर !

"बाबू, कौन हो ? घर कहाँ है ?"

"मुझे रवि कहते हैं।"

घूंघट खिंच आया। सिर गोल दिखाई पड़ रहा है। नाक पर दण्डि[1] और गोल चेहरे का कुछ भाग दिखाई पड़ रहा था। उतनी गोरी नहीं। मोटी साड़ी से सारी देह ढँकी है। कहने लगी, "आज तुम न आते तो यह सत्यानासी कटखना बन्दर मेरी बेटी की क्या दशा कर देता! बेटे! किसके लड़के हो? तुम्हारा गाँव?"

"मेरा घर बन्धमूल है। मैं बट महान्ती का बेटा हूँ, काम से शहर गया था, घर लौट रहा हूँ। रास्ते में ऐसी घटना देखी, अपने को रोक न पाया। देखा कि न जाऊँ तो यह काट खायेगा। बन्दर के काटने पर घाव विषैला भी हो जाया करता है।"

"बहुत अच्छा किया! भला हो। भगवान् चिरजीवी करे तुझे बेटे! हैं, तुम बट महान्ती के बेटे हो और हमसे ही...अरे उनसे तो हमारा पुराना नाता है। अब वह ज़माना थोड़े ही रह गया। कौन किसे जानता-पहचानता है आजकल? तुम तो लडके हो, कैसे किसीको चीन्होगे? आओ, घर में तो आओ, बेटे! नहीं मत करना, आओ, आओ। पिता बिगड़ें तो कह देना, पाटेली गाँववाले चौधरी के घर अटक गया। है, ठीक है तो? आओ बेटे, आओ!"

रवि उसके पीछे-पीछे हो लिया। कहा, "देर न हो जाये इसीलिए कह रहा था कि..."

"हाँss, रास्ता तीन कोस भी शायद ही हो। इस जुग में सब दूर लगने लगा। अरे, तुम क्या जानोगे कि बन्धु-कुटुम्बियों के दरवाजे आकर इस तरह नहीं लौटा करते। करते क्या हो? पढ़ते हो?,'

"पढाई पूरी हो गयी।"

"नौकरी-चाकरी?"

"नौकरी नहीं करनी है।"

"करोगे ही क्यों, घर मे क्या कमी है? दूसरों के दरवाज़े सिर बेचते फिरने की क्या ज़रूरत? इधर से आना, कोई काँटा न चुभे। देख क्या रहे हो, बेटे, सब तो टूटा-फूटा है, जरा संभलकर आना। सिर न टकराये। लक्कड़ को जितना उधर धकेलती हूँ, उतना ही यह आगजला इधर रास्ते की ओर सरक आता है। क्या देख रहे हो? नेवला? अरे, ये तो यहाँ रेवड़ के रेवड़ हैं, वो देखो हमारा घर। आगे इसे कहते थे—चौधरियों की हवेली! अब इसे क्या कहोगे?"

पीछे से खिलखिलाहट। झुरमुट के उस ओर तीन नारी मूर्तियाँ खडी हो गयी थीं। तीनों लाल साड़ी, नीली साड़ी और बैंजनी-साड़ी पहने हैं।

नाक और मुंह मे कपड़ा ठूंस लिया है।

---

1. दण्डि—नाक मे पहनने का आभूषण।

"अरी आ जीजी, जल्दी चल काम निपटा दे, देख उधर छवि की माँ किसे बाँधे लिये जा रही है। अरी, देख तो सही, यह तो अपूरब है, कलजुग की वात। देख, आ, दौड़कर आ—"

चौधरी की फूटी हवेली के अन्दर जाते समय रवि का सिर छाजन के किसी कुन्दे से नही टकराया, किन्तु आखिरी वातें चुभ-सी गयी थी। सिर मे कुनमुना रही थी, धीरे से जम रही थी। पसीने की गरम-गरम बूँदें बहने लगी।

अन्दर पैर रखकर रवि ने चारों ओर दृष्टि घुमायी। कितना बड़ा मकान। पर सब ख़ाली, कुल कितने कमरे! उस फाँक मे से साफ दिखाई पड़ रहा है— चकवड़ और घास के घेरे में रग-विरगे छींट की तरह के फूलो का जगल उगकर जगह-जगह ऊँचा-नीचा हो गया है। चारों ओर ऊँची दीवार खिंची थी, साफ़-साफ़ पता चलता है कि झुरमुटों मे वह ऊँची-नीची होती हुई टीलों तथा गड्ढों के रूप में झखाड के नीचे सोयी है। जगह-जगह घनी घास, तराट, मधुमालती, कनेर इत्यादि के पेड भरे हुए है। टूटने-फूटने के बाद भी दीवार के टुकडे जगह-जगह अब भी दिखाई पड रहे है। कंकड और ठिकरियों की मिट्टी मिला बेल के गोंद मे पगाकर बैल के पैरों तले रौंदी गयी ओडिया रीति से किसी जमाने में यह दीवार तैयार की गयी होगी। ऐसी दीवार जो सैकडों वर्ष विता सके। पर समय तो सौ वर्ष से भी बड़ा है, दो सौ से भी।

लम्बे-लम्बे पेड़, अन्दर भी और वाहर भी। नीचे झाड़-झखाड़। टूटे-फूटे कमरों के खँडहरों का ढूह, इधर-उधर कही ऊँचा-नीचा आँगन। धराशायी खूँटे और धँस गयी सीढियों के पत्थर। इन्ही में कुछ कोठरियाँ। मनुष्यों की भीड़-भाड जरा भी नही। केवल खोये हुए समय की ज़रा-सी झलक सब्ज घेरे के वीच किसी तरह रह गयी है। अन्दर जाने पर सब कुछ प्रकट हो जाता है।

रास्ते मे एक जगह दीमक खायी चौखट मिट्टी मे दबकर टेढ़ी हो गयी है। काठ के टुकड़े को देखने पर अब भी उसपर की गयी सूक्ष्म कारीगरी पढी जा सकती है। पत्थर और मिट्टी के ढेर मे एक जगह बड़ी गोल काठ की जाली है। काले चमचमाते काठ के टुकडे पर वारीक काम। रवि ने पास जाकर देखा। काठ की जाली में एक बड़ा-सा कमल बनाया गया है, पखुड़ियों की फांक में और कई छवियाँ—लता, चिड़ियाँ, फूल-पत्तियाँ। और कही ऊपर उठा दिख रहा है काठ की जाली का पहिया, उसपर घनी वेल पसरी है। कांसनी फूल खिला है। ऐसा कि किसी प्रदर्शनी में स्थान पा जाये।

रवि को उधर उलझा देख छवि की माँ ने आवाज़ दी, "ये सब उस जमाने

के जाली-झरोखे हैं, तुम्हारे यहाँ भी होंगे ? ऐसे कितने ही छितराये पड़े हैं, कौन सहेजकर रखे ?"

उसने आगे कहा, "मुझे पता है, दस घर थे। इससे पहले और भी कितने होंगे। अब कहाँ ? धूल-माटी के घर। काठ की सीढ़ी, काठ की वल्ली, जहाँ भी देखोगे काठ का कोई रूप आँका हुआ है। वैसा ही झरोखे में, किवाड़ों पर भी...

"कहीं दशावतार आँके गये हैं। एकदम साक्षात्। सजीव। किसी पर राम-रावण युद्ध, कहीं महाभारत का युद्ध। इतनी सुन्दर कारीगरी थी उनके हाथों में! दीपदान देखो, कितनी सुन्दर औरत है, और उसके सिर पर दीपक, हलदी की काठदानी पर भी कैसा रूप आँका है! कितना कुछ गल-सड़कर खाद हो गया, अब इन सबको देखकर क्या होगा ? आदमी तो तितर-बितर हो गये, घरों को कौन पूछता है !"

उनके कहने की भंगिमा में थी, उदास आन्तरिकता। रवि का मन हिल उठा। घर-द्वार। घनी झाड़ियाँ। जगह-जगह घास-फूस उग आया है छाती तक ऊँचा। चलते-चलते वह सुन रहा है, मच्छर भी भन्न-भन्न करने लगे हैं।

सब कुछ कैसा अस्वाभाविक-सा लग रहा है। यह समय, यह स्त्री—कैसी अनुभूति है इस जीवन में जहाँ इतनी क्लान्ति, इतनी उदासीनता साधारण बात-चीत में भी टपक रही है।

देखे बिना भी यह अनुमान कर पा रहा है कि दो क़दम आगे जाकर वह क्या देखेगा। हो सकता है—एक कतार में छोटे-छोटे कमरे, छप्पर पर कुम्हड़े और लौकी, दरवाज़े के पास पुराना सहिजन का पेड़, सामने की छपरी पर सूखती हुई अधमरी पोई की बेल, सन्तरा और केले का कुंज। उसके बीच टूटी मुँडेरवाला कुआँ, कुछ हटकर आधी भरी पोखरी, बाँस के झुरमुट और केवड़े के पौधों का झाड़। अमराई में बूढ़े आम के पेड़, जिनमें कभी फल लगते नहीं, और लगते हैं किसी साल तो बस छोटे-छोटे टिकोरे। बूढ़े नारियल के पेड़ भी अनेक हैं, जहाँ चील, अबाबील और बन्दरों के रहने की जगह-भर है। कभी नारियल फलते हैं तो भूत खा जाते हैं। लगता है, देश-भर में ख़ानदानी घरों की हालत ऐसी ही होगी, जिनका नाम-भर रह गया, और कुछ बचा नहीं। मन्दिर होंगे तो वहाँ मिलेंगे कबूतरों के झुण्ड, चमगादड़, गोलमुँहे उल्लू...। इन खँडहरों के ये ही निवासी हैं। उनकी बीट की तीव्र गन्ध ही पुराने आभिजात्य की देह की गन्ध है। इस कोने में पुराने जीव-जन्तु होंगे ! मोटा नाग, गोखर, धामन, बूढ़ा गोह। और यहाँ कोई अलिखित किंवदन्ती होगी, कि कहीं सोना गड़ा हुआ है और यक्ष उसकी रखवाली करता है। अँधेरी रात में उजाला करता वह घूमता है, कोई भूतनी चीखकर रोती सुनाई पड़ती है कई बार। लोगों का कहना है कि वह कोई भटकती आत्मा है जो मोक्ष नहीं पा सकी। ऐसे ही कितने भूत-प्रेतों की

बातें बिखरी होंगी। सब कुछ तो अनुमान किया जा सकता है। अँधेरी रात में जुगनू बैठकर सफेद तराट फूल की तरह झिलमिलाते हैं, या निःशब्द चाँदनी रात में टूटी दीवार के उस ओर पुराने आम पर उल्लू चीखता-पुकारता होगा—किसी सोये अतीत को जगाने के लिए। उसकी कल्पना में यह सारी चौधरी की हवेली तैर रही थी। झालरदार कामझाम। मगरमुँही पालकी, उसपर बनौती कपड़ा, मखमली तकिया, पलग, मोरपख का पखा, पॉलिशदार चाँदी का दर्पण। कहाँ ये ये सब, अब किधर गये? झुण्ड के झुण्ड दास-दासियाँ, नौकर-चाकर, फरमाबरदार-ताबेदारों का समूह, कहाँ गये वे सब? इस रगीन फूल के रगवाली रेशमी साड़ियाँ,—रग-बिरंगी, सोने की जरी और रुपहली जरी की कामदार साड़ियाँ—कहाँ छुप गयी वे रेशमी चीज़े?

भरे-पूरे घर-भण्डार, धान के कोठे, सैकड़ों गाय-बैल, बीसियों काम करनेवाले, कितने ही हाज़िरी बजानेवाले, बेशुमार चहचहाती चिड़ियाँ, कबूतर—जो समृद्धि की गन्ध पाकर जान लेते है। फिर चूहे-बिल्ली। जिधर देखो, कुलबुलाकर व्यस्तता-चचलता दिखा रहे हैं। बारह भाइयों का कुटुम्ब एक साथ। उसी में कोई माथे पर लम्बा तिलक, देह पर रामनामी डाले, सारे शरीर पर छापा-तिलक-लगाये, पलथी मार व्यासासन पर बैठे। कोई वृद्ध ताडपत्र के ऊपर मग्न मन से लेखनी की नोंक चला रहे हैं, जिनके बारे में कहा गया है—'भग्नपृष्ठकटिग्रीवा तुल्यदृष्टिः अधोमुखः। दुःखेन लिखित ग्रन्थ पुत्रवत् परिपालयेत्'।

किसी ने कुछ लिखा था? कब? लगता है, कुछ लिखा होगा। माटी पर कदम धरते समय सब याद आता जा रहा है। ऐसा ही तो है सब जगह, सब घरों में। यह सारा उडीसा ही तो ऐसा है, और यह तो उस जमाने की हवेली है।

कितना कुछ वे लिख गये। कितनों ने पढा, कितनों ने भोग-विलास किया। जिसने जो किया सो तो किया, फिर जाते समय ऐसा कर गये कि इस हवेली से घास-चकवड उखाड़नेवाला भी कोई न रहा!

फिर भी कोई बात नहीं। घास का भी तो अन्त है, कण्टकारी, चकवड़, चौलाई, रंगन, चाव, शिखालु आदि की दीवार लाँघकर छवि की माँ ने रवि को जहाँ ले जाकर खड़ा किया, वहाँ आँगन में घास का तिनका भी न था। गोबर से लिपा-पुता साफ़-सुथरा घर। बीच मे पत्थर पर एक जगह सुन्दर शिल्पकला से पूर्ण तीन हाथ ऊँचा मन्दिर, लाल-काले पत्थर से बना। वहीं पास ही घना वृन्दावती का पौधा था।

उसके पीछे तीन बखरी की लम्बी कतार। आड़ी तरफ दो छप्पर, रसोई और ढेंकीशाला। नदी के किनारे की ओर पीठ किये मिट्टी पर छप्पर के तीन

घर बने हैं। सुन्दर पत्थरों का चबूतरा, पत्थरों की ही सीढ़ियाँ, उन पत्थरों में भी जगह-जगह कारीगरी, मानो कलापूर्ण किसी खंडहर या मन्दिर के पत्थरों को लाकर यहाँ सजा दिया गया है। चबूतरे के नीचे दो-चार मिर्चों की पौध लगा दी गयी है, सूरजमुखी के मोटे-मोटे फूल ऊपर की ओर मुँह उठाये हैं। पूरब की ओर एक छोटा-सा केलों का कुंज जिसमें पाँच-सात पौधे होंगे, एक-दो में केले झूल भी रहे हैं। पश्चिम की ओर दो ऊँचे सहिजन। मोटा तना। चारों ओर टहनियाँ पसारे है। मानो कोई छाता उलट गया हो। उसके उस ओर दूसरे घर की छप्पर है।

रवि को लगा, इस घर के दरवाजे से कोई अन्दर तेजी से चला गया। पैर पर सफ़ेद कपड़े की पट्टी बँधी है। कपड़े की पट्टी नहीं, मानो दस्तख़त हैं ये तो। चकित-चकित-सी दो चंचल आँखें। वे आँखें हँस भी रही थी या नहीं ? रवि के मन में एक नयी समस्या थी। तुरई फूल के रंगवाले वे हाथ-पैर बिजली की तरह चमककर, लहराकर क्षण-भर में अँधेरे में कहीं छुप गये। उसके साथ अँजुरी-भर हँसी भी बिखरी थी या नहीं ?

सहिजन के नीचे जाकर छवि की माँ उधर के झुरमुट की ओर लक्ष्य कर ऊँची आवाज़ में बोली, "गुरु की माँ, अरी ओ...!" और उसके साथ घास के झुण्ड के उस ओर से आवाज़ आयी, "हाँ—जी !" एक नंगा लड़का, होगा कोई आठ-नौ साल का, दौड़ता आया। साथ में एक कुत्ता भी है। अपरिचित को देखकर 'भालू' भौंकता हुआ दो-चार कदम पीछे हट गया, भौंकने के बाद गरदन आगे कर नथुने फड़काता हुआ रवि के चारों ओर घूम गया। कभी एक कदम आगे तो कभी दो कदम पीछे हटता हुआ वह गुर्राने लगा, मानो उसका सारा अभियोग निराशा में करुण होकर फूट रहा है। या यही उसका चरम आर्तनाद है, फिर उसका नश्वर मरणशील पिण्ड उसकी इस प्रिय धरती पर टें कर देगा। नंगा बच्चा उसका सिर सहलाते हुए, पीठ पर सवार हो गया। भालू कुछ हटकर बैठ गया और बीच-बीच में अपना अभियोग दुहराने लगा, मानो कोई कितना ही समझाये पर उसका मन मानता ही नहीं कि कोई बाहरी आदमी चौधरी की हवेली में कुंज की तरफ़ से घुस आये। वह भी उसके जीते जी।

"हमारे जेठ का पोता है।" छवि की माँ ने बताया, "जिद्दी इतना है यह छोकरा कि कितना ही पहनाओ, तन पर एक भी कपड़ा नहीं रहने देगा। इधर जाकर चटशाला में बैठने लगा है ...जा, पैण्ट पहन आ।...जा...आ..."

"ऊँ—ऊँ—कहाँ है मेरा कपड़ा ?"

"है तो, अरे जा पहन आ !"

"हाँ, बच्चा ही तो है, कपड़े नहीं पहने तो न सही, क्या हुआ ?" रवि ने कहा।

"हूँ ! पगला !" छवि की माँ ने बताया, "चार के मरने के बाद यह एक बचा ! बस यमराज की जूठन समझो !"

तभी आ पहुँची कोई जीर्ण-शीर्ण स्त्री। गुरु कुत्ते को छोड़कर छलाँग मार-कर कहने लगा, "माँ, माँ, यह देख !"

नाक के नीचे तक पल्लू से ढँककर महिला ने पूछा, "कौन?"

"अरे, गुरु की माँ, आ तो सही, किससे लजा रही हो? ये तो बन्धमूल वाले बट महान्ती के लड़के है, हमारे पुराने बन्धु-कुटुम्बियों में है।"

"अजीब बात है !" धीमी आवाज मे कहती हुई खड़ी रह गयी गुरु की माँ —"अरे काकी, अजब है, ये कहाँ से मिल गये तुम्हे ? फिर ये तो हमारे हँसी-मजाक के नातेवाले लोग हैं। तुमने कुछ हँसी-मजाक किया या नही?"

चेहरा घूंघट मे कही छुप गया है। चमड़ी को ढँके एक मैली-सी साड़ी बाँस पर खोल की तरह झूल रही है। नगा गुरु उस महिला के पैर पर झुक गया। ची-ची सुनाई पडी। मिट्टी कुरेदती हुई गुरु की माँ कहने लगी, "न कोई दिन है, न समय, एकाएक ये मेहमान कहाँ टपक पड़े? या कोई सपना देखा है? पैर धोने के लिए पानी का लोटा तो दो इन्हें। बैठने के लिए आसन भी नही दिया ! क्या पहुनाई करोगी?"

छवि की माँ ने कहा, "छिः, अरे लड़के मे भी ठट्ठा करती हो?"

गुरु की माँ ने तपाक से कहा—"लड़का ! *ब्याह होता तो सात बच्चों के* बाप हो जाते। क्यों पाहुन जी?"

बरामदे में चटाई आ गयी। रवि बैठ गया उसपर। गुरु की माँ ने आवाज दी, "अरे छवि, पान की डलिया तो बढा देना।" घर से निकले बिना, पलक झपकते ही गोरा-सा हाथ सामने कर छवि ने डलिया पकड़ा दी और फिर वह अपने हाथ के साथ अन्धकार मे मिल गयी। छवि की माँ ने सरौता लेकर खटर-खटर करना शुरू किया। जुबान चलने लगी, "चौधरी तो गये हैं चटशाला, आते ही होंगे। धूप हो या बरखा या शीत, चटशाला लगेगी ही लगेगी। बच्चे तो चीटियों की धार की तरह लगे होंगे। चटशाला के गुरु का काम, जिनका है वह उन्ही को शोभा देता है। वे तो कहते हैं—'यह बहुत बड़ा काम है, पूर्व जनम का पुण्य फल होने से ही आदमी विद्या दान कर सकता है।' उनके तो बहुत पुण्य फल है न ! तभी जमीदारी गयी। घर टूटा। पहले बड़ी नौकरी की थी बिदेस मे. रजवाड़े मे, वह भी गयी। बस अन्त मे खाली रह गया यह नाम और एक चट-शाला।"

"और दो चीजें छोड़ गयी काकी !" गुरु को माँ ने मज़ाक किया। बोली, "एक तो उनका चरखा, और दूसरा एकमात्र कन्यारत्न।"

घर के अन्दर धप् से कोई गया। गुरु की माँ ने आवाज दी, "अरी, देखना

काकी, उस घर में बिल्ली गयी क्या ?"

छवि की माँ ने कह दिया, "जाकर तू ही देख आ न !"

रवि का ध्यान अपनी परिस्थिति की ओर चला गया। न कभी भेंट, न देखा-देखी, पर कोई उससे मनमानी ठट्ठा किये जा रहा है, और दूसरे की स्थिर सहानुभूति मिल रही है, पर दोनों में ही सहज आन्तरिकता।

छवि की माँ समझा रही है, "सरदेईपुर तो जानते हो ? वहीं गुरु की माँ की पीहर है। चेम उसके चचेरे भाई हैं। सेटलमेण्ट में अमीन का काम करते हैं। तुम तो जानते होगे।"

रवि ने स्मृति पर जोर डाला, चेम सेटलमेण्ट में अमीन, वहाँ कहीं भी तो यह बात लिखी नहीं मिली।

आदमी के सम्पर्क की कहानी अटूट है। यह सोच वह कुछ याद भी करने लगा।

छवि की माँ ने बताया—"दो पीढ़ी छूट गये तो क्या हुआ ? एक ही खून तो है। फिर एक ही परिवार। चेम उसे इतना मानते है कि कोई देखे तो लगेगा जैसे सगी माँ-जायी बहन हो। अब न बूढ़े हो गये..."

"ऐं बूढ़े क्या, कोई बैंगन या भिण्डी है मेरे भैया ?...कहती है...बूढ़े ?" गुरु की माँ ने टोक दिया।

"अरे तुम्हारे भाई को लेकर कोई भाग नहीं रहा, ऐसी क्यों हुई जा रही हो ! हाँ, तो चेम की ससुराल चन्दूरी गाँव है, वहाँ तुम्हारी माँ की बुआ का गाँव है, तुम्हारी माँ के फूफा और चेम के ससुर चचेरे भाई हैं। एक ही परिवार है। तभी गुरु की माँ तुम्हें अपने भाई का साला मान रही है। और बात यहीं पूरी नहीं होती। तुम्हारे बाप की मौसी का घर मेरे बाप के परिवार में ही है। मैं तब छोटी थी, तुम्हारे बापू हमारे घर आया-जाया करते थे। मैंने खुद देखा है। बन्धु-कुटुम्ब का हिसाब करने बैठो तो डोर लम्बी खिंच जायेगी, सब गुंथा-सुथा है, जिसे कहते हैं दूब के तार।"

रवि हँस पड़ा।

गुरु की माँ कहने लगी, "कुटुम्ब का तार यहीं थोड़े ही खतम हो गया ? फिर लगाओ तो फिर खिंच जाये, क्या कहते हो पाहुन जी ?"

"रहने भी दो गुरु की माँ !" छवि की माँ ने रोकते हुए कहा, "नाहक लड़के को छेड़े जा रही हो। अब कैसा सम्बन्ध ?"

रवि की छाती धँस-सी गयी। तनिक रुककर छवि की माँ ने बात बढ़ायी, "वे दिन नहीं रहे, अब वह स्नेह कहाँ ! वह युग गया।" गहरी साँस छोड़कर कहती गयी, "तब लोग खोज-खोजकर नाते-गोते का हिसाब लगाते और जोड़ते थे। सौगात, आना-जाना, देन-लेन, मेल-मुलाकात सब चलता ही रहता था।

निमित्त पर्व होते तो सब एकत्र होते। इस जुग में वह सब कहाँ रहा ?"

गुरु की माँ कहने लगी, "अब तो बस ख़ाली अपनी बात, और किसी की बात ही नहीं। यह कलिजुग है न, ख़ाली छल-कपट, स्वारथ। ब्याह के चौथे दिन बूढ़े-बूढ़िया को और बड़े-बड़कों को पीछे छोड़ नयी बहू भी चल पड़ती है दूल्हे के पीछे-पीछे परदेस !"

"छोड़ो—" छवि की माँ ने कहा। उसने एक बार फिर आज की कहानी गुरु की माँ के आगे कह डाली। गुरु की माँ भी मानो पहली बार सुन रही हो; ऐसी दीख रही थी।

छवि की माँ चट से घर के अन्दर गयी। बात करते-करते उसी क्षण थाली में चिउड़ा, दही, गुड़ आदि मिलाकर ले आयी और पास रख दिया। चेतावनी-सी देते हुए कहा, "देखो, इतना तो ख़तम करना ही पड़ेगा।" सामने वे दोनों। अँधेरे में एक ओर। लजाता-लजाता रवि सचमुच पाहुन बन गया।

खाते-खाते उससे उन लोगों ने उसकी रामकहानी भी पूछ ली। पढ़ाई करने से लेकर नियुक्ति पाने तक की। धीरे-धीरे लाज टूटी। घरवालों के सामने बात-चीत करने की तरह वह बखानता गया अपना निर्णय, कुछ तर्क भी। उन्होंने उसके विचारों का समर्थन भी किया। उसे लगा मानो वह किसी नये धर्म का आविष्कार कर उसका प्रचार कर रहा हो, और ये दोनों उसके प्रथम शिष्या हैं। इसी तरह की कुछ आत्मीयता और मन में पुलक का अनुभव हो रहा है।

समर्थन में छवि की माँ ने कहा, "न हुई तो न सही वह नौकरी, तुम्हारा क्या बिगड़ा ? इनकी ही बात लो न, तीन बार नौकरी की और तीनों बार छोड़ दी। नौकरी करने में इधर सारी सम्पत्ति उजड़ गयी। यही मिला न, और क्या किया ?"

गुरु की माँ ने कहा, "मनुष्य का जनम कोई नौकरी के लिए थोड़े हुआ है—किस लिए हुआ है, जानते हो न ?" हँसकर अचानक फिर पूछ बैठी, "शादी-ब्याह किया या—?"

रवि अपने आप से बातें करनेवाले की तरह बोलने लगा, "मैं विवाह नहीं करूँगा।" पर अपने ही कानों को कैसा तो अस्वाभाविक-सा लगा। गुरु की माँ ने पूछा, "ठीक कहते हो पाहुन, तुम ब्याह मत करना। तुमसे पहले तुम्हारे बापू, उनसे पहले उनके बापू, सभी ने एक दिन यही कहा था। खा-पीकर मस्त रहने-वाला जीव व्यर्थ ही क्यों ब्याह करे ?"

छवि की माँ लय-सहित पान कूटते-कूटते बीच में ही कह उठी, "जो जब होना होगा, सो तो होगा ही। लड़के के साथ क्यों झूठ-मूठ इस तरह मुँह फट बन रही हो, गुरु की माँ !"

गुरु की माँ ने कहा, "मुझे लड्डू-पेड़े मिलेंगे—इसलिए। और नहीं तो क्यों

कहती, बता !"

छवि की माँ हँस पड़ी। गुरु की माँ कहने लगी, "समय रहते ब्याह कर लेना। ओ भाई के साले जी ! पीछे फिर दाँत झड़ जायेंगे, सिर की चाँद निकल आयेगी, तब ब्याह रचाओगे तो क्या सुख मिलेगा ?"

सब हँस पड़े। क्या अँधेरे में से भी हँसी सुनाई पड़ी ? हाँ, दबी-दबी-सी हँसी आयी थी। रवि का मन उलझा हुआ था, कान उसी ओर उन शब्दों को पकड़ने में लगे हुए थे। पर अब कहाँ, सब शान्त। बाहर की यह हँसी मानो उसके घर जाने का संकेत हो। वह खड़ा हो गया।

अब की दोनों महिलाओं ने आपत्ति की, "अरे, तुम जाओगे, इस वेला ? क्यों, कोई शत्रु के घर में हो ? आज रात यहीं काटकर कल सुबह ही जाने से क्या नहीं चलेगा ?"

रवि ने इनकार कर दिया। कहा, "घर पर काम है।"

"दण्डवत् ! दण्डवत् ! लम्बी उमर हो ! फिर आना जी भाई के साले ! जान-पहचान न थी, अपने आप डोर जुड़ गयी। पोंछ न देना मन से। माँ से कहियो, 'तुम्हारी कोई समधिन थी जो ऐसा कह रही थी।' प्रणाम...! आते रहा करो बेटा, तुम्हें देखकर ही जी भर जाता है। पर आज तुम आ न जाते तो छवि का क्या होता, पता नहीं। आज उसे भी सबक मिल जाता कि बन्दर के साथ छेड़खानी करने से क्या मजा आता है। अच्छा बेटे, भगवान लम्बी उमर करें तेरी ! हमें न भूल जाना कहीं ! और अपनी माँ से कहना, बड़े-बड़े कौर खाये।...और हाँ, उस बन्दर ने भी बहुत दया की जो तुम्हें यहाँ लाकर भेंट करा दी। कल उसे पेट-भर भोजन दूँगी। अच्छा, फिर आना पाहुन ! भूलना नहीं।"

इसी तरह किनारा पास आने तक बातें होती रहीं। वे पीछे रह गयी। फिर एक बार सारा दृश्य आँखों के आगे फिर गया। नंगा बच्चा माँ से सटकर सब कुछ भूल, पल्लू को चबाने में लगा है। जीर्ण-शीर्ण स्त्री किस तरह रह-रहकर चमक उठती है, मानो कोई दीपशिखा हो। आशा जल रही है वहाँ। दूसरी, छवि की माँ, कितनी धीर, कितनी स्नेही, कितनी भली है।

प्रकाश क्या उसी अँधेरे घर से निकल रहा था ?

केवल एक हलकी-सी सूचना, मानो अपने पास ही कोई कुछ कह रहा हो, एकदम दबे-दबे स्वर में। किन्तु इतना सोचकर ही उसका सारा व्यक्तित्व सिहर उठा। कान लाल हो गये। साँस तेज और गरम। समग्र रूप में जब एक नये बन्धन में उसका व्यक्तित्व उलझ-पुलझ रहा है, उसे लग रहा है—मानो वह मुक्त हो गया हो।

उस घर के अहाते में जाने से पहले आकाश क्या इतना चिकना नीला था ? या घास इतनी घनी थी ?

अत्यन्त स्पष्ट और सहज लगी उसे अपनी निष्पत्ति, उतनी ही निश्चित, जितना कि बाँध का मार्ग। लगा जैसे उसने आत्ममर्यादा और शान्ति का मार्ग खोज लिया हो। शुरू में ही उसे लग रहा है जैसे कि वह विजयी हो गया हो।

चौधरी के घर में बात छिड़ी हुई है। छवि की माँ रवि की प्रशंसा कर रही है। कहते हुए बार-बार याद आ जाता है कि उसे कोई लड़का नहीं है। वही जो पेट छह महीने का हुआ तो फिर पता नहीं क्या हुआ कि पेट में ही मर-सूखकर तीन दिन बाद निकला। गाज गिराकर। यदि वही जनम लेता तो शायद वह इकलौता होता—यह धारणा उसके मन से गयी नहीं। छवि के जनम से भी पाँच बरस पहले की यह बात थी। किन्तु अपनी दुरवस्था याद कराने को, जब कभी भी वही घटना याद आ जाती है—कपड़े झुलाने के लिए अलगनी की तरह वहाँ कई चिन्ताएँ झूलती रहती हैं।

छवि की माँ कहने लगी, "हाँ, कितना सुन्दर चेहरा है, कैसी मीठी बातें करता है, कितना सुन्दर बरताव है, फिर इतना पढ़ा-लिखा भी।"

गुरु की माँ कहने लगी, "हाँ, काकी, सचमुच कितना अच्छा है और फिर कितना सहनशील। इतनी ठट्ठा-ठिठोली की, पर एक बात भी मुँह से न निकली। सिर नीचा कर हँस देता, बस।"

"भाग्य से ऐसी सन्तान होती है। सब पिछले जनम के पुण्य होते हैं। हमारा होता तो—अपना क्या नहीं हो जाता ?" छवि की माँ ने गहरी साँस छोड़ी।

विचारों को मोड़ते हुए गुरु की माँ ने पुकारा—"छवि !"

"क्या है ?"

"अँधेरे में क्यों बैठी हो, बाहर आ जाओ न।"

"दीया-बत्ती करना है, दियासलाई नहीं मिली। अभी आयी।"

"अभी क्या दीया-बत्ती ! अँधेरा तो होने देती..."

"पहले दियासलाई तो..."

"चूल्हे के पास रखी होगी", माँ ने बताया, "ढिबरी और दियासलाई वहीं रहती है।"

छवि ने दीया जलाकर तुलसी के बिरवे के पास लाकर कहा :

"दीपं ज्योति परब्रह्म दीपं ज्योति जनार्दन।
दीपं ज्योति परंधाम दीपं ज्योति नमोनमः॥"

दीपशिखा उल्लसित होने की तरह जल रही है। छवि ने प्रमाण किया।

गुरु की माँ, छवि की माँ, सबने एक साथ प्रणाम किया। दो मिनट तक ज़मीन पर माथा टेककर झुक गयी। फिर उठकर छवि गयी लालटेन जलाने। दीपशिखा को प्रणाम करते समय वे लोग जैसी बातें कर रही थी, उसी धागे को बढ़ाते हुए गुरु की माँ कहने लगी, "हाँ, बहुत अच्छा होगा, काकी। कैसे होगा, यही बात मैं ठाकुरजी के आगे रख रही थी।"

"तेरे मुँह में घी-शक्कर, गुरु की माँ! पर, यह कोई मामूली बात है। कितना धन दहेज माँगेंगे, कमर में बल हो तब न।"

"डरना क्या काकी? चौधरी घराने का नाम तो कही उड़ नही गया। उसकी भी तो फिर एक मरजादा है, क्या पैसे देकर वह खरीदी जा सकती है?"

"आजकल और नाम? तू पगली हो गयी है गुरु की माँ!"

वे धीमे-धीमे बतिया रही थीं। अबकी आवाज़ को और भी धीमी कर फुस-फुसाती हुई गुरु की माँ कहने लगी, "सारी बातें अपनी जगह होती हैं, लडके का मन अपनी जगह। लडका यदि कहे कि मै वहीं ब्याह करूँगा तो माँ-बाप क्या मना कर सकेंगे?"

जीभ दाँतों के बीच दबाते हुए छवि की माँ ने कहा, "छिः छिः छिः, तू क्या कह रही है! दैवयोग से लड़के के साथ जान-पहचान हो गयी, तो क्या यह भी कहूँ कि माँ-बाप की बात की राय के ऊपर उसकी राय से वह यहाँ ब्याह करे?"

"मैंने क्या कहा काकी, वह लडका तो अपने आप सब कुछ देख-भालकर गया है। क्या उसने अपनी कोई राय नही बनायी होगी?"

"नही रे, गुरु की माँ, जो माँ-बाप को पूछे बिना अपनी राय से रास्ता निकालते हैं, उन्हे चैन नही मिलता। असल मे माँ-बाप राज़ी न हुए तो वही प्रस्ताव टूट जायेगा।"

"सो तो है," गुरु की माँ बोली और गुरु को साथ लिये चली गयी।

दीये की बत्ती जल रही थी।

थोड़ी ही देर में सिन्धु चौधरी घर लौट आये। पचास के आस-पास होंगे। पुरानी परम्परावाला चेहरा-मोहरा जिसे देखने से ही लगे कि किसी खोल या ढक्कन से ढँका है। ठीक पता नही चलता। कोई पुराना बड़ा अँगोछा या सफ़ेद धोती और अंगरखी। पहली निगाह में पता ही न चले ऐसी देह। लम्बे गोरे तो सहज ही हैं, चौड़ा और ऊँचा ललाट किस ढंग से कितना ऊपर तक उठा है। मानो वहाँ

कोई हलकी चांदनी बोर दी गयी है। गठन से दिख रहा है—चौखटा कसा शरीर, सिर के बाल पतले हो आये हैं पर उतने कम भी नहीं हुए। माथे को दो भागों में बांटती सिंथी जिसके दोनों ओर घुंघराले-से बाल, थोड़े-बहुत पक भी गये हैं और उमसे एक प्रकार के सम्भ्रम की भ्रान्ति पैदा कर देते है। आयत आंखें और दृष्टि भी स्थिर-शान्त। सामने सुग्गे की तरह थोड़ी तीखी होती गयी नाक, लम्बी, ऊंची, दम्भ लिये-सी। देखने पर बोदापन का आभास देती-सी। नाक—एक ख़ास नाक जिसका अनेकों के बीच साफ पता चल जाये। कन्धे चौड़े, सीधी गरदन, साधारण से बहुत अधिक ढेंगू आदमी।

कुल मिलाकर अतीत का ही सांचा।

ज़मीदारी गयी। जवानी मे कभी रजवाड़े में नौकरी की थी, पहाड़ी पानी देह को नही लगा। नौकरी का जंजाल और वहां का कूट-कपट देख सारा धीरज खो बैठे। दे दिया इस्तीफ़ा। सत्रह बरस की नौकरी का जंजाल जाने के साथ-साथ नौकरी की चटक-मटक भी गयी और थाती भी। इसके बाद वही घर। अपनी छाया तले समय काटने के लिए गांव मे एक चटशाला खड़ी कर बच्चों को पढ़ाने लगे। सूत कातना, भागवत पढना और चटशाला—जीवन में समन्वय हो गया था। बचपन की इस परिचित जगह में सहज भाव से घुल-मिल गये थे।

घर मे बड़े भाई सिन्धु। उनसे छोटे दो और हैं : मधु और विधु। मधु बहुत दिन हुए नयागढ़ जाकर बस गये। वहां काठ की पैठ लगाकर व्यवसाय करते-करते ब्याह किया और वही रह गये। विधु पुरी-कलक्टरी मे किरानी हो गये। गांव नही आते, उनका सारा सम्बन्ध उस चाकरीवाले गांव से सम्बद्ध हो गया है। पेट पालन करते-करते परिवार समेत गांव से कितनी दूर दूसरे स्थान पर उन्होंने अपना संसार बसा लिया है।

तीन भाइयों में वे अकेले घर पर हैं। बेटा नहीं, वही इकलौती सन्तान ठहरी—छवि।

और उस मकान मे रहते थे उनके चचेरे भाई शम्भू के लडके सत्यवान की स्त्री, गुरु की मां और गुरु। शम्भू मर चुके थे। सत्यवान रोगी आदमी, ज्वर लगा रहता है किन्तु जाकर यों ही एक मिठाई के व्यापारी के घर रहकर उसकी ज़मीन-जायदाद, व्यापार-धन्धा देखते है और गुज़ारा करते हैं। रहते वे डिंगिसर गांव में है। बाट छह कोस ही है गांव से, किन्तु आया नहीं जा सकता। साहू का धान-चावल का व्यापार ठहरा, गांव से संग्रह कर शहर भेजना पड़ता है। इसका ज़िम्मा भी सत्यवान पर ही है। माहवारी चालीस रुपये।

कहलाते है ज़मीदार का घराना, पाटेली गांव के चौधरी।

पुराने लोगों की ज़बान पर उस ज़माने की कहानी रह गयी है, खरीद-फरोख्त, व्यापार-बट्टे की कहानी नहीं, देन-लेन, बांटने-उड़ाने की कहानी, पुश्त

दर पुश्त की। किसने नहीं सुनी है नअक[1] की बातें, जब इसी हवेली के सामने इस सिरे से लेकर उस सिरे तक चूल्हे खोदकर रसोई बनती थी, सैकड़ों लोगों को मुफ्त खिलाया जाता था, दो-चार दिन नहीं, दो महीने तक चौधरी घराने ने अपना भण्डार उड़ेल दिया था। वैसे ही उस भयंकर बाढ के दिनों में जब यह चौक बाढ के पानी से भर आया था, यह चबूतरा ही इलाके-भर के लिए घाट बन गया था, डोंगियाँ जातीं और लोगों को बाढ के घेरे से निकालकर लातीं, अपने रहन-सहन के दो-तीन कमरों को छोड बाकी सबमें इन लोगों को मिला आसरा, ठसाठस भर गये थे सारे कमरे। और फिर चौधरियों के घर आना-जाना लगा ही रहता था—आज रामलीला, कल भरतलीला, परसों वादी-पाला[2]। और सबसे ज्यादा नाम था—रासलीला का। पैसा पानी की तरह बहाते थे। राधा-कृष्ण की विशेष लीला जो ठहरी। बाढ में पुराना मन्दिर टूट जाने के बाद विग्रहों की पूजा चौक में ही एक छप्पर-घर में होने लगी है। तब वह मन्दिर इस इलाक़े में बहुत प्रसिद्ध था, चौधरियों के इष्टदेव का देवल, इसके पीछे बाड़ी-बगीचा कितना कुछ न था! रासलीला होगी इसके लिए ही तो रास-मण्डप के चारों ओर चम्पा, बकुल, नागेश्वर आदि पवित्र पच वृक्ष रोपे गये थे, सूआ-सारी, मयूर आदि पाले-पोसे जाते थे, रास चलती, अतिथि-अभ्यागतों के लिए घी की मिठाइयाँ बनतीं। कड़ाही चालू ही रहती, उतरती नहीं।

संकीर्तन की धुन से सारा चौक मुखरित रहता, अनेक बाबाजी-वैष्णव आते, दल के दल। वो सारी कितनी बातें।

वह केवल एक घर ही नहीं था। एक अनुष्ठान बन गया था, चौधरियों का तो नाम था। उसी को लेकर गाँव में देन-लेन में एक प्रकार की समाजनीति चली आयी थी। मान-मर्यादा, आचार-व्यवहार, विचार-मतवाद सब पर एक दिन चौधरियों का प्रभाव पड़ा था। लोग उधर ही देखकर बात कहते। अपने चलन पर विचार करते। घर में मिठाई बनती तब कहते, "तो क्या हुआ, चौधरियों के आरिसा पिठा[3] का कोई मुक़ाबला है?" कोई भोज खाकर लौटते तो कुछ इस तरह कहते, "कितना भी हो, चौधरियों-जैसा भोज कैसे हो सकता है?" नहीं तो कहते, "मछली का झोल बना था, बस मानों चौधरियों के घर के जैसा हो।" परामर्श की जरूरत हुई तो कहते, "चलो, चौधरियों की हवेली।" तब

---

1. नअक—भीषण दुर्भिक्ष का समय इस वर्ष ओड़ीसा में।
2. वादी-पाला—एक ओड़िसी लोकनृत्य। सत्यपीर की पूजा के साथ यह नृत्य होता है जिसमें कथा वर्णन के साथ-साथ संस्कृत और प्राचीन उड़िया साहित्य की पाण्डित्यपूर्ण आलोचनाएं होती हैं। पाला की प्रतियोगिता को वादी-पाला कहते हैं।
3. आरिसा पिठा—चावल का चूरा और गुड़ से बनी पीठी।

बाहर घुड़साल थी, उससे पहले दो टान हाथी बाँधने के लिए भी थे, ऐसा कहा जाता है। बारीक काम की, झालर लगे बनौनी कपड़े से ढँकी मगरमुँही पालकी, रंग-रंग के चित्र आँकी हुई कतार मे रखी होती सन्दूक, कितनी ही।

और आज जो इतनी बड़ी हवेली सुनसान पड़ी है, वहाँ चप्पे-चप्पे पर आदमी, घर के लोग-बाग, नौकर-चाकर, साहब-मुसाहब। कुत्ते, बिल्ली, चिड़ियाँ कबूतर, मैना, अँधेरी दीवारों पर किलबिलाते तिलचट्टे। बाहर कतार बाँधे छप्पर थे जिनमे गाय-बैल, भेड़-बकरी—रेवड़ के रेवड़, बाड़ी मे खूब घना बगीचा, भरा-पूरा घराना था।

बाहर से देखने पर दुरुस्त मटमैला घर। आभिजात्य के चिह्न के रूप में उसकी चौड़ी सीढ़ियाँ—चौधरियों की पालकी के दोनों ओर की मशालों की तरह।

बच्चों की आवाज़! ठाकुर-पूजा के समय घण्टी। मन्दिर मे आरती के समय के घण्टे-झांझ। बाहर बाल-लीला, कंगाल-भोजन। कितनी चहल-पहल रहती!

सबको जोड़ें तो, वह एक विराट् सस्था जैसी थी। बाहर से आदमी देखे तो लगता—यह सब रहेगा, हम रहेंगे, दुनिया आज जैसी है कल भी ऐसी ही रहेगी, आज जो पौधा लगाया गया है। कल वह बढ़ेगा! फूल खिलेंगे, उनमे फल लगेंगे।

पर वह सस्था नही रही, एक जीवन की अनुभूति पूरी होने से पहले ही पता नही कहाँ लुप्त हो गयी। यही अनुभव करते हैं सिन्धु चौधरी, क्योकि उन्होंने यह सब कुछ अपने ज़माने मे देखा है। और अनुभव किया है उनकी स्त्री और गुरु की माँ ने। दुनिया के चलते चक्के मे घूमते-फिरते कभी उनका मन घेरे से बाहर आकर सोचता तो लगता कि जो था वह नहीं है।

चटशाला का काम पूरा कर बाहर एक चक्कर लगा आने के बाद जब अन्दर जाते हैं तो कई बार सिन्धु चौधरी चौंककर सोचते हैं, कि उनके जाते समय सब कुछ था, लौटकर आने तक कुछ भी नहीं रहा। यही था वह घर, यहाँ तब आदमी थे अनेक। सब लोग अपने-अपने कार्यों द्वारा अपने को दूसरों की नज़रों मे ले आते। वही दस अंश के कुटम्ब के लोग थे। किसी के चेहरे पर एक झलक-सी मिल जाती, कोई वृद्ध बैठ जाते पोथी के पास, व्यासासन पर खुली पोथी। गले मे श्लथ चर्म पर झूल रही है तुलसी माला, सिर के बाल गोल-गोल कटे हैं, चोटी सीधी नारियल की तरह। किसी बरामदे मे कोई स्त्री पैर पसारे सीप डुबो-डुबोकर बच्चों को दूध पिलाती होती, कोई किसी का जूड़ा करती होती—सिर एकदम चमकता दिखता। कोई ज़ोर से चला जा रहा होता इस कमरे से उस कमरे में—वही तो, वे है वैसे के वैसे। क्षण-क्षण में चलती तसवीरें आ-जा रही हैं स्मृति-पटल पर, उनमे से कोई दिख जाती है।

और नहीं...नहीं!

छवि की माँ ने हँसते हुए कहा, "कहाँ थे जी, इतनी देर हुई ? कुछ सुना भी ?"

फुसफुसाकर कह गयी सारी बातें। "कैसी सुन्दर जोड़ी होगी ? कितना सुन्दर भला लडका है ! लोका नायक को जरा भेजें तो सही ! कौन जाने बेटा-बेटी होने पर ससार में ऐसे ही बात रखी जाती है। हम भी रखेंगे, शायद भाग्य मे हो तो—"

हँसकर सिन्धु ने कहा, एक विचित्र भगिमा मे, मानो जीवन के किसी गहन अनुभव की तराजू पर तौल लेते है और वजन देख लेते है—"याद करो तो ब्याह के पहले मैं क्या तुम्हारे घर गया था ? क्या कटखने बन्दर ने तुम्हे दौडाया था और मैं छुडा लाया था और कुछ किया था ? बोलो, किया था कुछ मैंने ? सच कह रहा हूँ या झूठ ?"

"हँ-हँ, बात तो पासग मे भी नही आयी, दिन-दिन आप बच्चा बनते जा रहे है ? कही कोई बात की, बस उडा दी हँसी में। हूँ, मगर के मुँह से खीच लाये बात-बात पर उसी का उलाहना..."

"बच्चा मैं नहीं, छवि की माँ, तुम हो। छोडो, मन मे चिन्ता न करो। ब्याह तो जहाँ लिखा होगा वही होगा। इतना छटपटाने से, इतनी जगह बात चलाने से ही क्या कुछ हो जायेगा ? होने का जोग आयेगा तो अपने आप होगा, इसके लिए तमाशे मे स्वाग भरने से क्या होगा। छवि किधर गयी ? देखें, कैसी चोट लगी है..."

"बात कानों मे डालो तो सही एक बार।" छवि की माँ ने बहुत गम्भीर होकर कहा। मानो यह बरसने से पहले का मेघ हो।

सिन्धु ने बच्चों को बहलाने के ढंग से कहा, "ठीक है ! तुम्हारी बात ही सही, लोका नायक जाये। हो-हा न करना ज्यादा। बचपना तो बहुत कर लिया, अब जरा शान्त हो। इतने ठगे जाने के बाद कम से कम यह तो सीखना था कि ऐसा इन्द्रधनुषी आदमी कहीं देखा या जाना है ? अब अपना भाग्य भी उपहास करता है। कहाँ गयी छवि ?"

छवि की माँ छाया की तरह उठकर चली गयी। "दीया जला देना तो, छवि।"

साँझ का पहला पहर। रसोई आधा-पुरता हो चुकी थी, किसी की कुछ अधिक। गेल्ही की माँ भात-दाल उतारकर सब्जी खोजने सोनेवाले कमरे की

ओर गयी। उसको सहारा दे रही थी गेल्ही। उसके हाथ में एक बड़ी पीतल की ढिबरी थी, करीब उन्नीस वर्ष पहले जब गेल्ही की माँ इस घर मे आयी थी, गेल्ही के जनम से कोई पाँच वर्ष पहले, तब यह ढिबरी उसके साथ आयी थी।

ठीक उससे कुछ पहले गेल्ही के पिता बाउरी बस्ती मे अरबी के पत्ते में लपेटकर कुछ सौरी मछलियाँ लाये थे। अतः मज़ेदार तरकारी बनेगी, सबके मन मे यही आशा है। आप ही रसोई के सामने ढिबरी जलाकर मछलियो पर राख मलकर काटने के काम मे लगे थे। कैसे अक़ल लड़ाकर मछली पायी है, वह बात तब तक पूरी नही बतायी थी।

पाटुआ-भाटुआ दो भाई—पाटुआ उनमें बड़ा, कुछ दुबला। और भाटुआ छोटा किन्तु हृष्ट-पुष्ट। कोई दो वर्ष हुए एक बकरी को लेकर दोनो भाइयो में झगड़ा शुरू हुआ। किसने ली, किसने खायी, राम जाने, पर भाटुआ का कहना है कि भाई खा गया। बस तब से ख़ूब झगड़ा। और वह ख़तम होता ही नही। चार-चार हाथ के कमरे बने हैं, दीवारें खड़ी कर दी हैं, किन्तु दरवाज़े खुले पड़े हैं कलह के लिए। दोनों भाई मज़ूरी करने चले जाते हैं, तो घर मे दोनो देवरानी-जिठानी कलह चालू रखती हैं। गले की कसरत के साथ कमर की भी। दोनो भाई जब आ पहुँचते हैं तो वे भी सम्मिलित हो जाते हैं। फिर चलता है घमासान झगड़ा, गाँव की पूरी बस्ती धधक उठती है।

आज साँझ को भी मिल गये थे दोनो। कोई किसी से कम नही। एक की उमर इक्कीस है तो दूसरे की बाईस, गुस्से मे पाटुआ की स्त्री अनजाने मे ही कब दौड़ गयी देवरानी के पास, क्या करने जा रही है कुछ सोचा तक नही, और उसके माथे के घने बालो से भर ली मुट्ठी, नाक पर ऐसी एक मुक्की जमायी कि बस टप-टप ख़ून की धार और "ईलो बाप रे मर गयी..."

जिठानी को पकड़ उसके साथ मल्ल-युद्ध करे, उससे पहले ही भाटुआ की स्त्री ने अपनी हालत लोगों को बताने के लिए इतने जोर से चीख मारी कि उधर से जा रहे नीलूदास धड़ाम से उनके आँगन में घुस आये।

भाटुआ ठीक इसी समय मछली लिए घर आ रहा था, मछली की टोकरी कन्धे से झूल रही है, पहना हुआ गीला अँगोछा टपक रहा है, तभी नीलूदास और उसकी भेंट हुई थूहर के पेड के पास। नीलूदास ने जोर से कहा, "भाटू है क्या, अरे देखता क्या है ? दौड़ जा। मछली छोड़, पहले आदमी को सँभाल, देखता क्या है ?"

भाटुआ जैसे ही मछली का दोना बरामदे में रखकर झगड़े की ओर दौड़ा कि बीच मे कटारी लिये पाटुआ बिजली की भाँति आ पहुँचा। कहने लगा, "देख खबरदार, औरत-औरतों का रार है। मैं कहता हूँ भाई-फाई नही मानूंगा, यही इसी वक़्त सिर जमीन में लोटता नज़र आयेगा।"

उसकी वह भीमाकार मूर्ति देख भाटुआ अवाक् हो रुक गया। पाटुआ ने आवाज़ लगायी, "खूब ताकत हो गयी भुजाओं में...खूब ताकत हो गयी है तेरी! तेरी रोज़-रोज, पर मेरी एक दिन। तू एक कदम आगे बढ़ा कि मैं फाँसी चढ़ जाऊँगा। तू भूत बन देखा करेगा—यह मेरा प्रण है।"

ऐन ऐसे उस समय जब भाटुआ की ऐसी विषम स्थिति थी—कि पता नहीं आगे बढ़े तो क्या हो जाये, और बिना गये उसका शरीर अपने पुंसत्व के प्रति धिक्कार से भरकर थर्रा उठता, नीलूदास ने एक हाथ मे मछली पकड़े हुए दूसरे हाथ से भाटुआ को पकड़ लिया। बोले, "अरे तू पगला मत बन। मेरी बात सुन, इधर आ।" पाटुआ का यह उग्र रूप देख दोनो औरतें अपने आप अलग हो गयीं। एक दूसरे पर गालियों की बौछार करने लगी। भाटुआ को भी मौक़ा मिल गया। चिल्लाकर बोला, "मुझे पकड लिया बाबू, नही तो आज देखते किसका सिर कटता है। अरे कटार चलाना उसे ही आता है या और कोई भी जानता है?"

नीलूदास उसे पकडे, खीचते हुए कहने लगे, "लडने-मरने की कोई ज़रूरत नही, मैं एक दरखास्त लिखे देता हूँ। थाने भेज दे। थोड़े-से पैसे ही तो लगेंगे, फिर देखना अपने आप इनक्वायरी होगी, सब भाव मालूम हो जायेगा।"

भाटुआ ने कहा, "जो लगे लगने दो। आज ही लिख दो।"

उसने कहा, "आज तो रात हो गयी, अब कल लिखी जायेगी। आज तो चुपचाप सो जाओ।"

कहकर मछली लेकर वे चले गये।

दो कदम ही आगे गये होंगे कि पलट आये। कहने लगे, "अरे तेरी मछली तो मैं लिये जा रहा हूँ, ले यह तेरा दोना,...कल सुबह जल्दी आ जाना। दरख़ास्त ज़रा सोच-विचारकर लिखना है, तुम्हें सब कुछ बताकर फिर मैं अपने काम पर जाऊँगा। आज जाकर चौकिया को खोज निकालना, उससे कहकर रखना, ज़रा इसमें से दो-एक मछली देना। मैं पैसे कल भिजवा दूँगा।"

और भाटुआ ने कहा, "मैं अब और क्या मछली खाऊँगा। आप ही ले जाओ तो ठीक रहे।"

बिल्ली मछली की ओर निगाह किये म्याऊँ-म्याऊँ कर रही है, पास सरकी आ रही है। इस बार हाथ बढ़ा ही देगी। ज़ोर से बोले, "अरे तू जाती है या नही? अरे यह भी एक ही है। इतनी चटोरी हो गयी है तू! और ले, पहले तुझे ही देता हूँ—भले का तो ज़माना ही नही रहा।"

काठ का पीढ़ा उठाया और उसका पीछा किया, पर लौटते तक सबसे बड़ी

मछली को मुँह मे दबाकर बिल्ली भागी जा रही है। चिल्लाये, "गयी, गयी, ले भागी !" बिल्ली का गुस्सा बेटी और पत्नी पर उँड़ेलते हुए कहने लगे, "अरे, तुम तो कोई आओगी नहीं, फिर बिल्ली न लेगी तो कौन लेगा ? मैं बेकार ही तुम लोगों के लिए इतने जाल-जंजाल में पड़ता हूँ। अरे गेल्ही, तू क्या कर रही है ?"

"ढिबरी पकड़े हूँ। माँ आलू छांट-छांटकर ले रही है जो।"

"हूँ, ढिबरी रख देने से क्या नही चलता, मन ही मन बड़ी आदमिन बन गयी, बस—और तुम भी देखो न, आलू बीनने में ही तुम्हें एक जुग लग गया, इतनी देर में तो आलू के बीज बोकर गाछ भी हो जाता, जरा सोचो तो सही—"

"जो आलू थोड़े खराब होने को आये, पहले उन्हें चुनकर साग कर लें तो ठीक रहे। नही तो सड़ जायेंगे।"

"हाँ, ऐसे ही छांट-छांटकर आदमी को सदा सड़े आलू ही तो खिलाती हो ! छोटे घर की बेटी न होती तो यह बुद्धि आती कहाँ से ?"

"क्या बोले ? क्या कहा ? फिर से जरा बोलना ! सब छोटे घर की बेटी है—बस ये ही तो हैं बड़े आदमी ! मेरे ब्याह मे दायजा मिला, तो बरतन-भांड़े बेचकर देन-लेन चुकाया और तब जाकर खाने को दो मुट्ठी मिलने लगा। ये है बहुत बड़े आदमी। कहते भी है न, घर में दाने नही, बने फिरते है तीसमार खाँ।"

"रहने दो तुम्हारे मायके की बातें। अपना घमण्ड। रोब तो देखो ! सब के सब खट[1] कही के ! कहा भी है—"बालोऽपि खंट, थखिरोऽपि खट, यति सती सर्वजनोऽपि खट।"

"क्या बोले ? क्या कहा ? फिर बोलना तो जरा। दिन पर दिन जबान बढती ही जा रही है। भले आदमी कहीं ऐसे आधी रात गये लड़ते-झगड़ते है ! स्वभाव ठहरा, और करोगे भी क्या ?"

झगड़ा और कुछ बढता, किन्तु तभी बाहर के दरवाजे पर दस्तक हुई। गेल्ही ने कहा, "कोई बुला रही है।" गेल्ही की माँ ने बड़ी कठिनाई से अपने को संयत किया। कहा, "ठीक है। बाद में देखेंगे।"

नीलूदास भला किस झगड़े से डरनेवाले ! कहा, "मछली धोना—साफ करना तो हो गया, तुम बनाती हो या मैं बनाऊँ ? क्या कहती हो, कह दो—"

"ऐसे ही यदि हाथ कुलबुला रहे है, तो जो करना हो करो न ! बैठे क्यों हो ?"

---

1. खट—डाकू।

नीलूदास ने अवज्ञा करते हुए कहा, "इधर सेटलमेण्ट का कुछ दिन हुए बुलावा नहीं आया। तभी तुम्हारे हाथ की रसोई जीमने आदमी घर में पड़ा है, नहीं तो कहाँ थी तुम! या हम कोई भूखे थोड़े पड़े रहते तुम्हारे न पकाने से? कितने पहाड़-पर्वत में अपने हाथों के भरोसे ही रातें काटी है। इन्हीं हाथों से ठीकरा बैठाया है। तुम क्या किसकी हो सकती हो? खण्टस्य पुरी खण्टस्य नगरी, बिनानुखण्टे प्रसवन्ति—"

"हाँ हाँ, रहने दो अपनी पण्डिताई, उधर कोई आये हैं।"

सचमुच आ भी गयी कोई। वह कन की माँ। गेल्ही की माँ की गंगाजल।[1] सात घर छोड़कर उनका घर है, वहाँ जहाँ गली मुड़ती है, बाड़ में तीन आम के पेड़ हैं। उन्हीं की सीध में उनका घर है। घूँघट और भी बित्ता-भर खींचकर आगे सरका लिया। देह को धीरे से झुकाकर आयी और ढिबरी की रोशनी से हटकर खड़ी हो गयी। गेल्ही की माँ ने तुरन्त कहा, "वे उधर है, अरी, इधर कोई नहीं। कैसे आयी?"

कन की माँ ने घूँघट को पीछे कर लिया और हँसता हुआ चन्द्रमुख दिखाया। किन्तु वह चन्द्रमा पूर्णिमा का नहीं कोई पचमी या षष्ठी का होगा। माथे पर गंजापन ऊपर तक बढ़ता गया है, दीवार की तरह काफ़ी दूर तक, दोनों गाल गुठली की तरह हैं, किन्तु दोनों के बीच की दूरी भी कम होती गयी है, मानो मुँह एक ही फाँक-सा दिखेगा। पान खा-खाकर दाँतों की जड़ें निकल आयी हैं। दाँत खूब बड़े-बड़े दिख रहे हैं। वैसे ही दाँत सड़ गये हैं पान खाने के कारण, उसपर काले दीख रहे है। नथुने उठ रहे है, दाढ़ थरथरा रही है, उसी से गेल्ही की माँ ने समझ लिया कि 'गंगाजल' कोई खबर लायी है। कहा, "गेल्ही, तू जा, ये आलू लेकर जा, बाबू अकेले—" और गेल्ही चली गयी।

चटाई बिछा दी। दोनों 'गंगाजल' बैठी। गेल्ही की माँ के चौड़े चेहरे के पास सरक आया कन की माँ का फाँका चेहरा। और अधिक पास। एक की साँस दूसरी के गाल को छू रही थी,...और थोड़ा पास—और नज़दीक हो गयी। एक की देह की गरमी दूसरी ने अनुभव की अपने गाल पर। फुसफुसाहट। बस फुस-फुस दबी आवाज़ में, गला दबाकर। मुँह के सामने दूसरा चेहरा, और कुछ दीखता नहीं, अस्तित्व इतना ही, संसार इतना ही, भौहें नाच रही हैं, और आँखों की पुतलियों में बिजली चमक रही है। ख़ुद अपने अन्दर टटोल कुछ न पाकर जो व्यक्तित्व जीवन में विचित्रता को खोजना भूल गया था वह ईर्ष्या में उन्मत्त होकर फूल उठा है।

दोनों का सब एक दूसरी के प्रति आबद्ध ध्यान टूटा, जब अचानक 'कँ-कँ'

1. 'गंगाजल'—एक सस्नेह सम्बोधन।

कर कोई आवाज़ हुई। घर की बिल्ली खाट के नीचे से एक बड़ा चूहा पकड़, बाहर भाग गयी थी।

"अरी कितना बड़ा चूहा ले गयी !"

"ऐसे कई ले गयी है 'गगाजल' ! भूलू की खूब शिकार करती है। बैठी रहेगी ताक मे, चुपके से ऐसे झपटेगी कि ठीक गला दबोचेगी, और छू ! हाँ, तो तू कह रही थी क्या सच ? आदमी क्या पहचाने इस कलयुग के आदमी को, बहन !"

दोनों हँस पड़ी। दोनों मुँह धीरे-धीरे एक दूसरे से दूर होते गये।

बाहर सुन्दर चाँदनी रात। हलके कुहासे की चादर तान वसुन्धरा की छाया मानो एकीभूत होकर कितने अर्थों मे नयी अवस्थिति में आविर्भूत हुई है। माघ शुक्ल षष्ठी की रात। समुद्र के किनारे चन्द्रभागा तीर्थ की मरुभूमि पर बटोही यात्री-परिवार की तरह बढ गये होंगे हज़ारों परिवार, अरहर के झाड पर कपडा फैलाकर रात-भर के लिए दीवार बनायेंगे, बालू पर केवड़े के फल को चूल्हे की मुंडेर बनाया गया होगा। हाँडी चढी होगी, बडी तडके से ही माघ सप्तमी का स्नान।

यहाँ उस चन्द्र का आदर नही। छान न होती तो चांद दीखता, बस इतना ही व्यवधान है, पर उतने मे ही आकाश तले के विराट् चेतना समुद्र से अलग होकर वह एक अंधेरी गुफा हो गयी। वहाँ चन्द्र नही, तारे नही, है तो बस ढिबरी का प्रकाश, फूल पर फूल हो गये ढिबरी की बत्ती के ऊपर, प्रकाश नाच रहा है, दो चेहरो की छाया नाच रही है, उस नीरवता मे दो मन-कन्दराओ का हिंस्र औत्सुक्य नाच उठता है। टें टें ई टें टें ई कर हलचल मचाती हुई मुक्ति का सगीत सुनाती ऊपर ही ऊपर उड गयी चिड़िया। किन्तु रसोई की तेज चें चों लगी रही। बाड़ी की ओर से हिना की महक और दरवाजे की ओर से शेफाली की सुगन्ध व्यर्थ ही चेष्टा कर रही है उस घर मे घुसने की, घुस सकती नही।

बात केला की स्त्री के घर में भी उठी थी, दूसरे दिन दोपहर में गेल्ही की माँ और कन की माँ तो थी ही, पदी की माँ, चैमा की माँ आदि भी थी। पदी, आठ साल की बच्ची, लाल रंग का कसता पहने झूमती हुई बाहर जा रही थी—चबूतरे पर जहाँ केला की बुढिया माँ दो और जनों को साथ लिये चश्मा चढाये रामायण पढ रही थी, वहां चबूतरे पर चल रही थी सीता-हरण के बाद की बात। राम-लखन सारे वन मे रो-रोकर घूम रहे है, पेड़-पत्तों, जीव-जन्तुओं सबसे पूछ रहे हैं, बुढ़िया केला की माँ भी सुबक रही है, उसके साथ सपनी की माँ और

रुकमिणी की माँ भी। केला की माँ बीच-बीच में कहती है, "अरे कहाँ गयी बहू, आओ सुनोगी नहीं क्या ?"

"तुम पढो, मैं आ रही हूँ" केला की स्त्री कहती। और इधर बातें करने लगती। कौतूहल से सब निगाह उठाये बैठी रहतीं—इसके बाद क्या होगा ? फिर क्या होगा ? केला की स्त्री बातें करती जाती।

पदी बैठी पान चबाती, इसका-उसका मुँह देखती। फिर उठकर चली जाती यह देखने कि माँ किस तरह रो रही है।

केला की स्त्री को कोई बाल-बच्चा नहीं है। वह बाँझ है। बीस बरस की घर-गिरस्ती के बाद भी भरे-पूरे शरीर की है। गोरी चिट्टी, गोल चेहरा, सिर कन्धों को छूता-सा। हँसते समय छोटे-छोटे आबू निकल पड़ते हैं गालों पर, मांस की पर्त के नीचे छोटी-छोटी दोनों आँखें मानो छुप जाती हैं। उसकी चमकती हुई पॉलिशदार सिंथी, साफ साड़ी, खाट पर एकदम साफ-सुथरे बिछौने, साफ़-सुथरा घर। दीवार में तिल-भर भी जगह नहीं। चारों ओर छवियाँ, नयी साड़ी में से चिपके चित्र उतारकर भीत पर चिपका दिये जाते हैं। कोई देव, कोई बड़ा आदमी, कोई कल्पना। मेले से खरीदकर छवियाँ लायी गयी हैं—देवी-देवता, बड़े-बड़े देश के नेता। रामायण-महाभारत के दृश्य। कोई अभिनेता-अभिनेत्री। कितने सुन्दर चेहरे जिनका परिचय भी ज्ञात नहीं। केला की स्त्री को छवियाँ अच्छी लगती हैं। केला ने खुद कई चित्र ख़रीदकर दिये हैं, उन दिनों जब वह घर पर था—विदेश नहीं गया था।

चार वर्ष हुए केला को काम मिल गया, वह चला गया। पता नहीं किस इलाके में रहता है। साल में एक बार आता है। दशहरे के दिनों में सात-आठ दिन रहकर चला जाता है। हर महीने केला की स्त्री को, डाक से तीस रुपये मिलते हैं। और एक चिट्ठी कि वह सुख से है। इसी तरह अन्य सैकड़ों लोग गये हैं। केला की स्त्री मन की वेदना मन ही मन में छुपा लेती है। वह सन्तोष कर लेती है। सखी-साथिनें हितैषी बनकर कहतीं तो केला की स्त्री हँसकर उत्तर देती, "अरी, ऐसी भी चुगली क्या ? मर्द, और काम करने नहीं जाये ! मर्द का चेहरा देखती बैठी रहूँ ?"

साफ बिस्तर बिछे पलंग की ओर दीवार पर यदि सीधे देखा जाये तो किसी-किसी की आँखों को दिख जाती है एक सुन्दर छवि। घुटनों के बल बैठे सिर घुमाकर देखते हुए बाल-गोपाल। हँसमुख खिला चेहरा। लगता है, मानो केला की स्त्री दोनों हाथ बढ़ाये पलंग पर प्रतीक्षा किये बैठी है। 'आ कूद पड़ !' कहने की भंगिमा में। और वह आता नहीं। किन्तु केला की स्त्री अब उस छवि की ओर देखना भूल चुकी है। पुराने जमाने की बूढ़ी सास कहा करतीं कि उन्होंने अपने बहू बनकर रहने के दिनों में सुना था कि ऐसे सुन्दर बच्चों की छवि

आँखों के आगे रखने से अपने बच्चे सुन्दर होते है, जो जिसे भजता है वही पाता है।

सच, क्या ऐसा होता है ? केला की स्त्री सोचा करती। फिर तो वर्ष पर वर्ष व्यर्थ ही लुढ़कते गये। सास ने कितने देवी-देवताओं की मनौती की—कितनी पूजा, झाड़-फूँक और ब्राह्मण-भोजन कराये।

बाकी रह गया था हटकेश्वर जाना। प्रत्यक्ष देवता। उस मन्दिर मे थोड़ा हटकर काउकुण्ड मे सब्ज पानी टकटक उबलता है। गन्धक की गन्ध आती है, उसी के किनारे मुट्ठी-भर उस छिछले पानी से कीच में माघ सप्तमी के दिन आँख मूँदकर टटोलने पर जो मिले उसे पेट में डाल लो, लड़का अवश्य होगा। सभी कहते हैं। खद उदिया पधानुणी गयी थी और फल मिला था – किसी को कँटिया मछली मिली थी, सो उसे निगल गयी, उसे बेटा हुआ। उदिया पधानुणी कहती थी, 'खाइला कँटिआ, पाइला हटिया (खाया कँटिया, पाया छबीला।)"

किन्तु केला की स्त्री आखिर तक जी कड़ा नही कर पायी। इतने लोगों की धक्का-मुक्की के बीच कोई गेंगटा या कँटिया या कीच या कंकड़ी कुछ भी चुगकर खाने को उसका मन नहीं माना। वह अपनी ज़िद पर अड़ी रही। सास ने कितना समझाकर कहा, "देख, मुझे जब लड़का नहीं हुआ, देर हो गयी तो मनौती कर, बासी गोबर इतना-सा निगल गयी। मैं अपने केले को पा गयी।" बहू ने हँसकर उत्तर दिया, "वह गोबर का पोटा तो उनके सिर में रह गया, और कुछ नहीं।"

केला की स्त्री छवि के बारे मे सुनी हुई बातों में कुछ मिलाकर बता रही थी एक कहानी। "हमारे गाँव मे नही, पास के गाँव की एक बेटी...। बाड़ी के पिछवाड़े मे घने झुरमुट है, उस ओर पोखर। थोड़ी दूर छोड़कर पोखर के दूसरे घाट पर दिखाई दिया शहरी पाहुन, बंसी मे भात गूँथ-गूँथकर सौरी मछली पकड़ता, बना-बनाकर गीत गाता, वह कोई बड़ा कवि है।

"लड़की का नाम छवि। घड़ी-घड़ी मे बाड़ी की ओर जाती। पेट में प्यादा कूद रहा है, किसे पता था। बाहर इतने रोक-टोक। बाड़ी की तरफ बस कुछ नही और वह शहरी पाहुन...ऐसा कवि ! हुनरवाला।

"कब उनकी जान-पहचान हुई ? पाहुन भी कुछ दिन रह गया। सबके साथ जान-पहचान हुई, सबको अपना बना लिया। पाहुन शहर में कहीं बहुत पढ़ाई करता था, छुट्टियों मे आया था। कितना सुन्दर सरसों फूलिया चांद उगा था। बेटियाँ सब गीत गा रही थीं फिर क्या हुआ कि—"

गेल्ही की माँ कहने लगी, "तो मैंने जो कहा, यह उससे अधिक, आँखो देखी बात से भी बढकर है, और क्या ?" कन की माँ कहने लगी, "अधिक दिन बेटी को ब्याह किये बिना घर मे रखने पर ऐसा ही होता है। किसकी निन्दा की

जाये ? और उसकी माँ क्या कम सयानी है ? बात जैसे ही उसकी निगाह में आयी, वैसे ही जाल फैला दिया, छोकरे को बाँधकर ब्याह कर दे तो बस । फुसला-कर, बुला ले गयी । हम सब खड़ी देखती रह गयी ।"

"कौन जाने बहन् होता होगा ।" केला की स्त्री ने हँसकर कह दिया ।

फिर उठ गयी । सासू की हाजरी । अब और देर नहीं की जा सकती । पर उसकी हँसी से सब पता चल गया । असल बात वह जान गयी । अब वह दस को और कहेगी ।

गेल्ही की माँ और कन की माँ भी ख़ुश हुईं । सब एक साथ उठ गयी रामायण सुनने ।

खूँटे-सी बैठी थी पदी की माँ । उसका चेहरा भी एक विशेष प्रकार का है, मानो कोई छोटी बछिया का सिर सँवारकर आदमी का सिर बना दिया गया है: ऐसी गढन है उसके मुँह की । बहुत वर्षों के आमाशय के रोग के कारण चेहरे का पानी सूख गया है । ख़ाली हाड के ढाँचे पर मलिन हुए पीले चमड़े की चादर पड़ी थी । दोनों आँखें बडी-बडी । क्लान्त, चकित-चकित-सी, मानो संसार की सारी बातों मे वह अकबकायी-सी है । दो सूखी मुट्ठियों पर चेहरा टिका हुआ था ।

कहानी समाप्त होते ही उन्होंने कहा, "इलो, माई रो, इतनी बातें चल रही है । घर जब टूटता है तो मान-महत्ता भी ऐसे ही झर जाता है । सीधे-सीधे विवाह कर डाले तो बात भी है । यह सम्बन्ध, अच्छा ही रहता । पर हाँ—देन-लेन-वाली बातें भी तो है । बट महान्ती वे ठहरे ! और अब क्या है इनके पास जो देंगे ?"

सपनी की माँ खड़े होने पर ढेंगू लगती हैं, इकहरे बदन की है, उनका भी पेट ठीक नहीं रहता, थोड़ा खाने पर भी पेट भरा-भरा लगता है, खट्टी डकारें आती हैं ।

खड़ी होकर कहने लगी, "वह ब्याह करे या न करे प्रश्न नही है, पहले इसकी बातें तो देखो । ज़रा भी शरम नहीं उसके मुँह पर ? छि:—छि:—छि:, क्या जुग हो गया रे ! कैसा जमाना है ?"

सब दीक्षा पाकर लौट गयीं । अपना-अपना रास्ता पकड़ा । रास्ते में एक जगह बाड़ के सहारे पदी की माँ गेल्ही की माँ का हाथ थामकर खडी हो गयी । दोनों ओर की बाडियों के मालिकों ने अपनी सीमा बढ़ाते-बढाते बीच में आने-जाने का रास्ता सँकरा कर डाला है । एक ओर की बाड से एक झाड अपना मजबूत हाथ बढ़ाकर बटोही को पकड़ने लगता है, तो दूसरी ओर घनी हो सरकी आ रही मधुमालती लाल-लाल गुच्छे के गुच्छे सजाये खड़ी है । सिर पर छता ताने है एक सहिजन का पेड़ । बहुत सारे सूँडी (कीड़े) चिपके हुए है, मानो वृक्ष ने नरम कोट पहन लिया है । उसपर लहलहा रहे हैं कच्चे-कच्चे सहिजन ।

वही पदी की माँ ने गेल्ही की माँ का हाथ पकड़कर फुसफुसाते हुए पूछा, "उई, इतना सब हुआ। सच कहना, तुमने देखा ? क्या देखा ?" उस बछिया के-से सिर मे कही धक-धक होने लगी थी, अतीत की कोई लहर। सहिजन पर लम्बी चोंचवाली चिड़ियों का जोडा कूद रहा है, टप-टप कर सूँडी झर रहे है, उस ओर निगाह किये बिना पदी की माँ उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है। पूछा, "तुम्हें मेरी सौगन्ध, सच बोलना, तुमने क्या देखा ?"

गेल्ही की माँ ने हँसकर, फुसफुसाकर कहा, "अरी जीजी, मैं झूठ बोलूँगी तो तुम जल नही जाओगी। तुम्हारी सौगन्ध खाती हूँ। फिर मेरी क्या अवस्था होगी ? तुम्हारे जैसा मैं कहाँ से पाऊँगी, बताओ भला। सच न कहूँगी तो क्या तुम्हारे आगे झूठ बोलूँगी।"

"सच-सच बता, क्या देखा है ?" उनकी मुट्ठी थरथरा रही थी, एक बार ढील की, पुनः कसकर पकड़ ली। गेल्ही की माँ ने कहा, "छिः मुझसे क्या पूछ रही हो, तुम क्या कभी उमर पाकर बड़ी नही हुई थी ? या ऐसी ही थी सदा ? देखो तो सही। ऐसा होता है। सब कुछ क्या कोई देख सकता है...पराया बेटा, क्या हक है उसपर ? उसे आया देखा। फिर इसे देखा, उसे भी देखा और सारी बात समझ गयी। जो देखा-जाना वही तो तुम लोगों के आगे कहती हूँ—"

पदी की माँ की उत्तेजना कम नही हुई थी, कहा, "पेट-कपटी है तू तो, सब कुछ पेट मे रखे है। कहती कुछ नही।"

"तुमसे कुछ भी नही छुपाती जीजी ! देखने से भी बढ़कर समझना होता है। आदमी की चाल पहचानी जाती है। मैंने सब समझ लिया। छवि की माँ तो खैर, एक तरह से अच्छी ही है, उसकी सास तो विचित्र मूर्ति थीं। वह क्या कम बात पकड़ती थी ? याद है, मैं जब नयी-नयी ससुराल आयी थी, माई रे, क्या कहूँ; उन्हे देखकर ही तो मेरी छाती का ख़ून सूख जाता। उन्ही का घर है तो।"

"ईलो देख, नटिया ओझा की बाड़ी में गाय घुसकर किस तरह बैंगन उखाड़-उखाड़कर खा रही है।"

'हैं, हमारा क्या जाता है !" गेल्ही की माँ ने कहा।

"खा गयी रे, खा गयी—" पदी की माँ ने ऊँचे स्वर में कहा।

गेल्ही की माँ ने कहा, "कही कोई क्या खाता है, उजाड़ता है—हम क्यों सिर खपायें !"

वे चली गयी। पीछे-पीछे पदी की माँ।

आरत अमीन के घर मे ढेंकीशाल में बात चली थी, पधान बस्ती की शिखरा की माँ ढेंकी के गड्ढे मे हाथ डालकर उलट-पुलट कर रही थी। ढेंकी पर खड़ी थी केवट बस्तीवाली चम्पी की माँ, तेली बस्ती की रघु की माँ। ये तीनों

ही गाँव में पेशेवर धान कूटनेवालियों में अग्रणी हैं। इसी से गुजारा करती हैं। एक-एक झोंपड़ी है। इस जून मिल गया तो ठीक, पर उस जून का ठिकाना नहीं। शिखरा की माँ के आधे बाल पक गये हैं, खूब बलिष्ठ गठन, गाँव में कोई-कोई तो उसे हनुमन्त बुढ़िया भी कहते हैं। गोरे गोल चेहरे पर गलफड़े में दो पान ठूँसकर बुढ़िया हँसती-हँसती बात कहती है। काकरा पीठा की तरह दिखते हैं उसके दोनों आबू जैसे फूले गाल। चम्पी की माँ चिक्कण काली सीधी-लम्बी छड़ी की तरह। उसका मँझला बेटा गया गाँव में रामनवमी की लीला के समय रावण बनता है। माँ को पता है। चार हाथ से ऊपर लम्बा होगा। चम्पी की माँ के ढेंकी पर चढ़ते समय उसके अंग सचालन में जल्दबाजी से युद्ध में जाने की भंगिमा है। आलस वह नहीं सह सकती।

रघुआ की माँ उमर में इन तीनों से छोटी है! नाम है रघुआ की माँ, रघुआ की उमर आठ बरस की भी नहीं हुई। रघुआ की माँ गेंदे की तरह गोरी है। पाँच वर्ष हुए पति कलकत्ते में रह गये, फिर लौटे नहीं। मायके में भी कोई नहीं रहा। दो बरस भूख-प्यास बुझाने के लिए घर का गहना, गाय-गोरू, बरतन-भाँडा सब बेच-बाचकर बहूपन की लाज बचाये रही, जब खबर आयी कि पति ने अपना अलग संसार बसा लिया, तब से जो काम पाती है कर लेती है। इसके बाद ही रघुआ की माँ धान कूटने और दूसरे काम-काज करने बाहर निकल पड़ी। उसका भी जीवन व्यस्त हो गया। हजार बार नाखून पक गये हैं, पंजे-भर में लाल-लाल चिह्न हो गये हैं।

पान के पत्ते की तरह उसका धारदार चेहरा है। गोरे चेहरे में चिबुक पर लाल रेखा है। बचपन में गुदना गुदवायी थी। पान खाने की आदत डाल ली है, सफेद निलिप्त सटे हुए दाँतों पर लाल पान की पीक का रंग खूब फबता है। ठीक कानों पर घने बालों की काली लट। मामूली मैली-सी सादी साड़ी पहन धान कूटते समय अपने अनजाने ही वह यौवन और रूप की छाया बिखेरती जा रही थी। पहले हताशा और अवसाद उसके चेहरे पर एक काला साया-सा डाल रहे थे। अब जीवन का स्वच्छन्द सहज विकास मानो उसकी मैली चमड़ी को ठेलकर नयी चमड़ी ऊपर लाता जा रहा था और वह काली छाया आहिस्ता-आहिस्ता पीछे हटती जा रही थी।

रघुआ की माँ! उसके माँ-बाप का दिया नाम तो नीली है। पर इन सारी बातों को तो वह पीछे छोड़ चुकी थी।

आरत अमीन की स्त्री ढेंकीशाल में बैठी चौराई के साग में से पत्ते चोंट-खोंटकर एक ओर रख रही थी। एक-एक लाल मिरच और एक-एक लहसुन। छोटी-छोटी मछलियाँ वगैरह जो मिला, कुछ-कुछ लेकर परम्त के परस्त कुम्हड़े के पत्ते में लपेट सुन्दर 'पत्तरपोड़ा' तैयार करना है। बेटे-बेटी खायेंगे। सबसे

छोटा, जिसका नाम चगला है, दस वर्ष का लाडला बेटा है। अब भी नंगा रहता है। इसके बाद और होना नहीं। ज्यादा रुचि उसी की है 'पत्तरपोडा' खाने की। आरत अमीन ने तो अमीन का काम करते-करते विदेस घूम-फिरकर उमर काट दी। घर सँभालना, जमीन-जायदाद, कोठी-बाडी हलवाहो-मजूरों की देख-भाल का सारा दायित्व उनपर ही है।

शिखरा की बुढ़िया माँ ने बातों ही बातों में कहा, "तुम्हारी बाडी के पास उस ओर काँटेवाले साग के पौधे कितने बड़े-बड़े भालू की तरह बढे हुए हैं, तुम तो उन्हें छुओगी नहीं। मुझे कहती तो एक मुट्ठी खोंट लेती। साग हो जाता।"

"मैंने ही तो बढाया है," उसने तुरन्त जवाब दिया, "साग रख छोड़ा है, 'पत्तरपोड़ा' बनाने के लिए। डाली पड़ेंगी काँजी में। आज पत्ते खोंटने की सोची थी। तूने तो डाल ही तोड़ दी।"

शिखरा की माँ घुसकर काँटों में से दो डाल तोड़कर लायी थी। उसका पावना इतना ही हुआ है।

साहसी स्त्री है आरत अमीन की पत्नी। देह का अंग-प्रत्यंग जैसे पम्प मार-मारकर फुला दिया गया है। इतना बड़ा मुँह, केतकी-सी गोरी, ऊपरवाले होंठ पर भूरे रोओं की रेखा। वैरी कहते हैं कि शखी की माँ आधी मरद है, अमीन तो उसकी बकरी है। शखी की माँ की मसें हैं।

धान कूटते-कूटते शिखरा की माँ ने वही दूसरी बात दे दी थी। उपक्रमणिका देकर कहा, "देखो तो सही, समय ऐसा हो गया।" उपसहार मे कहा, "अब इस गाँव में धर्म-अधर्म, मान-मानता रहेगी कहाँ से?"

शखी की माँ ने खोद-खोदकर पूछा, "अरी, इतनी बात हो गयी? कहाँ, हमें तो कोई खबर ही नहीं। घर में बुलाकर छवि की माँ ने क्या किया? कन की माँ ने आकर आज सुबह खुद बताया है, चूल्हे से दो पतंगे लेने उतने घर लाँघकर आयी थी।"

शिखरा की माँ ने कहा, "मैं स्वय तो थी नहीं, जो सुना सो कहा। घर मे ले गयी, बाद मे उनके बीच क्या हुआ, कौन देखने गया? तो भी आखिर माँ ही ठहरी न, जनम दिया है, कुछ तो किया ही होगा। और क्या ऐसे ही छोड दिया होगा? जो हो, पर दोप क्या हो गया? जो बाद मे होता, पहले हो गया। *असुविधा इतनी कि जिसे कहते हैं मर्यादा...*"

चम्पी की माँ ने कहा, "मर्यादा ही तो असल है, वही गयी तो क्या बचा? हम लोग दो मुट्ठी कहीं काम-धन्धा कर ले आती हैं, पेट भरती है, पर इज्जत को कितना डरती है! इसीलिए देखती हो अपने दुधमुँहे बच्चे को, किसी की बात न सुनकर, हाथ-बेहाथ कर दिया। कौन-सी उमर बढ गयी थी? तेरह पूरे कर चौदहवाँ लगा था। उसके बापू ने चाहे जितना भी मना किया, नहीं मानी मैं

तो। हमारी तो वही पूंजी है—इज्जत। हां, तुम बड़े लोगों की और-और बात है—"

रघुआ की माँ ने कहा, "तुम भले कह रही हो, पर मुझे तो सुनी बात पर विश्वास नही आता। लोग तो ताजे फूल पर भी कीड़ा डाल देते हैं—"

शिखरा की माँ ने कहा, "तुम क्यों नही कहोगी ?"

चम्पी की माँ भी हँस पड़ी।

रघुआ की माँ लाल पड़ गयी, बात पकडकर कहा, "मेरे कहने न कहने पर इतना बाबेला क्यों ? मैंने किसकी पत्तल में धूल डाली है ? किसके मुंह मे आग लगायी है ?"

शिखरा की माँ ने कहा, "यह लो, गुस्सा क्यों हो रही हो ? तू भली है, तेरी आंखो मे सारी दुनिया भली है। पर राज-भर के लोग जो घुसर-फुसर कर रहे हैं।"

रघुआ की माँ ने कहा, "बता तो, जीजी, ऐसा भी कही होता है ? जान नही, पहचान नही, बाट मे जाते आदमी से भी कोई पहचान करेगा ? पहचान तो पहचान, फिर दुख-सुख की बातें, हँसी-ठट्ठा करेगा ? माँ-बाप को खबर नही, मोहल्ला-बस्ती को पता नही, पर बाट मे-घाट मे और क्या आदमी नहीं हैं ? फिर बेटी का यह गुण देख उसके गले में कटार न डाल कहीं कोई पराये आदमी को घर बुलाकर यह थोड़े ही करता है कि जो हुआ सो हुआ, तू अब ब्याह कर ! यदि आदमी दोषी होगा तो वह मुंह छिपाकर भागेगा या उलटा मेहमान बनकर उस घर में जायेगा ? जिसके जो मन में आये कहे—और हम क्यों विश्वास कर लें ? अपना क्या विवेक ही नहीं ?"

चम्पी की माँ ने कहा, "छोड़ो भी, सारा विवेक-विचार बस इसी के पास है। गाँव-भर के लोग क्या कहते है, जा सुन आ, तब आकर कहना।"

अमीन की स्त्री ने कहा, "इसका यह मतलब नही री, कि तू जाकर उनके ही घर मे उगलने लगे, री रघुआ की माँ ! सत्रह घर मे आग लग जायेगी ! हमारा क्या लेना-देना किसी की बात से ?"

नदी के किनारे से गाँव तक जाने के लिए ठीक जहाँ ढलान शुरू होती है, उसके नीचे ही शुरू होती है पगडण्डी, वहां से उतरते समय बायें हाथ उठान पर हरि साहू की दुकान और थोड़ा छोड़कर किणेई ओझा का लुहार-शाल है। बाट पर ही घना बरगद, उसके नीचे खूब चौड़ी जगह है। जमाने की, बहुत पुरानी दुकान है उसकी, तेईस बरस पूरे हो गये, उसे तीस वर्ष हुए थे, एक दिन पण्डित को कहकर मुहूर्त निकलवाया, कारीगर को जगह दिखा-परखाकर, चौधरी के

हाथ दो बीघा जमीन गिरवी लिखकर, रुपये लिये और अपनी दुकान खड़ी की थी। हाथ में तासीर है। उसके सोलह प्राणी का कुटुम्ब, बेटा-बहू, पोते-पोती—सबों के खाने-पीने के बाद भी दो पैसे बचते है। दुकान का चेहरा भी बहुत बदला हुआ है। पहले थी एक छोटी गुफा, फिर छान-फूस का ही सही, एक खुला-सा घर बना। इसके बाद वह बना कच्ची ईंट का छप्पर-घर। एक कोठरी से बने दो कमरे, फिर तीन। वही अटक गये। उनमें से एक कमरा दुकान, दो कमरे गोदाम। लोगों ने कितना समझाया कि छप्पर की क्या हालत हो गयी है, सफ़ेद-सफ़ेद लोहे का पत्तर बिछाकर छत कर दो, काम निबटे। हरि साहू उस बात की उपयोगिता को कितना ही क्यों न समझे, पर करने को उसका मन कभी नहीं करता। कहता कि वैसा करने पर दिखावा-सा लगेगा। "भगवान् ने जो दो अंगुल जगह दी है, उससे घास-फूस भी तो मिल जाता है, काम चल जाता है। कभी अटकाव आयेगी तो देखा जायेगा।"

हरि साहू का पक्का विचार है कि दुकान के सामने बरगद पर देवी की प्रतिष्ठा न हो सके। बहुत बार चेष्टा हुई है—तने पर सिन्दूर पोतने की, माटी के बने हाथी-घोड़े आदि खिलौने लाकर बरगद के नीचे रखने की। कम से कम गाछ की डाल पर एक सफ़ेद पताका ही फहरा दी जाये। पर हरि साहू खखारकर पीछा करता है। कहता है, यह आदमी के रहने का थान है, इसे देवों का थान न बनाओ। आदमी को भी असुविधा, देवों को भी असुविधा।

उसका एक और पक्का मत है कि वह झगड़े-रगड़े मे नही फँसेगा। उसका कहना है, "तरफ़दारी करना मुझे आता नही। बस, घर कैसे सही-सलामत चले, उतने के लिए ही बुद्धि पूरी नहीं पड़ती, दूसरे को देने के लिए कहाँ से लायें।"

गाँव के 'टाउटर' अगणि राय और गदेई लेंका ने नाना उपाय रचे कि किसी प्रकार उसे मुकदमे मे खीच लें। कुछ न सही, किसी के बहकावे मे आकर वह थोड़ा आगे ही बढ़ आये। पर हरि साहू ने उसमे भी पैर नही रखा। यहाँ तक कि गाँव की दलबन्दी में यदि कोई पूजा-ओझा के नाम पर चन्दे में कमी आ पड़ती, तो दूकानदार हरि साहू के नाम से वहाँ शून्य होता—केवल अष्ट प्रहरी नाम कीर्तन, बाललीला, भागवत-सप्ताह और झूलन को छोड़कर। इनमे वह खुलकर देता है, और किसी मे नही। युद्ध के समय कण्ट्रोल आया, चीनी, मिट्टी का तेल आदि कितने ही कारोबार आये। उसके पीछे-पीछे आ पहुँचा काला बाजार, रातोंरात न सही, तो भी कुछेक महीनों मे बडा आदमी बनने की बलवती आशा के सम्बन्ध मे सज्जन बनकर, हितैषी बनकर कितने लोगों ने आकर रास्ता बताया किन्तु हरि साहू चौंका तक नही। कहा, "यह कण्टरोल जायेगा नहाने, यह युद्ध का पानी फट जायेगा, यह नया कारोबार धँस जायेगा। वह पुरानी दुकान भी

टूट सकती है, तब दिन का दिन और रात की रात रह जायेगी—युग-युग के लिए। मुझे और किसी की आस नहीं।"

वह सबको धकियाकर रहना सीखता आया है। किसी के चबूतरे पर जाता नहीं, किसी को अपने चबूतरे पर बैठाकर आप्यायित करता नहीं, किसी दल या पण्डाल में कभी दिखाई नहीं पड़ता। सुबह सूरज जैसे ही दुकान के आगे किरण बिछाता है, वह भी वैसे ही जाकर बैठता है दुकान की गद्दी पर। चीकट लगी छोटी धोती बांधता है और एक चीकट-भरा अँगोछा कन्धे पर डाले रहता है, पसीना पोछने के लिए। सदा पान चबाता रहता है। दुकान बन्द कर लौटते समय किसी से ज्यादा बात-चीत करता नहीं, केवल कमर से खड़ी टटोलकर सारे बरामदे पर लीलावती के सूत्र, चाट इच्छावती के सूत्र, अन्धे नायक के सूत्र आदि पुराने ढर्रे के हिसाब निकालता रहता है। कोई पूछे तो बताता नहीं, समझाता नहीं, खाली अंक लिखता रहता है, वही उसका खेल, उसकी खुशी है। रात होने पर कभी-कभी अरण्ड के तेल का दीया लगाकर वही सारी पोथी पढ़ता है।

बस एक बात पर वह बाहर के लोगों से बहस करता है, और वह है अखबारों से गढ़ी राजनीति। किन्तु उसमें भी वह अगणि राय, गदेई लेंका आदि के जाल की पकड़ में नहीं आता, क्योंकि उसकी राजनीति की चर्चा में अधिक भाग भारत के बाहर की बातें होती है। वह देश होता है जिसका भौगोलिक मानचित्र भी उसने कभी नहीं देखा। वह केवल इतना जानता है कि वह कोई स्वतन्त्र देश है। और वह चर्चा किया करता है। भारत का महत्त्व कितना है, कितना आदर है हमारे देश का, कितना काम करते थे ऋषि-मुनि, कैसे देवताओं के अंश हैं हमारे इस देश के महात्मा गान्धी, गोपबन्धु वगैरह। ऐसी ही सारी बातें। इनमें भी कोई झगड़ा-फ़साद नहीं। थाने में रपट करने जैसी भी कोई बात नहीं। गाँव की बातें और लोग करते, हरि साहू पत्थर की तरह बैठे होते। ग्राहक आते तो सौदा-सुलफ़ दे देते। लोग जानते है, उससे कुछ मिलेगा नहीं—ऊँ या हूँ, सो चले जाते।

उस दिन, दिन ढलने के समय चेमेई बेहरा के साथ बात आ पड़ी थी भारत के बाहर गोरों में वर्ण-भेद को लेकर। चेमेई उसका हमउमर, कोई तिरपन या चौवन, दोनों चटशाला में साथ बैठते थे।

अखबार में उसी वर्ण-भेद का नमूना निकला है। दक्षिण अफ्रीका। हरि साहू कह रहे थे, "अफ़रीका कहो चाहे अमरीका कहो, सब जगह एक बात है। ये गोरे साहब लोग काली छाया पड़ने पर कूदते है, यह तो मैंने जिस दिन अखबार पढ़ा तब से देखता आया हूँ। आज सुनो कि काले आदमी को पकड़कर आग में भून डाला, तो कल सुनोगे कि काले आदमी को अलग कर दिया, वहाँ लोग काले

होकर जनमे कि उनके भाग फूटे। उसके बाल-बच्चे गोरो के साथ पढ़-लिख सकेंगे नही, मानो उनकी देह मे कलौस लग जायेगी। और वैसे ही लोगो को तुम वृद्धिया कहते हो ? यह तो अधरम है, इस अधरम मे आदमी का नाश हो जाता है। पर उनके देश मे भी हमारे देश की तरह भले लोग है, वे बराबर आपत्ति उठाते है, कालों का साथ देकर कोई-कोई तो कष्ट भी भोगते है।"

चेमेई बेहरा ने सिर हिलाया। बूढ़े की दोनो चकचक करती तुरकी चमक रही थी। बोला, "पाप है यह !"

हरि साहू ने कहा, "और वहाँ के बिचौलिये टाउटरो की बात तो देखो; साधारण आदमी तो सब जगह भला ही होता है, उनको बिचौलिये-टाउटर उकसा रहे है कि इसकी ओर होकर उसे मारो, उसकी तरफ होकर इसे भस्म करो। युद्ध करो युद्ध, नही तो फिर आदमी ही क्या ? वे सब असली बिच्छू है ! इस दुनिया मे घर फोड़नेवालो का वश बढता है, अरे बाबू, आप भला तो जग भला, सो तो नही, वे तो खाली ओर-छोर ढूंढते है कि कैसे झगड़ा लगे। मार-काट, लहू-लुहान होकर आदमी मरे। बुद्धि तो इतनी ही है, और कहते है कि हमारी गोरी चमड़ी है, हम बड़े है, हमारा यह है, वह है, बम है, बुद्धि है। भले आदमियों की बुद्धि को भटकाते है। जब देखो तब झगड़ा, नारद वही जनमे थे क्या ?"

चेमेई ने सिर हिला-हिलाकर कहा, "हाँ, वही पर।"

लुहार किणेई ओझा तभी एक आने का तम्बाकू-पत्तर लेने आ पहुँचा। कहा, "तुम खाली लीलावती घोटते रहो, विदेस की बात सोचते रहो, इधर स्वदेश में, हमारे गाँव मे, पड़ोस में क्या कुछ हो गया, ख़याल तो करो जरा।"

हरि साहू ने कहा, "इधर की बातों का खयाल रखने के लिए तुम लोग जो हो ! मुझमे तो इतनी अकल भी नही, उधर निगाह भी नही।"

बूढ़े किणेई ओझा की आँख पर भौहें जूट की तरह हो आयी, अपने पैने चेहरे को चेमेई बेहरा की ओर मोड़कर उसने कहा, "और तुम भी सुन लो। यह सच बात है कि यदि बड़ा आदमी कर्म करे तो आदमी को मुंह मे मेढक डालकर बैठना नही चाहिए। दो शब्द पूछने ही पडते है। तुम्हारा क्या विचार है ?"

"पखाल।" कहकर चेमेई ने सौदे की पोटली उठायी और चल दिया।

किणेई ओझा ने कहा, "वही सिन्धु चौधरी। हम जानते है बाबू का घर। हाथी मरे भी तो लाख का होता है। पर इधर बाबू की पीठ पर उठा है गूमटा।"

हरि साहू ने कहा, "तुम तो वहाँ हथियार पिजाते हो, गूमटा काट दो। ये लो अपना तम्बाखू का पत्ता। हाँ,...बोलो तो कुली मलिक, तुम्हे क्या लेना है ?"

"बाबा को बुखार है, सागू दो-चार पैसे का।" कुली मलिक ने कहा। बच्चों का-सा चेहरा, बलिष्ठ गठन, कद्दावर।

"अरे, कैसा बुखार है रे ? कँपकँपी होती है ?"

"हाँ, कँपकँपीवाला बुखार है। दाबकर बैठने पर भी काँपता है। उलटी होती है। सिर में दरद की तो पूछो मत, बस।"

"ले यह कोइलाइन की गोली," उसका कुण्ठित भाव देखकर हरि साहू ने कहा, "ले जा, पैसे पीछे देना, बाबू को अच्छा हो जाने दे। जुड़ी ताप को कोइलाइन। तुमसे किसी का पैसा कभी डूबा है कि डूबेगा!"

किणेई ओझा ने कहा, "ये तम्बाकू के पैसे लिख लो, पीछे दे दूँगा।"

हरि साहू ने कहा, "ऐसे 'लिख लो-लिख लो' अगर सभी कहने लगें तो कैसे चलेगा? महाजन को क्या दूँगा?"

गाँव का युवक परिया गुरुजी आ पहुँचा। वह पढ़ाता नहीं है। बाप की खेती-बाड़ी में भी नियमित सहायता नहीं करता। पर गाता खूब है, किणेई ओझा को शाला में बैठकर कभी कोई गीत सुना देता है। घर पर कभी कोई काम करे या नहीं, लेकिन गाँव में सरदारी ज़रूर करता फिरता है। काला छरहरा युवक, सिर के बाल तेल में सने, बालों में आठ-दस लहर बन गये हैं।

किणेई ओझा ने उसकी गाँठ-गँठीली भालुआ देह को परख लिया, कूबड़े की तरह कन्धों को फुलाकर कहा, "दो न, चार पैसे की ही तो बात है, मैं तुम्हें पीछे दे दूँगा। अरे लोहा पीटा और ठाकुर ने पैसे दिये। अब कौन-सी बात रह गयी। हे भगवान्, लो सुनो, सुनकर कान मूँद लेना, जिस दिन से यह गाँव बसा उस दिन से कभी किसी ने ऐसा न सुना होगा। सिन्धु चौधरी ने बेटी को ब्याहा नहीं, पर इधर घर में मगरमच्छ घुस आया। आज आया था वह महान्ती का बेटा, बन्धमूल गाँव से। देखो, बन्धमूल कहाँ, पाटेली गाँव कहाँ। बात तो यह है।"

बात के बीच में ही आ पहुँचा बिका मुदुली। खाँसता जाता है, पिक्का खींचता जाता है एक-एक कर। कहा, "चीनी चार पैसे की, एक आग-पेटी।"

हरि साहू सौदा दे रहा था। बात सुनकर परिया हँस पड़ा, अण्टी से निकाल-कर चार पैसे रखे। बिका मुदुली चौंक पड़ा। बिलबिला उठा, "ओहो, सो कैसे, सो कैसे?"

हरि साहू का चेहरा लालमुँहे बन्दर के जैसा दिख रहा था। दोनों होठों को उसने एक साथ भींच लिया है। छोटी-छोटी दोनों आँखें थिर हैं, जैसे कुछ घिरता-सा दिख रहा है। भौहें, गाल और चौड़े थोबड़े पर रेखाएँ खिंच आयी हैं, इस तरह जैसे पत्थर पर खिंच जाती हैं।

किणेई ओझा ने कहा, "सुनो तो। ये जैसे गाँव की भिण्डी की क्यारी में साहबी रोग लगता है, एक को पकड़ा, फिर दूसरे पर कूदा, फिर और एक को। धरम गया, महत्त्व गया, सब राखकर खा गये क्या करें, बोलो।"

बिका मुदुली ने कहा, "कच्ची हाण्डी, जूठी हो गयी तो फेंको। यही सजा

हो। इसमें फिर पराये बच्चे को पढ़ायेंगे, इसके लिए बैठकर मास्टरगिरी क्या करते हैं, पहले घर की ओर तो निगाह करें।"

परिया हँसा, वैसी ही तरल हिजड़ों की-सी दायित्वहीन बेवकूफी-भरी हँसी। हँसता ही रहा।

हरि साहू ने कहा, "देव तुम्हारे वैरी बन गये, तुम्हारे कारण इस गांव को धरम छोड़ गया, मैंने तो अपने मन की बात खोलकर कह दी, जो करना हो करो।"

वे उसके मुँह की ओर ताकने लगे, अगर आदमी का मुँह वज्र-सा होता, तो वह शायद कुछ ऐसा ही दिखता, मन ही मन परिया सोच रहा था।

किणेई ओझा कसमसाने लगा, उसकी देह में आग लग गयी। दुकान की गद्दी की ओर झुक सूँ-साँ करते हुए कहा, "विधाता ने कैसे छोड़ दिया हमें?"

हरि साहू जमुहाई लेकर हाथ से चुटकी बजाते हुए बोला, "बात यह कि पराये घर की इज्जत पर ऐसी बातें कहने से भगवान् भला छोड़ेंगे? तुम्हें तो अपने सभी छोड गये!"

"तुम सोचते होगे कि यह धरती जलती होगी तब भी तुम गद्दी पर बैठे सौदा तौलते रहोगे, हरि साहू!" किणेई ओझा ने कहा।

"अब तक तो वेचा। किसने चन्दे के पैसे मारे, गांव में कुआँ खुदवायेंगे, पोखर खुदवाना है, सडक बिछानी है, कहकर कितनों ने रुपये लाकर हड़प लिये, मार-पीट की, पर मैं अपनी लछमी की गद्दी से सरका नहीं। तुम्हारा मन न माने तो इधर पैर न रखना। और भी तुम्हारे भाई-बन्द बहुत हैं। जो आयेंगे, खरीदेंगे। और यदि कोई नहीं आया तो दुकान मे ताला झुला दूंगा। डराते किसे हो!"

"अरे तुम तो बड़ी-बडी बातें करने लगे हो। देखते हो भाई, बिका मुट्ठी, पैसा हो तो ऐसे सिर मे पित्त हो जाता है! सुन रहे हो तो पधान भाई..."

उधर से सौरी पधान बूढा गुज़र रहा था, किणेई ने आवाज दी। सुनकर सौरी पधान ने कहा, "ये हरि साहू तो सदा इकरंगा आदमी रहे, जानते ही हो, फिर क्यों उनके साथ लगते हो?" सौरी पधान हरि साहू से बीस रुपये का सौदा उधार लिये बैठा है। इतना कहकर वह चला गया।

किणेई ओझा ने कहा, "नही तो क्या डरें इनसे?"

हरि साहू ने अपने मँझले बेटे को पुकारा, "अरे सण्डू! आना तो, इन्हें कह दे कि जायें। मेरा तो माथा दुखने लगा इनकी बातें सुन-सुनकर।"

दूसरे कमरे से सण्डू आया, आकार में अतिकाय। आदमी देखता रह जाये, किन्तु आँखें झुकी हुई। छाती पर हाथ बाँधे दुकान के आगे खड़ा हो गया, "जाओ बाबू, जाओ, बाबा को उधर कष्ट होता होगा।"

सण्डू बूढे का लाड़ला बेटा है। उसे ज़रा भी झिझक नहीं, उज्र-आपत्ति नहीं, बाप का फ़ैसला उसके लिए पत्थर की लकीर है।

बचपन से सब बड़े हुए। वह भी बढ़ा किन्तु उसकी देह की बढ़ोतरी पता नहीं कैसे साधारण से दूनी होती गयी, ऊँचा चार हाथ से भी अधिक। लोहे के खम्भे की तरह हाथ-पैर, देह में अकूत बल। हरि साहू ने स्वयं उसकी ख़ुराक पर ध्यान दिया। दिन में डेढ़ सेर दूध अकेले उसी के लिए। सण्डू ने ध्यान दिया परिश्रम पर। हल चलाना, माटी खोदना, काठ फाड़ना, बैलगाड़ी में चीज़ें लादना, कीच में बैल थक जायें तो आप ही गाड़ी को धकेलना, बोझ उठाकर रखना—ये ही सब थे उसकी अपने आप की कसरत। किन्तु वह कभी बल का घमण्ड नहीं दिखाता। एक प्रकार की विनय उसे झुकाये रखती है, परिया जैसे छोकरे जब तितली जैसी छाती ठोककर बाँह उठाये चलते है, तब सण्डू चुपचाप मुँह नीचा किये चला करता है।

किन्तु उसकी देह के बल का चमत्कार इस गाँव की कहानी बन गयी है। शहर में एक बार वह बैलगाड़ी लेकर माल लाने गया था। पास के अखाड़े में कुछ कुश्ती के दावँ-पेंच चल रहे थे। वह वहाँ रुककर देखने लगा।

"अरे यह देहाती क्या हाथी के जैसा फूला हुआ है, देखें तुझमें पखाल, माण्डिया खीर, कुल्थी का कितना ज़ोर है।" कहकर लड़ैत मुर्गे की तरह प्रधान मल्ल उसे बाँहों में भर खींच ले ही तो गया, और कहने लगा, "देखो भाइयो, देह कुप्पा होने से क्या आता-जाता है। वहाँ ताकत तो होती नहीं, दावँ ताक़त से भी बढ़कर होता है। देखना, यह कैसे केले के गाछ की तरह धड़ाम से गिरता है।"

सण्डू ने *बहुत अनुनय-विनय की, छटपटाहट दिखायी*, पर मल्ल ने उसके कन्धे पर, बाँहों पर, अपनी हथेली थपथपाकर कहा, "अरे घबराओ नहीं, बच्चा, तुझे कोई खा थोड़े ही जायेगा। खाली लोगों को बताने के लिए तुमपर दावँ आज़मा लूँ। तुम्हारा कुछ होगा नहीं। पकड़ो मुझे...हाँ,मुझे फेंको..."

"आपने मेरा क्या बिगाड़ा है, जो फेंकूँ आपको ?" निरीह सण्डू ने कहा।

"*अरे, यह खेल है, ख़ुद उस्ताद बुला रहे है तुझे, तेरा बड़ा भाग्य है।*" किसी ने कहा, "हाँ भिड़ जा, भिड़ जा, डर मत यार !"

सण्डू ने कितनी ही आपत्ति की, पर मल्ल ने उसे भींच लिया। दोनों पैरों के बीच पैर डालकर एक मोड़ लगाया, और चिल्लाया, "ये देखो हाथी गिरता है, हाथी गिरता है..."

सण्डू को ज़रा दर्द-सा हुआ। पलक झपकते ही उसके देह-यन्त्र में हलचल हुई, और फिर एक ज़ोरदार 'हूँ'।

और उस मुर्गे मल्ल को अधर में यों उठा लिया जैसे बिल्ली चूहे को दबोच

"रहने दो," सण्डू ने कहा, "अपना क्या जाता है ?"

"मैं देखता हूँ, अब इस गाँव की श्री ही समाप्त हो गयी। ये सब अमंगल के लच्छन है। लोगो की अक्ल तो देखो! खैर जो हो, उन परमानन्द माधव की इच्छा!" सण्डू ने कुछ नही कहा।

वात बढकर फैल गयी गाँव-भर मे। सभा-समिति कुछ हुई नही, किसी बडे दल मे भी कोई चर्चा नही हुई। दो जनो मे चर्चा छिड़ी, एक ने दूसरे पर सन्देह किया कि यह किसकी ओर का है? यह कितना जानता है? मुसीबत तो खडी नही कर देगा! अतः बात को घुमा-फिराकर आधी-अधूरी कहा और फिर श्रोता पर भरोसा हुआ तो थामने-सामने पूरी वात।

छोटे-छोटे दलो मे वँटकर औरतें आपस मे बोल-बतिया रही है, किसी के बरामदे मे, तो कोई भीत के पीछे। कोई वाडी मे तो कोई कुएँ के पास। कोई झुरमुटों के पिछवाडे आमने-सामने निवटने वैठते समय। इस तरह सब ओर एक कहानी तैयार हो गयी। मानव चरित्र मे है साधारण अविश्वास, सन्देह, कुसस्कार, अन्धविश्वास, अपने मन मे सात ताल गहरे कीच मे दवी लालसा का दु स्वप्न। किस गाँव से किस वहू के साथ आयी कितनी पुरानी कलक की कहानी, कितनी नानी की कहानियाँ। पात्रानुसार इन सबमे से कुछ-कुछ मिलाकर नाना स्थान पर नाना रूप मे कुत्सित अपवाद गढ़ा जाने लगा, और पख लगकर इधर-उधर उडने लगा।

केला की स्त्री ने भी यही कहानी कही थी। उसकी बात—नायिका का नाम उकी, नायक का नाम बताया नही—वह खाली 'मेहमान' था। कुआर पूनम को पकड़ में आये थे दोनो। बाड़ी की ओर पोखर के किनारे बाँस के झुरमुट के उस ओर चाँद की ओर मुँह किये बातें कर रहे थे। वस्ती की कोई लुगाई आयी थी। थोड़ा हटकर घाट पर वरतन माँजने वैठ गयी। पानी मे कलकल हुआ, फिर भी उन्हें होश नही।

"वह चीज़ ही ऐसी है! कान भी वहरे हो जाते हैं।" गहरी साँस छोड़कर केला की स्त्री कहती गयी, "छाती धक-धक कर रही थी, कान साँय-साँय, बस ख़ाली भाँ-भाँ! मानो देह में कोई गरम तूफान वह रहा है, उधर वाहर—मानो हाथ-पैर जड़, अचल, सरकने को भी मन नही करेगा—"

वायें-दायें सिर हिला-हिलाकर थाँव [illegible] वह कह रही थी, मानो अपने आप उसने [illegible] गह [illegible] एक-दूसरी का मुँह देख दवी हँसी हँस रहीं [illegible] है, अ [illegible]

"पत्थर पर सटे बैठकर जब वे घुसर-फुसर कर रहे थे, और होंठों में पान दबाये एक-दूसरे का लेन-देन चल रहा था, मेहमान कह रहा था, हम ब्याह करेंगे, नही तो मैं जीवन त्याग दूँगा। उकी कह रही थी कि मेरा भी यही हाल है। पर यह विधाता क्या सचमुच करने देगा ? ठीक तभी घाट पर गयी उस लुगाई ने आवाज़ लगायी, 'यह बाड़ी की ओर कौन है? माँ, देखो तो सही !' वह शहरी मेहमान—वही जो कबी बड़ा पढेसरी—उसका धीरज पानी हो गया, कि बस एकदम दौडा। और उकी ? वह बेचारी, खड़ी-खडी, वही धम से गिर पड़ी। कि फिर—"

उसके बाद क्या हुआ सो रहा अगली बार के लिए। साइकिल चला-चलाकर डाकिया आकर बाहर रुका, उसके पीछे-पीछे बस्ती की आठ-दस औरतें, दस-पन्द्रह बच्चे। सुभद्रापुर से आया है, आकर पहुँचते-पहुंचते दिन ढलने लगा। पहले जो पुराना आदमी आता था वैसा नही है यह, वह तो चार दिन के भूखे की तरह मरीज-सा नजर आता था। चौड़े कन्धे और छाती पर देह पर मास और चमड़ा मानो ढीला हो झूल रहा है, सारे चेहरे पर कील-सी दाढ़ी, सिर पर बालों का झोंटा, मानो टोकरी उलटी है। उसकी मैली कमीज़ और ढीला-ढाला पैंजामा ! और उसके गोल चेहरे की भंगिमा भी विचित्र। मुँह के कोने से पान की पीक, मानो ढीला होने के कारण बह रही हो, उस तरह से धार छूट रही है। मुँह पर हँसी। दोनों ओर हाथ बढाकर जैसे वह पान एक के बाद एक लेकर मुँह मे भरता जाता है। वैसे ही झुकता हुआ बच्चो के सिर पर हाथ फेर देता है, टामकी-सा पेट दिखने पर अँगुली गोद देता है, हँसता और हँसाता है।

नही, नही, यह सिर्फ़ दूसरा ही नही है दूसरे ढग का भी है।

केला की स्त्री ने देखते-देखते निगाह की। उस दूसरे का वर्ण था भूने हुए मूँग की तरह। सारे माथे पर रेखाएँ उभर आयी थी। उसके गाल एक ओर ढले रहते, वह बड़ी-बड़ी आँखें फैलाये मानो सबकी सुख-दुख की बातें आँखों के रास्ते पी जाता है। आहिस्ता-आहिस्ता सिर हिलाकर, सुनी बातों की पड़ताल करते समय उसके चेहरे पर सहानुभूति के तरल भाव फैले रहते, वह खाली चिट्ठी-पत्री, मनीआर्डर लेकर ही नही आता, वह लाता सहानुभूति, आशा। परत पर परत से बना चमड़े का काला थैला कन्धे पर झुलाता आता। उसमे हँसी-रुलाई की कितनी कहानियाँ होती, इससे बढकर उसके परिचित चेहरे पर सर्व सह्य अभय मुद्रा और आशा-विश्वास होते।

"क्या लिखा है ? बुखार हुआ है, यही तो ? वह कुछ नही है, अब तक बुख़ार छूट गया होगा...फिर चिट्ठी आती ही होगी..."

"रुपये नही भेजे हैं ? भेजेगा, भेजेगा, चिन्ता मत करो। आजकल ख़र्च कैसा बढ गया है, देखते तो हो। किसके पास पैसे बचते है इस जमाने में ?"

"चिट्ठी लिख नहीं रहा है, उसके लिए चिन्ता कर रहे हो ? चिन्ता क्यों करते हो ? चिट्ठी अपने आप आयेगी। काम की घड़ी है, काम से आकर घर में आते तक तो समझ लो थका-हारा, आदमी चैन से बैठे तब तो दो हरूफ़ लिखे !"

"क्या हुआ ? ओह, मरने की चिट्ठी आयी है ? हाय, हाय ! कितने दुख की बात है ! मेरा ही भाग आज बुरा है। मैं इतनी बुरी खबर लेकर आया ! पर बेटी, भगवान् के किये में किसका क्या दस है ! दुख-सुख, सबके दाता वो ही हैं !"

कोई लड़का उसकी साइकिल की घण्टी टिं-टिं-टिं कर रहा है, चमला। छनछनिया काला छरहरा इकहरा आदमी। तीस का भी नहीं होगा। सिर में सीधी माँग। दोनों ओर कांटों में लगने की तरह चमक रहे हैं सिर के बाल। ठीक नाक के नीचे ढंग से कटी मूँछें। हरी पोशाक, देह पर फबती-सी। जरा भी छोटी-बड़ी नहीं। पतला तीखा चेहरा, मानो पत्थर तराशा गया हो। मन के भाव, पता नहीं, कितने तल में छुपे हैं। वह काम का आदमी, डाकिया !

"सबको बुला लो, आओ बेगा-बेगी ले जाओ, भाई ! मुझे बहुत काम है। यहाँ सब दे-दिलाकर फिर अगले गाँव भी जाना है।...हाँ, जेमी बेवा, जेमी बेवा कोई है ! ओ बचुआ, देख मेरी साइकिल से न लग। हाँ, तो जेमी बेवा, लो अपनी चिट्ठी। सुदर्शन दास। वामन महान्ती, मनीआडर है पच्चीस का, गाँव के चौकिया को बुला ला, चिन्हाट देगा।"

"क्या, चौकिया चिन्हाट को दरकार है। अरे हम भले आदमी हैं। चिहन्पाट देने से क्या नहीं चलेगा ?" सुदर्शन दास ने पीठ की ओर अपनी लम्बी गरदन मोड़कर गले में एक बड़ा शंख-सा बनाकर पूछा। वे आगे तहसील पंचायत में काम करते थे। बोले, "तुमसे पहले जो आता था, वह तो कभी चौकिया को नहीं खोजता था..."

"इसीलिए शायद वे ससपेंट हुए हैं। मनीआडर का गोलमाल। किसी ने किसी भले आदमी को दिखाकर किसी दूसरे के रुपये मार लिये। पता नहीं क्या हुआ कि फँस गये। आजकल इन भले आदमियों का विश्वास नहीं !"

"क्या बोले, क्या कहा ? बोलना तो एक बार फिर से !"

"अरे, मेरे गेण्डुना ! है रे, काका के घर तुझे टाइफिट बुखार हुआ...अब मैं क्या करूँ ? मेरी तो अक्ल काम नहीं कर रही।" सिर पर हाथ रखे व्याकुल हो बिसूर रही है जेमी बुढ़िया। शशी उसकी चिट्ठी पढ़ दे [illegible] । शशी, सुदर्शन दास का लड़का माइनर तक प[illegible] ‑चार [illegible] ड़कर घर बैठा है। पन्द्रह वर्ष का है। डाकि[illegible] है ! आदमी के कान के पास ऐसे चीखने [illegible]

"अरे चुप भी रह !" [illegible] न दास ने

नहीं। उसके बेटे को टाइफाइड हुआ है, चिट्ठी आयी है, वह रोयेगी नहीं तो क्या हँसेगी ? तुम अपना काम करो न ?"

"नही, मेरा काम अटक रहा है। तभी तो कहता हूँ। बस कर बुढ़िया, दवा खाने पर ज्वर छूट जायेगा।"

"अरे, ऐ ! किसे बुढ़िया-बुढिया कह रहा है, ये गेण्डू की माँ है ?" एक बुढ़िया ने आपत्ति की, "यह भी कोई बात है, हमारे आगे ब्याह कर आयी। कितने दिन की बात है भला, गिरस्त चला गया। दुखियारी है तभी तो इतने दिन में सूख गयी, नही तो अभी से बूढ़ी हो जाती ?"

"हाँ, सदेई गोछेइत, उनका मनीआटर आया है बीस रुपये का, भई जरा बुला देना तो, उनका घर किधर है ?"

बूढे बासू पटनायक ने बात पकड़ी। हाड़-चाम सूख गया है। एकदम डोकरा-बूढा। किन्तु है खूब पक्के हाडोंवाला बूढा। सब मर गये, यह बूढ़ा अकेला बचा है। अपने हाथों हांडी चढ़ाते है। बोले, "तुम बाबू भले आदमी हो, दायित्वपूर्ण करमचारी बने हो, क्यों ? वह जो पाण (एक छोटी जाति) है, यहाँ कैसे आयेगा ? मान गया, मानता गयी। जमाना ही दूसरा हो गया। तुम ऐसा क्यों नही करोगे बाबू ? देखते नही सदा पाण के नाम से बीस-बीस का मनीआडर आता है, और इस बसती मे किसी का कुछ नही रहा।"

"सहा नहीं जाता। हूँ !" छुरी भोकने की तरह युवक डाकिया ने दिया एक खेंपा, "आदमी बिदेस जायेगा, मेहनत कर पैसा भेजेगा। गाँव के लोगों का देख-देखकर खून सूखेगा, यह जमाना ही ऐसा आ गया। देना, देना मौसी। अपना रोना बन्द करो !"

सदा के बेटे हुदा ने भेजे होगे ! लोगों मे बात चली। हुदा ने अपने मामा के साथ जाकर जहाज मे चाकरी की। कैसी लड़ाकू जवान की-सी उसकी छाती हो गयी। यही कोई साल-भर पहले जाडे में आया था। कोट-पैण्ट, जूता-टोपी, गाँव के बीच चलता था मच-मच जूते चमकाता हुआ। कहता था, विलायत से घूम आया है, मेहतर है जहाज़ में। महीने मे बीस-तीस भेजता है, सदा ने रुपये जोड़कर ज़मीन ख़रीदी है। स्वयं भी खेती करता है।

बासू पटनायक दबे नही। बोले, "खूब हरिजन की तरफ़दारी कर रहे हो ? आप ख़ुद भी वही हो क्या बाबू ? घर कहाँ है ?"

साफ पैने-पैने दाँत दिखाते हुए हँसकर डाकिये ने कहा, "हमें भी हरिजन कहो, आपत्ति नहीं। पर बाप-दादे के जमाने से गले मे पडी है जेवड़ी। इसी पोशाक में है। यह किसी का कुछ बिगाड़ती नही। जात के महापात्र, गोत्र बच्छस, घर चन्दनपुर शासन, पुरी की ओर है।"

"बच्छस ?" बासू ने मजाक के लहजे में पूछा, "बच्छस यह क्या हरिजनों का

गोत्र हुआ रे बाबा ? आजकल बस, जात-जात की बातें सुनो..."

"यह एक ऐसा ही गोत्र है, पर पुरी के ठाकुर राजा उस गोत्र के लोगों के पैरों पड़ते हैं। तो, यों समझो कि वे राजा भी तो चाण्डाल का काम ही करते हैं। जैसा राजा, वैसा ही पुरोहित।"

"अच्छा, अच्छा, वच्छस गोत्रीय सामन्त ब्राह्मण। महाराज के राजपुरोहित —ऐसा बोलो न! बात को रहस्य क्यों बनाते हो ? तभी तो इतना तेज है।"

डाकिया हँस पड़ा, "तेज ही होता तो यह चाकरी क्यों करता ? पेज[1] की तो कमी हो गयी, उधर पान का बगीचा बिगड़ गया, फिर तेज आयेगा कहाँ से ? छोड़ो, देर हो गयी, गोच्छेइत के इधर आने से कुछ अपवित्र हो जायेगा तो मुझे ज़रा राह दिखा दो। मैं उसके घर तक जा आऊँ। ठीक है न ?"

उधर सुदर्शन दास बेटे के हाथ से चिट्ठी लेकर पढ़ रहे हैं, जेमी बुढ़िया की आँख से आँसू झर रहे हैं, बुढ़िया सुबक रही है। "अरे, शशी," दासजी ने आवाज़ ऊँची कर कहा, "तूने क्या पढ़ा, क्या कहा ? गेण्डू को टाइपिस्ट का काम मिला है, क्या करे, गेण्डू को तो चाकरी मिल गयी। ओ गेण्डू की माँ, अरी सुन, तेरा बेटा नौकरी पा गया, और तूने क्या बाँचा रे शशी ! भला तुझे क्या मुफ़्त में पढ़ाया था रे ! चाण्डाल, ख़ाक पढ़ाई की, बाँचता है टाइफाड !'—'

शशी दबनेवाला नहीं। चिट्ठी खींचकर फिर ज़ोर से पढ़ा, "गेण्डू को टाइ-फाइड बेमारी हुई है—यह देखो ना—।"

"हूँ, बेहया कहीं का, बेहयों को भी कहीं लाज-सरम होती है !" सुदर्शन दास ने कहा, "टाइपिस्ट को पढ़ता है टाइफाड। काम मिला है, पढ़ता है बीमार पड़ा है। ऐसे ही आलू को भालू पढ़कर परीक्षा में लिख आता है, एक-एक कर तीन बार फ़ेल। छोटी-सी माइनर भी नहीं हो सका तुझसे। क्या कहता है ?"

जेमी बुढ़िया के होंठ थरथराकर भगवान् का नाम ले रहे थे, उसकी रुलाई थम गयी थी, शशी लजा गया है।

"देखो मौसी," डाकिये ने कहा, "बेटे को तो चाकरी मिल गयी, और तुम रो रही थी, क्यों ? जा मिठाई ला अब।"

"कल्याण करें भगवान्, भला हो बेटा !" जेमी बुढ़िया ने कहा। उसकी आँखों में फिर आँसू छलछला आये। "दस बरस का हुआ तो बाप खा गया, कान्हा की दया से जो भी दो आखर सीख गया, तो संसार में रह पावेगा, सिर उठाकर खड़ा हो सकेगा। किसे विश्वास था ?"

नया डाकिया हठात् गम्भीर हो गया। थैला बन्द कर उठ खड़ा हुआ। बोला, "बाकी रह गये दो मनीआर्डर। कोई ज़रा बाट दिखा देता, नहीं तो फिर अगली

---

1. पेज—माँड़।

पारी तक टल जायेंगे। चलो चलें।"

उसके पीछे-पीछे भीड़ टूट पड़ी।

अधमुंदे किवाड़ों के पीछे से केला की स्त्री ने फांय करते हुए एक गहरी साँस छोड़ी। उसी की अनकही बात को स्वर देते हुए-से घेर लिया गाँव के और तीन-चार जनों ने। डाकिये से और ऊँची आवाज में पूछने लगे, "मेरी कोई चिट्ठी नही ?" "मेरी भी है कुछ कागद-पत्तर ?"

केला की स्त्री ने देखा, डाकिया चला जा रहा है, उसका कुछ भी नही आया।

किणेई ओझा हरि साहू की दुकान से लौटकर अपनी शाल में बैठा और जो भी उस रास्ते से गुज़रा उसके सामने जी खोलकर अपना मत व्यक्त करता रहा। उसके कहने का उद्देश्य एक ही था—सिन्धु चौधरी के घराने के बारे मे बदनामी फैलाना।

बिका मुदुली उधर से जा रहा था। अपने आप को प्रचारक नियुक्त किये बैठा किणेई ओझा तभी गाँव के चौक को सम्बोधन करता हुआ कहने लगा, "ओहो, देखो, जुग ने क्या नही कर दिया! अभाव में पड़कर स्वभाव नष्ट हो जाता है।"

बिका मुदुली उस बात के मन्त्र से शाल की ओर झुका आ गया। तुक मिलाता हुआ कहने लगा, "भई कलजुग है, भई कलजुग है रे! मालिका[1] में थोड़े ही झूठ लिखा है। घर-घर में आँचल में लोग आग छिपाये बैठे है। कहें तो किससे? देखते हो न, इतना धन-दरप खरच कर जोगिया की ख़ातिर छोरी लाया। बाप के घर लड़की गयी, और बस, फिर आयी ही नही। अब उसका बाप रट रहा है कि मेरी बेटी को तलाक़ देकर छोड़ दो, उसका तेरे घर में जाने को मन नही है, दूसरा घर करेगी।"

"अरे, बस अपनी ओर ही आँख है। और ये बड़े-बड़ों को देखो तो सही, उनकी जो बात—। लोग उन्हें देखकर सीखते थे, वे रचने लगे अब नाटक। उनको देखकर गाँव-भर का आचार भ्रष्ट होगा कि नही?"

"हाँ भई, हाँ-हाँ," बिका मुदुली ने हामी भरते हुए कहा, "बात तो यही है। तेरे-हमारे घर की बात दूसरी है, बड़े लोगों के घर की बात और है।"

किणेई ओझा के मुँह का स्वाद जैसे बिगड़ गया हो, उस ढग से बोला, "घर

1 मालिका—पद्य में रचित भविष्यवाणियो का सकलन।

और घराना ! फूटी भीत पर बकरी कूदती फिरती है, जमाई जी थाल पर बैठे हैं या ढेकी की पूंछ पर बैठे सूप से मूडी फटक रहे हैं। स्नानघर में पधारे हैं या विराने में कोई जगह ढूंढ रहे हैं। ले-देकर केवल बचा, था नाम का महत—वह भी गया।"

बिका मुदुली ने सिर हिलाते हुए कहा, "ठीक कह रहे हो।"

उधर से जा रहे थे गांव के छोकरे अर्पतिया और परिया। किणेई ओझा ने उन्हें उकसाने के लिए कहा, "आजकल के छोकरे मे दम नही रहा। हमारे समय मे कोई होता तो हथौड़ी की चोट मे परलय। अब के छोकरो की तो केवल बातें ही..."

अर्पती और परिया को यह कहानी नयी नहीं लगती। ताव खाकर अर्पतिया ने कहा, "हत्थे चढोगे कभी तो एक ही धौल मे छठी का दूध याद आ जायेगा।"

खांसता-खांसता सोरी पधान आ पहुंचा, कमर से झुककर सामने लकड़ी पर बोझ देता हुआ बूढ़ा घिसटता-घिसटता आगे चल रहा था। केवल हाड़ों का ढांचा-भर है। सपाट चिकना गजा सिर, धँसी हुई आँखें,...खोखला मुँह। कहने लगा, " 'नअंक' के अकाल मे यह घर कैसा था सो मैंने अपने बाप से सुना है, और आज देखता हूँ। इस घर की सिरी कब की टूट गयी, अब ये सारे विपटन। आज कोई अगर बाहर से गांव मे घुसकर किसी की पिटाई कर दे तो तुम लोग खाली आँख टिमटिमाते देखते-भर रहोगे न, कोई हूँ-चूँ भी नही करोगे मुँह खोलकर। तुम लोगों से भी कहीं कुछ हो सकता है !"

अर्पतिया आगे बढ़कर गरजा, "ऐसा न कहना, दादा ! हम मर नहीं गये हैं, ज़िन्दा हैं। अपने गांव पर बात आयेगी तो हथियार चल जायेंगे।"

"होः ! हथियार चलाओगे, तुम या तुम जैसे और लोग !" अविश्वास से हँसकर सोरी पधान ने कहा, "तुम सब तो थे उस दिन, मेरा घर कुड़क कर खाने के बरतन भी ले गये, बच्चे-औरतें कितना रोयी-पीटी, तुम्हारी मिन्नतें की। कितनी सौगन्ध-शपथ डाली। आया कोई मेरे दुआर पर ? क्यों नही आये ? कहाँ गये थे तब ? डर गये ! कही पुलिस न पकड ले जाये ! बोलो, क्यों डर गये ? तुम्हारा रकत पानी का है इसीलिए तो। क्यों पानी है नसों मे ? तुमने बचपन से कुछ खाया नही, पीया नही, तभी तो ! एक बार मे एक इलसी मैं अकेला हजम कर जाता था, दो-दो कांसे उडद की दाल, चिवड़ा सेर भर पेट मे डालकर एक चक्कर खेत का मार आता, तब तक तो पता ही नही कहाँ गया। तुम्हें कहाँ से मिलेगा ? साठ पूरे होने तक मैं दस सिर का इतना बडा काठ का पाटा बांधकर रावण बनता और नाचता था, देह मे क्या मामूली बल था !"

पूँछ के बल फन फैलाये पड़े होने की तरह गरदन मोड़े खड़ा था नरककाल, दोनों हाथ की मुट्ठियों से लकडी पकड़े था। "अरे तुम लोगों से कुछ होना-जाना

है नहीं, ठकठक होकर कमर टेढ़ी हुई जा रही है, छाती पर पंजर के हाड गिन लो चाहे, ऐसे मुरदार कहीं दावँ साधेंगे ? गया, वह जमाना और नहीं लौटेगा । अरे याद कर, गाँव के बीच पड़ा वह सतमना पत्थर का पिण्ड है । पड़ा है तो पड़ा है । कौन अब उसे उठा सकता है ? मेरी तो नित्य की कसरत चलती थी उसके साथ । नीचे पैर पसारकर घुटने जोड़कर बैठता, फिर सामने झुककर कोहनी से हथेली तक उस पथरीली गेंद को दोनों ओर से उठा लेता, छाती पर रखता, सीधा होता, खड़ा होता, ऊपर उठाता, कभी पीठ पर घुमाता, कभी जांघ पर तो कभी बाँह पर । मुझे तो लगता फूल की तरह । सच मानो वह कोई पत्थर नहीं, जैसे गोबरा की माँ हो—"

गोबरा उसका बड़ा लड़का है । हँस पड़े सब ।

आँख तरेरकर सोरी पधान ने कहा, "हँ-हँ कर हँस दिये ! गोबरा की माँ को देखा भी है तुमने जो हँस रहे हो ? कितनी भारी औरत थी, जानते हो ? अब कहाँ वैसी ? आज की बहू, भावजें है, कोई उसके काम का पासग-भर भी काम करेगी, हूँ ! बस हँस लिये ! उस जमाने की साधना-तप ! तब था मलखम्भ, बनेटी घुमाना, वो फरसे का खेल, कहाँ है वह सब आज ? तुम केंचुए हमारे आगे ताव दिखाते हो !"

किणेई ओझा, बिका मुदुली साक्षी हैं, वे जानते हैं कि सोरी पधान कितना बड़ा आदमी हुआ था । उन्होंने कुछ कहा नहीं । परिया ने कहा, "हाँ-हाँ, बहुत सुना है, इतने बड़े पहलवान थे कि हाण्डी भर भात खाते थे । पत्थर सरीखा पोड़पिठा खाते थे । सब कुछ तो करते थे, फिर जमींदार के प्यादे के सामने बकरी क्यों बन जाते थे—डरकर अपना राज, अपनी जमींदारी, अपनी जमीन-जयदाद सब परायों को खिला-पिलाकर तुलसी माला फेरते थे, सो क्यों ? तुम तो सात मन का पत्थर उठाते थे न, पर तुम्हें साहब लोग बकरी बनाये रखते थे, माना कि हम बैंगन तोड़ने को लाठी बढ़ाते हैं, पर हमारे जमाने के ही लोगों ने उन साहबों को दरिया पार कराकर देश को स्वाधीन किया ।"

सोरी पधान ने उत्तर देने के लिए मुँह खोला, किन्तु, इस नासपीटी खाँसी ने ऐसा दबोचा कि बस बेदम कर दिया । आखिर वह बोला, "और किसी दिन जवाब दूँगा ।"

चला गया उस जमाने की रामनवमी का रावणेश्वर, किन्तु अब वह रावणेश्वर नहीं रहा । किणेई ओझा और बिका मुदुली दोनों ने परिया को गाली दी । किणेई ओझा ने तो कहा, "तू कल का छोकरा है परिया ! तू इतना बड़ा आदमी हो गया जो गाँव के बड़े-बूढ़े बुजुर्गों से भी ठट्ठा करता है ।"

अर्पातिया ने कहा, "बूढ़े ने वैसे ही ताव देकर बात कही, तभी तो, नहीं तो कौन कहने जा रहा था ? छोड़ो । अब उस बारे में क्या करें—बताओ । पहले इस

सिन्धु चौधरी को अलग किया जाये पांत से।"

विका मुदुली ने कहा, "करेगा कौन? यही तो ठहरा ठिकानेवालों का घराना। ये हमारे आदमी भी तो पहले वहीं जाकर उनके पैरों पर लोटे-पोटेंगे।"

किणेई ओझा का कहना था, "पहले उनकी यह चटशाला तो उठ जाये। जिसका अपने घर पर जोर नहीं, वह फिर क्या बच्चों को सँभालेगा, उससे क्या कोई बुद्धि या अकल सीखेगा?" विका मुदुली ने हामी भरी, "यही तो हुई उचित बात!"

परिया ने कहा, "क्या कहते हो! हूं, चटशाला उठाना भी कोई काम है? एक दियासलाई की तीली उठाने भर भी नहीं।"

किणेई ओझा ने टोका, "पगले, इसी का नाम तो है बचकानी बातें करना। तुम्हारी बुद्धि को असली आदमी की याद चाहिए।"

परिया ने बात टालकर कहा, "वैसे ही कह रहा था। और..."

अपर्तिया ने कहा, "छोड़ो यह बात। वैसे नहीं। गाँव के पाँच भाई जब कहेंगे कि इनकी चटशाला में अपने बच्चे को नहीं पढ़ायेंगे तो क्या ये उन्हें हाण्डी में भरकर थाने ले जायेंगे?"

किणेई ओझा और विका मुदुली दोनों उठ खड़े हुए। "हाँ-हाँ, यही ठीक रहेगा।"

किणेई ओझा दबी हँसी हँसकर परिया का हाथ खींच, चल पड़ा, कहता हुआ, "तू बड़ा मुँहफट है। किसी काम का नहीं। आ चला आ, मालणिआ को खोज लें, उसके बिना कोई काम होगा नहीं।"

विका मुदुली ने किणेई ओझा से कहा, "अबकी देखना।"

किणेई ओझा ने गाँजे की चिलम निकाली। 'बम भोले' कह अपना दम खींचकर विकी मुदुली की ओर बढ़ा दिया और बोला, "ये सारे घर यों ही टूटते हैं, ऐसे ही एक फूँक में जाते हैं। ये हमारा रक्त चूसते थे, हम उनका नाम भी सोख लेंगे। डरेंगे किससे, भगवान् है।"

रात में छवि की माँ सदा की तरह बेटी को बगल में लिटाये सोयी थी। नींद जल्दी आ नहीं रही थी।

मन ही मन कितने देवी-देवताओं की मनौती कर रही थी। दिख जाता था बटेश्वर का पुरानी ईंटवाला शिवाला, वहीं जहाँ गर्भगृह से चमग[illegible] के झुण्ड चीं-चीं करते उड़ जाते हैं। चमगादड़ों [illegible] ोर ग[illegible] ने नीचे हुवा। एक-एक सीढ़ी पार कर उतरते हैं [illegible]

शिवलिंग, उसपर अष्ट धातु का नाग फन फैलाये है। एक साथ पड़ा है हरे-हरे वेलपत्रों का ढेर, सफ़ेद-सफ़ेद गयश, धतूरे के फूल, सफेद आक की डोडियाँ, गुच्छा-गुच्छा तुलसी पत्र और तुलसी के फूल, मरुआ, चमचमाती लवनी और दूध-पानी, मन ही मन वहाँ घी का दीया जलाती और झुक जाती चिकने लाल पत्थर के नान्दिया के पैरों मे। ट-टं कर गर्भगृह को कँपाते हुए बजता घण्टा, दीये की लौ मानो चमक पड़ती।

फिर लगता, मानो उनसे उनकी बेटी को कोई छीन लेने आया है, सण्डासी की तरह लिपटती जा रही थीं दोनों बाहुएं। एक छोड़ दूसरी है नहीं उनके पास, उतने में ही उनका सब कुछ है। आधी रात गये नीद के झोंके मे ही आँसू वह रहे थे, तकिया भीग चुका था, साँस खर-खर चल रही थी।

छवि सोयी थी। वह वार-बार करवट बदल रही थी, वार-बार उसकी नीद टूट जाती।

तब वह टिमटिमाकर चारों ओर आँख घुमाती। लगता, मच्छर-खटमल काट रहे हैं, तिलचटे सूं-साँ करते भागे जा रहे है, परिचित घेरे में अनजान आतंक से देह काँप उठती। वह मुँह ढाँप फिर सो पडती।

पैर की चोट पर वही पट्टी बँधी है, वही, जो किसी की पहनी हुई धोती से चीरकर निकाली गयी थी। बार-बार मन उधर ही फिसल जाता, चेहरे के सामने उसी आदमी की स्मृति आकर खड़ी हो जाती। छवि डरते-डरते ऊपर की भित्ति पर उसका मुँह-आँख देखती, सूं-सो! अपनी ही साँस में तूफान-सा खडा होकर स्नायुओं मे ज्वार की लहरें फैल जाती। तभी याद आता, यही माँ है, उसकी बगल में सोयी हुई। वह सहज होने की चेष्टा करती।

दूसरे कमरे मे सिन्धु चौधरी। खाट के नीचे थोड़ी-सी अरवी, और कुछ आलू पडे है। एक धान का कोठला, बाँस की खपच्चियों से बने टोकरे मे धान है। छीके पर हाँड़ियाँ झूल रही है, छत से। खाट पर टूटी चटाई पर गुदड़ी बिछी है। उसपर पड़े हैं वे। किस अतीत में एक पलग तैयार किया गया था। तब वे हर महीने नगद रुपये पाते थे। हवेली के घर इतने ढहे न थे। शौक था, मलमली धोती बाँधते थे, चादर के साथ सफ़ेद फरफराता लम्बा कुरता पहनते थे। पटली टाँगनेवाले लोग थे। बिछावन सजा देने, या बाहर निकलते समय कन्धे पर गमछा डाले हाथ में वड़ा पान का डब्बा लिये चलनेवालों की कमी न थी। लोग थे सब धोया-उजला, साफ़-सुथरा करके रखने के लिए। धन था, यश था, क्षमता थी। लोग यों चर्चा करते—"वड़े महाराज ऐसे कह रहे थे..." "वड़े महाराज का तो ऐसा विचार..."

और तब था देह में बल और यौवन। गाँव के चित्रकार ने उनकी छवि आँकी थी—बिल्कुल साधारण वेश में। खाली देह, कन्धे पर एक गमछा, हाथ

में नागेश्वर की डाली, जिसमें दो फूल और चार पत्ते थे, होंठों पर बांकपन, आँखों की भंगिमा में थोड़ी-थोड़ी कौतुक-सी भावना । उस चित्र को दीमक खा गया। न चित्र रहा, न चित्रकार ही। उस ज़माने की पलग अब भी है। कहीं साबुत तो कहीं छेद । जगह-जगह से रुई निकल आयी है।

छवि अबकी ब्याही जायेगी । बहुत दिनों से यह धारणा उनके मन में आ गयी है।

छवि की माँ जब उसके शादी-ब्याह की चर्चा छेड़ती, रात में खाट पर लेटे-लेटे, तो उसके बचपन की बातें याद आ जाती । लगता इन कुछ ही बरसों में कितनी ओर से वह बदल गयी है । पहले चुहिया जैसी इत्ती-सी तो थी। यहीं बिछौना उसके मूत से भरा रहता। कैसे धीरे-धीरे बड़ों की तरह बोलना सीख लिया। कितना हँसाया करती थी।

दिन सरकता आ रहा है। छवि चली जायेगी। छवि की माँ की बातें उनके मन में गूंज रही थी और लगता था जैसे आगामी घटना की गन्ध उनके चेहरे को छू रही है।

मन में एक और रागिनी फैल जाती। इस बड़े घर के टूटने की रागिनी। आदमी चले जाने की, अवस्था सकुचित हो आने की। तब उसी पुरानी खाट पर पुरानी सेज पर सोकर वे बाइस्कोप देखते।

स्कूल में पढ़ने जाने की बात आयी। दादा थे, बार-बार मना कर रहे थे। कह रहे थे, इस भाषा को छूना नहीं, यह पढ़ाई मत पढ़ना, यही आख़िर में तुम्हारा सर्वनाश करेगी, देख लेना। पिताजी ने नम्रता से सिर झुकाकर कहा था—भाषा और इस पढ़ाई में क्या है, सभी तो विद्या है। उस ज़माने से आज का ज़माना कितना बदल गया ! जिस रूप में अब विद्या पढ़ायी जा रही है और जिस भाषा में शासन-दरबार चलता है, उसे पढ़े-गुने बिना आदमी पिछड़ जायेगा। और लोग बढ़ जायेंगे, ठग लेंगे, ये इधर हड़बड़ाते रहेंगे। ये ही देखो, लोगों की ज़मींदारी कैसे चली गयी, यहाँ तक कि रोढग ले बक्सीयों तक की न रही।

दादा ने कहा था—इसलिए बेटे को इगरेजी पढ़ाओगे। बाट में गाय मूतती जाती हो वैसे तो दिखते हैं उस भाषा के अक्षर ! जिसने हमें ठोकर मारी क्या उसी के पैरों तले पड़ें, जिसने हमारा राज छीन लिया उसी की जूठी पत्तल चाटें ! यही अकल है ? ठीक है। बक्सी जगबन्धु विद्याधर, पुरिया पाटजोशी, जयी राजगुरु, चाखी खूँटिया, और जाने कितने जवान जो मातृभूमि के लिए लड़े थे, बलि चढ़ गये थे, उनका हो गया तर्पण इस विचार से ! वे जिन्हें भगाने के लिए ख़ून को पानी की तरह बहाते थे, तुम उनके गुलाम बनने की होड़ा-होड़ी में उनकी भाषा, उनके रंग-ढंग सब सीखोगे ! भला हो तुम्हारा !

खाट पर सोये आँख मीचे ध्यान करते समय वह चेहरा याद आ जाता कभी-

कभी। आवटन सोना-सा वर्ण, इतना चौरस और ऊँचा ललाट, इतनी आयताकार आँखें, वह प्रबल दृष्टि, वह प्रकाण्ड सिर, घने बब्बर बाल, गुलमुच्छे, और मोटी बल खाती मूँछें। निर्भीक, तीखे, बेफिकरे, पर अति भावप्रवण। तराशा हुआ-सा चेहरा था उनका। सबसे ज्यादा आकर्षक उस चेहरे की सौम्य स्थिर मुद्रा थी, जहाँ उस चेहरे के गठन की प्रत्येक रेखा समष्टि के साथ पूरा समन्वित होकर मेल खाती दिखती। उस स्थिरता में टपकती एक उच्च शालीनता, प्रसन्नता में भी वह सम्भ्रम उपजाती। क्या शक्ति, क्या तेज था उस चेहरे पर! कितनी कठोरता थी उस गरदन में! क्या धैर्य, क्या साहस, कितना आत्मविश्वास भरा होता उस दृढ़ छाती में! इतनी उमर में भी उसका दबदबा मिटा न था, हालाँकि कन्धे और छाती के लोम जगह-जगह सफेद पड़ गये थे।

पिता हँसकर बोले थे, "अँगरेजी भाषा का इसमें क्या दोष है?"

दादा ने सयतभाव से कहा था, "वह भाषा पढने पर उसी रास्ते हमारे बच्चे उनके समाज की नीति-रीति सीखेंगे। वे कोई बहुत पुराने युग के लोग नही हैं। कहाँ, महाभारत में तो उनकी बात कही नही है! तब भी रुद्रा नदी के उस पार कुछ अनाचारियों की बात सारलादास ने लिखी है; वे जो अभक्ष्य खाते थे, अगम्य में जाते थे, वे लोग शायद ये साहब नही थे, तो भी इनका आचार-विचार वैसे भी हमारा नही है।"

पिता ने आखिरी चेष्टा के रूप मे कहा था, "साहबों मे भी तो कितने भले लोग है, कितने साधु-सन्त हैं। अनाचारी क्या सभी है? कभी पहले हम शिक्षित थे। अब तो ये ही है शिक्षित लोग। इनकी विद्या पढ़कर ही तो आँखें खुलेंगी।"

दादा ने गम्भीरता से कहा, "आँखें खुलेंगी या फूटेंगी—कौन कह सकता है? भले आदमी, साधु-सन्यासी उनमें भी होंगे। हर जात मे होते है। तो क्या उन्होने ही भेजा है इन लोगों को कि तुम सात समन्दर तेरह नदी पार कर परदेस जाओ, वहाँ लगाओ मारकाट, घर फूंको और देश को दखल करो, फिर चूसना चालू करो? या उन्होंने ही बताया कि जाकर जुलाहों का अँगूठा काटो, आदमी को कुल-बुलाने दो, नमक पर भी कर लगा दो, लगान पाँच गुना बढा दो, गाय काटो, चिड़ियाँ मारो, और जो चाहो सो करो। बूढ़ा घोड़ा—मार दो गोली। कुत्तों के ढेर सारे पिल्ले हो गये—छोड़ दो एक-एक को उबलते पानी में और फिर मार दो। कितनी दया है—देखो!"

पिता ने कहा, "जो जैसा करेगा, उसे वैसा फल मिलेगा, विद्या मे कही लिखा है—उलटी बातें करने की बात?"

दादा ने कहा, "क्या लिखा है सो तो जो पढेगा वह जानेगा। पर उनका तरीका एक भिन्न प्रकार का लगता है। उसमें अपने यहाँ जैसे त्याग, तप, आचार-विचार की जै-जैकार नहीं है, पैसेवालों की जै-जैकार है, वे पैसे को पहले

पहचानते हैं। तभी जहाज चढ यहाँ आये, मार-काट, कूट-कपट लगायी, जुलाहों के अँगूठे काटे। तभी ब्याह होते ही बेटा माँ-बाप से अलग। पहले अपना स्वार्थ, अपना सुख, अपने माँ-बाप भी कोई कुछ नही। कोई किसी को नही सहता, मन न माना तो औरत पति को छोड चली जायेगी, नया घर बसाती है। साहब की पूँछ बनकर दौडने से जो धन मिलेगा, क्षमता मिलेगी उसकी कीमत चुकानी पडेगी, क्या केवल उनकी भाषा सीखकर या सूथना और टोप ओढ़कर ? नहीं, उसका मोल चुकाना पड़ेगा—अपना विचार, आचार, धर्म, समाज की आहुति चढाकर। केवल वह वेश ही चला जायेगा, क्या ऐसा सोचते हो ? विचार भी जायेगा, साथ ही साठ प्राणियों का मिला-जुला घर, यह सनातन समाज, जहाँ एक डोर से सब गुँथे-बँधे है, वह भी टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायेगा। धूल मे मिल जायेगा। इगरेजी पढ़े-लिखे छोकरे अपनी-अपनी औरतों का हाथ पकड देहरी लाँघ साहब बनने देस-परदेस चले जायेंगे, उनके जीवन का उद्देश्य खाली अपना पेट भरना होगा ! देखना, उनसे अब स्वय यही होगा, चमड़े और भाषा को छोडकर हर बात में साहब हो जायेंगे। धन पायें-क्षमता पायें, मन तो चला जायेगा खाली अपने को सार्थक करने के लिए। हमें बड़ा-बूढ़ा कह पानी भी दो अंजुली कौन देगा ? हमे वह पढ़ाई नही चाहिए, और फिर वह बात मत उठाना, छि:..."

दो शब्द कह देते तो भी बहुत था, पर उनकी नीति भिन्न थी; चाहे बिलाई का बच्चा ही हो, उसे समझा-बुझाकर विधान करेंगे।

उनका अँगरेजी पढाई का प्रत्यग वही पूरा हो गया होता। किन्तु बरस पूरा होते न होते दादा चले गये। अस्सी बरस पूरे होने मे और बाकी थे सात मास, बक पचकों का शेष दिन, कातिक पूनो। बडे तडके ही नित्य कर्म कर गये हुए थे ठाकुरजी के दरसन करने। राधा-माधव की ओर निहारते हाथ-जोड़े खड़े थे, तभी प्राण वायु उड़ गयी। देह के गिरते-गिरते पिता ने उन्हे थाम लिया। झाँझ, मृदग, हरिबोल, सकीर्तन करते हुए, फूल-चन्दन देकर वड़े समारोह के साथ उन्हें ले चले—बाईस इलाके के सती-मसान की ओर, पहले जहाँ इसी वश की पड़दादी सती हुई थी। वही उनके पूर्वजों का दाह होता आया है। गाय का घी और चन्दन की लकड़ी से चिता तैयार कर देह भस्म की गयी, हजारों हजार लोगों को भोज दिया गया और बीत गया एक युग।

इसके बाद पिता ने जिद कर तीनो बेटों को शहर भेजा अँगरेजी स्कूल में पढने के लिए। उनका कहना था, हर जुग का अपना व्यवहार होता है। अँगरेजी राजभाषा है, ढंग से सीखना, पीछे न रहना, रोशनी मे आओ।

निकल प॰ सब नयी रोशनी मे, आखिर परिस्थिति क्या हुई ? दादा कैसे इतनी दूर की देख सकते थे ? विधु का तो गया चरित्र और सयम, सब। मधु

और विधु दोनों के मन से घर के प्रति स्नेह और गाँव के प्रति ममता भी गयी। सचमुच ही अपनी-अपनी औरतों के हाथ थामकर वे देहरी लाँघ उड गये। कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो गया। निरासरी विधवा बुआ और उनका परिवार। आस-पास के बन्धु-बान्धव, जिन्हे सहारा दिया था, और उनके परिवार, जो पहले सभी इस डीह मे एक साथ चलते थे—अब अपना-अपना काम-धन्धा पकड, इस बस्ती को छोड़कर चले गये। गये नौकर-चाकर, दास-दासियाँ, वे जो अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम कर पेट भरते थे और इसे ही मानते थे अपना घर। कैसे क्या हो गया! जमीन-ज़मीदारी सब चली गयी। घर टूट गया, दीवारें ढह गयीं, गाय-गोरू, आदमी सब छिन्न-भिन्न हो गये, अवस्था पूरी हो आयी।

तब महाभारत गायी जाती थी, एकाध पद तैरता आकर कानों से टकरा जाता है। सिन्धु चौधरी स्वय को भूलकर कभी-कभी बन जाते है हाहाकार स्वरों की एक क्षीण-करुण-रागिनी। । बहते चले जाते हैं :

"हा दइब पुरुष येहा मोते कलु
चित्रपटल पराये देलु करि हरिलु।"[1]

और फिर ज़मीन पर साहस के साथ पैर रखते है, भागवत का आसरा लेकर, हाहाकार का लोभ छोड़कर, एक जाग्रत् जीवन जीते है।

पाटेली गाँव से बन्धमूल का रास्ता है तीन कोस का, पूर्व की ओर। नदी के किनारे से मुड़कर चला गया है नीचे की ओर। पुराने गाँव का नाम था आरोल। प्रचण्ड बाढ मे आरोल एकदम साफ़ पुँछ गया, यहाँ तक कि आरोलाई देवी, जिसे लोग जुग-जुग से प्रत्यक्ष देवता के रूप मे मानते थे, उनके देवता का तो फिर कहीं पता भी न रहा। देवी भी झाल में या बालू के ढूह में किधर गयी, कोई जान भी न सका। गाँव के ओझा-गुणी को तीन बार सपना भी आया। यहाँ खोदो—वहाँ खोदो, और हर जगह खुदाई भी की गयी, पर कुछ नहीं मिला। जिस गाँव से इस तरह पुरानी देवी की दया भी उठ जाये, वहाँ दुबारा घर खड़ा कर रहने में लोग-बाग डरे। जो जानेवाले थे सो दूसरे आस-पास के गाँवों में जा बसे। बाद मे जो रह गये वे थोड़ी जगह छोड़कर बालू के सपाट ऊसर पर छोटी-छोटी झोंपडियाँ बनाकर बस गये। वहाँ से लेकर नदी के ऊपर की ओर तक सिलसिलेवार किनारे का पुश्ता बँधा। बाँध का वही मूल है, इसीलिए

1. महाभारत (गारलादास रचित) से एक पद।

उस बस्ती का नाम पड़ा बन्धमूल। बाद में वहीं बँधाव का मूल रुका नही, वहाँ पाँच कोस नीचे तक भी फैल गया। फिर भी उस गाँव का नाम रहा 'बन्धमूल' ही।

उस गाँव के खानदानी आदमी वट महान्ती। खेतिहर और महाजन। पास हीं सारा खेत हैं। खुदकाश्त दस एकड़ के। बगीचा, बाड़ी, जोहड़, पोखर को छोड़कर जमींदारी के जमाने की कहीं बेजोत जमीन भी है। नाम की खेती होती है उसमे। यह दिखाने के लिए कि उसपर भी उनका अधिकार है। कहीं अरहर के पौधे है, कहीं केले का बगीचा है, एक झोंपड़ी...ऐसे ही और भी कुछ। ढोर-डाँगर, बैलगाड़ियाँ, खाद की कुरी, खला-बाड़ी, इस तरह सब मिलाकर देखा जाये तो उनका एक बड़ा 'असयान' है। बूढ़ा-बुढ़िया और पढ़ाई कर चुका रवि, ये ही है घर में। बड़ा बेटा 'कवि' पुलिस मे सबइस्पेक्टर है, पर वह अपने नौकरी वाले गाँव मे ही रहता है।

बड़े बेटे के 'कवि' नाम मे एक खास बात थी। वट महान्ती के बहुत शौक़ थे। उन्होने अपनी जवानी मे 'कवित्व' किया था। गाँव के नाटक-तमाशों में उनके बनाये कई गीत आते हैं। वह था उनका मृदंग-साधना का समय, पिता घर सँभालते थे, बेटा समय काटता था गाँव के अखाड़े में। इस बही से कुछ उतारा, उस पोथी से कुछ लिया और बीच-बीच में अपना कुछ 'कवित्व' जोड़कर रामलीला और भागवत लीला के लिए अपनी टेर मे गीत रचा करते थे। इसके अलावा ब्याह-शादी के समय भी सभा मे जब वर-पक्ष और कन्या-पक्ष के बीच 'कविता-प्रतियोगिता' और 'कूट वचन' पूछे जाते, तब वे 'अपनी' कविताओं के लिए कई बार प्रशंसा भी पा चुके है।

परन्तु गाँव के लोग जितनी भी प्रशंसा करते, उनका मन मानता ही न था। जितनी बार वे अपनी रचना को देश के नामी-गिरामी कवियों की कृतियों से तुलना करके देखते, उतनी ही बार उन्हे बोध होता अपनी कमियों का। लगता, कविकर्म उनके वश का रोग ही नही, बस जैसे जरा-सा उसका दो बूँद पानी पड़ गया है। रामलीला लिखते। प्रसिद्ध विश्वनाथ खुंटिया की विचित्र रामायण का एक-एक छन्द (पदावली) सामने रखकर पद की जगह पद रखकर गूँथते हैं पद्यों की माला। कोनेवाले कमरे मे किवाड़ बन्द कर, बैठे-लेटे अस्थिर होकर पिंजरे मे बाघ की तरह इधर-उधर घूम-फिरकर बिना खाये-बिना पिये भी जुटे रहते हैं। कभी-कभी माला टूटकर बिखर जाती तो मन बेचैन हो छटपटाता। और कभी-कभी वे चेष्टा करते सरल बोलचाल की उड़िया मे अनंग नरेन्द्र के ढाँचे पर रचना करने की, जैसे नरेन्द्र ने लिखा है :

"खराकाल पर्वत पराये दिशे राम
शर दिशे वणपोड़ि अनलर सम"

फिर भी, सोचने-विचारने के उपरान्त भी उपमाएँ नही आती। जो कुछ भी

बन पड़ता—उसी पर गाँव के लोग पीठ जरूर थपथपा देते पर मन नहीं मानता उनका।

इसके बाद गांव में आया नये जमाने का नाट्यागी गीत, धान कटाई के बाद खाली खेत मे नाना जाति के अनाम फूलों की तरह। उसमें छुटकी-मुटकी जात-जात की रागिनी, कोई किसी थियेटर का, कोई किसी विदेशी गीत का टुकड़ा और उसके साथ आया 'हारमोनियाँ'। उसमे साहित्य हो न हो, हारमोनियम के स्वर के साथ नाट्यांगी गीत और उसके साथ एक-दो-तीन के ताल के साथ-साथ पैर मिलाकर नाचना। इस सबने मानो देश-भर का मन ही वश में कर लिया। बड़े-बूढ़े घृणा से जितना भी नाक-भौ क्यों न सिकोडें।... वे भी अपनी चोटी के बाल सहलाते, मुँह फाडे, टकटकी लगाकर इस नये नाच और गाने का मजा लेने लगे। तब लम्बे-लम्बे केशो मे आड़ी-तिरछी माँग काढे, तितली जैसी मूँछें बनवाकर छीट के कपड़े से सिली बनियान पहन, केंचुए की भाँति गरदन मोड़, गला दबाकर छोकरों ने 'हारमोनियाँ' पर गीत गाये। यह वही जमाना था जब गांव की दुकानों पर चाय की पुड़िया और बीड़ी के बण्डल आकर बिकने शुरू हुए थे। पत्ता बांटकर उसकी पूंगी बनाने, उसमें तम्बाकू पीने या तम्बाकू के पत्तों को बांटकर पिक्का बनाकर फूंकने का अभ्यास चारो ओर से सिमटता हुआ बड़े-बूढ़ों तक ही रह गया। पुराना ओड़िसी सगीत और रामलीला, भागवतलीला जाने कितने पीछे रह गये, और उसके साथ बट महान्ती के कवित्व-प्रकाश का अन्त होने लगा।

आशा आशा ही बनी रह गयी।

बड़ा बेटा जब जनमा तब लजाते-लजाते माँ के पास बट कृष्ण ने कहलवाया —लडके का नाम 'कवि' रखते तो क्या हरजा होता? भला-सा नाम है, दो ही अक्षर। बोलने मे भी सहज।

गुरुजी और पुरोहितजी ने भी बेटे से पहले ही कुछ वसूल कर यही नाम रखने की सहमति दे दी। पुरोहितजी ने समझा दिया—कवि कौन होता है? स्वयं भगवान्! खुद सारलादास महाभारत में लिख गये है—'काव्यकार पुरुप अनन्त रूप इन्दु।' इतना सुन्दर नाम पाना किसी-किसी के ही भाग्य में होता है। अतः जनमपत्री का नाम चाहे रहे गोवर्धन धारण, वैसे लाड़-प्यार का नाम कवि शेखर रहा और सक्षेप मे—'कवि'।

किन्तु कवि ने कविता नही लिखी। कविता पढने का भी उन्हे चाव न था। वरन् सब बातों में हुडदग और उछल-कूद मचाना, मारने-पीटने आदि कामों में ज्यादा पारंगत हुए। ज्यादा ध्यान रहता खाने-पीने और मटरगस्ती मे। सेकेण्ड क्लास से ही घर बैठ गये, चढती उमर में बड़े घराने में विवाह किया, फिर पुलिस के महकमे में अपने किरानी साले की मदद से पुलिस 'सबइनिस्पेटर' का काम

पा गये।

बट महान्ती को लगता जैसे उनका मान बढ़ गया है तब बस्ती के पाँच आदमियों के आगे सिर उठाकर कह सकते थे—पैसे कमाना ही बड़ी बात नहीं, वह तो भंगी-चमार भी कमा लेता है, मान-इज्जत ही तो बड़ी चीज़ है, क्यों क्या कहते हो ?

चौरस चेहरा, खड़ी मूँछें, गुलाबी आँखें। मोटी गरदन। गदराये-गदराये हाथ-पैर। चेहरे की ओर देखने पर लम्बाई से अधिक चौड़ाई ही आँखों में पड़ेगी। कन्धे भी सपाट नहीं, कुछ ढालू हैं, एक बाँह आगे, दूसरी पीछे हिलाते-हिलाते चलने पर जैसी भंगिमा दिखती, उससे लगता मानो कुछ दबोचकर पकड़े बैठा हो, जैसे कोई वनैला जन्तु हो। इसी भंगिमा से मिल गयी एक और बात—अचानक गरदन एक तरफ मोड़, बायें कन्धे की तरफ झुककर निचला होठ काटते हुए सामने की ओर देखने की भंगिमा। ये दोनों चीज़ें पहले नहीं थीं। चाकरी के दो बरस पूरे होते न होते अपने आप आ गयीं। तब उसके पोशाक-पहन, अदब से खड़े होने या चलने या देखने पर बाप की छाती में खून तेज़ी से दौड़ जाता। मानो यह उनका बेटा नहीं, यह किसी अनचीन्हे साँचे में ढला कर्मचारी है, किसी और जगह का है।

चाकरी करते-फिरते घूमते-घूमते कवि विदेश में ही रह गया। गाँव में कभी-कभार, साल-दो साल में कुछ दिन के लिए आने लगा। अब उसका ज्यादा सम्बन्ध ससुरालवालों से ही है, छुट्टी मिलने पर वह उधर ही जाया करता है।

चाहे फूटी कौड़ी तक घर न भेजे, बट महान्ती का पेट उतने से ही भर जाता है। उलटे चावल, धान, नारियल, चिवड़ा, साग-सब्जी वगैरह लेकर साल में दो-चार बार टिकट कटा, रेल चढ़, वे बहू-बेटों, पोते-पोतियों को देखने जाते हैं। हँसते-खेलते चार बच्चे : नौ बरस की सुना, उससे छोटा कुना सात वर्ष का, फिर पाँच की रुना, और सबसे छोटा मुन्ना तीन ही बरस का है। सुना और कुना 'इसकूलिया' हो गये, पढ़ाई करने लगे हैं। चार-चार बच्चों की हँसी-ख़ुशी विदेस में फल-फूल रही है, गाँव में तो उसकी छाया भी नहीं पड़ती। बूढ़े का मन होता—काश, अपने पास ये सब रहते तो वे पोते-पोतियों को खिलाते ! मन की मन में मारकर रह जाते हैं। बच्चों को आँखों से दूर करने या ख़ुद जाकर गाँव-देहात में रहने को बहू का विचार नहीं।

फिर भी, ख़ुद ही बट महान्ती उन्हें देखने जाते। सिपाही सलाम करता—दारोगा बाबू के पिताजी जो ठहरे !

कवि के बाद दस वर्ष यों ही निकल गये। इसके बाद आया रवि। बटकृष्ण अबकी बार उसका नाम रखने लगे तब न उनके पिता थे, न माँ थी। वे स्वय ही मालिक थे। उमर भी चालीस पार कर चुकी। जमीन और बन्धक रखे, मूल-ब्याज वसूल कर जमीन में जमीन मिला बढ़ाते गये, पुराने बँटाईवाले किसानों को बदल या हटाकर अपने अंश में ऊपरी 'लाभ' प्राप्त कर सम्पत्ति और प्रतिपत्ति बढ़ाने के लिए कई तरह की हेरा-फेरियाँ की। चेहरे पर भी उमर की छाप और अधिक घनी हो गयी है। पान चबाते-चबाते दाँतों में भी फाँक हो गयी, ऊपर की पक्ति मे सामने का दाँत तो गया। सिर के बाल पतले होते गये और ऊपर चढ़ते गये, चिकनाहट पाता गया जगह-जगह से दबा ललाट, धक्के देकर ऊपर की ओर उठे गालों के हाड। नीचे की ओर कुछ फूली छाती पर मास की परत, और बाहर की मास-पेशियों के साथ वह एक दाँत फाँका चेहरा उनके गाम्भीर्य मे वृद्धि कर रहा था। इस उमर मे आयी एक सन्तान। वे चिन्तित हो उठे।

कवि के नाम के साथ तुक मिलाने के लिए लडके का नाम रखा गया 'रवि'—रविनारायण। नाम रखने की ओट मे छुपी थी एक लालसा—रवि ! यानी वह एक तेज बालक हो। वंश का नाम रखे।

बचपन में उसकी चाल-ढाल से ऐसा लगता कि उसका नाम रवि न रखकर चन्द्र रखा जाता, तो शायद अधिक जँचता। कुछ भँवरदार लटों के नीचे चौड़ा ललाट, उसके नीचे झपती-झपती-सी दो आँखें, मानो सब ओर शान्ति ही शान्ति है, सर्वथा सन्तोष है। चुपचाप खेलता रहता, बिखेरता रहता अपनी हँसी अपने ही लिए, मानो मन ही मन वह कहीं से अपना आनन्द प्राप्त कर रहा है। किसी से कुछ नहीं, किसी चीज से लगाव नही, जहाँ बैठा दो, हिलेगा नही। न अधिक रोयेगा और न कोई जिद पकडेगा।

जोतसी गुरुजी वलि नायक ने (बट का उनपर शुरू से ही विश्वास है) हाथ देखकर कहा, "बालक के हाथ में विषम रेखा है, पहले ही जतन न किया तो यह कौपीन धारण कर देशान्तरी हो चला जायेगा।"

"उसके लिलार मे पढाई है न ? गुरुजी, जरा विचार करके बतायें।" बट ने पूछा था।

भौहें सिकोड़कर आँखें मिचमिचाते रह गये थे गुरुजी !

गुरुजी ने खड़िया से पाटी पर चक्कर बनाकर हिसाब लगाया, कुछ यहाँ मिटाया, कुछ उधर लिखा। मन ही मन बुदबुदाते हुए-से नाना श्लोक बोलते गये, अँगुली के पोरों पर अँगूठा टेक-टेककर देर तक गिनती करते रहे, बाद में जाकर कहीं उत्तर दिया था। तब बट महान्ती ने देखा, उनके आबू जैसे माथे को, वहाँ पसीने की बूँदें झलमला आयी थी। देखा उनकी सपाट लम्बी खोपड़ी को, जहाँ

धीरे-धीरे पतले होते गये बालों के बीच तीखी चोटी है, जिससे बट महान्ती के मन में साहस, विश्वास का संचार होता है, जीवन-भर तो इन्ही नायक से पूछकर फल के बारे मे जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद ही किसी काम में हाथ लगाते रहे। वह चाहे रुपये करज़ पर देना हो या फसल की आमदनी करनी हो या गाँव से शहर जाना हो। उनका विचार है कि गुरुजी का निर्णय अकाट्य होता है, टलता नही।

गुरुजी ने कहा, "पढ़ाई की चिन्ता न करो। यह बालक पढ़ाई को तो बस पीस-घोंटकर पी जायेगा। विद्या मे तो वृहस्पति होगा। ऐंटरेंस तो मामूली बात है, एमे, एले, एफे, पास कर विद्यावान् होगा। वंश उज्ज्वल कर देगा। हृदय में भक्तिभाव, दया-माया सब बहूअत-बहूअत—। दान में कर्ण, मान मे दुर्योधन। धन तो कुबेर की तरह कमायेगा जरूर, पर पास नही रहेगा, ख़रच कर देगा, रख नही सकेगा। यह हुई एक बात। माँ-बाप की सेवा करेगा, आदर-मानता करेगा। सब कुछ करेगा पर ब्याह के समय थोड़ी अड़चन लगायेगा। अपने मन के लायक कन्या से ब्याह करेगा, मना करोगे तो लेकर चला जायेगा, किसी की नही मानेगा, यह तो लडाके भेड़े जैसा, जिधर मन होगा दलता-धँसता चला ही जायेगा। किसी का मुँह नही देखेगा।"

इसके बाद गुरुजी ने फिर श्लोक सुनाया।

बट महान्ती ने झट पूछा, "इधर कहते हैं वैष्णव होगा, उधर कहते है मन-इच्छा का विवाह करेगा। ब्याह किया तो फिर वैष्णव कैसे हुआ?"

"क्या करूँ, पोथी जो कहती है वही तो बतलाऊँगा महाराज। हम मन मे जो चाहे, क्या वही सब हो जायेगा? स्वयं श्रीरामचन्द्र जी महाराज चौदह बरस तक वन मे घूमे, श्रीकृष्णचन्द्र जी ने साधारण शबर के हाथ से प्राण त्यागे। ग्रहरूपी नारायण...हमारे वश क्या है?"

"नही, नही, एक बाण को काटने योग्य दूसरा होता है...दोनों साथ रहे तो एक-दूसरे को काटेंगे...और सब मिट जायेगा। ऐसा भी हो सकता है कि न यह लड़का वैष्णव बने और न किसी के घर से लड़की भगा ले जाये।"

वे हँसकर चले गये। इसके बाद गुरुजी ने दी 'ग्रह-शांति' और पूजा-विधान के लिए लम्बी सूची।

पुरोहितजी ने समर्थन किया। बहुत पक्के आदमी—प्रकाण्ड बड़ा सिर, साफ़ गोरा वर्ण, लम्बे, जितने मोटे-सोटे उतने ही तोंदीले, अधिकांश बाल पक चुके। घनी सफ़ेद दाढ़ी छाती तक आ गयी है। उनपर भी बट महान्ती को अगाध विश्वास था। जन्म से मरण तक घर की सभी क्रियाओं का विधि-विधान वे ही करते आये हैं। उनके हाथ से दूब, अक्षत और शान्ति उदक पड़ने पर फल प्राप्त होता ही है। उनके मुख से निकले आशीर्वाद से रिष्ट कट जाता है, ऐसा

महान्ती का विश्वास है।

पुरोहितजी और गुरुजी ने पुरानी पोथी-पत्रों में खोज-खाजकर, सोच-विचारकर जो व्यवस्था दी, वट महान्ती ने उसे आस्था-निष्ठा के साथ ग्रहण किया। इक्यावन मूर्ति ब्राह्मणों को वरण किया। जीभ पर पानी की बूँद या पान का टुकड़ा भी रखे बिना वट महान्ती तीन दिन सुबह से शाम तक लाल पाट बाँटे, पाट की चादर डाले, पसीने में तर होकर हवन की आग के पास बैठे रहे। वेदी से उठते तो एक साथ दो पान। उसके बाद फिर हविष्यान्न। महादेव की जलहरी भरवायी गयी। भागवत सप्ताह, सत्यनारायण पाला, त्रिनाथ का जागरण—सब कराया। दान में दिया—बारह आने तोल का सोने का मेढ़ा, चवन्नी-भर सोने का धनु, सात अंगुल पाढ़ की काली साडी और कितना कुछ। भात, दाल, खडा, पेठा, अरबी को एक साथ मिलाकर बनी तरकारी। कड़ाहे के कडाहे राँधकर दुखी-रंकों को भोजन कराया। मूड़ी, नारियल मिलाकर गाँव-भर के बच्चों में बाँटा। बाललीला करायी। घर के सामने चौक में खजूर की डालियों से छावनी बांध, ढोल-ढमाके सात दिन तक चले। इस तरह सारे विधि-विधान पूरे होने तक रवि के चार बरस पूरे हो गये।

पाँच का जब हुआ रवि तो दस्त शुरू हो गये। चार महीने तक यह भी चला। जड़ी-बूटियों के साथ कच्चे बेल का भुरता, पुरानी काँजी और गाँव के वैद की गोलियाँ निरन्तर चलती रहीं। रुकते-चलते दस्त लगे ही रहे। बच्चा सूखकर काँटा हो गया। आख़िर एक दिन कोई बाबाजी आये गाँव में। सिर पर भरी पान की टोकरी की तरह जटा, चेहरे पर लम्बी दाढ़ी छाती से तले तक फरफराती हुई, गले से नीचे के सारे अवयव दुबले, कमर एकदम पतली। बाबाजी वट महान्ती के दालान में चिमटा गाड़, धूनी लगा, उसके पास पद्मासन मे बैठे। कुछ बोले नहीं। बहुत सारे लोग उनके दरसन को आने लगे। जाते समय बाबाजी धूनी से भसमी की चुटकी भरकर बट महान्ती की हथेली पर रख दी और विदा ली। इतना ही खाकर रोग दूर हो गया। बाबाजी की महिमा बहुत व्यापी, पर वे फिर नहीं मिले।

पर यह हुआ कैसे? रवि के बाप और माँ दोनो की चिन्ता इस बात की हुई कि इतनी पूजा-पत्तर करने के बाद भी लडका बीमार क्यों रहा?

गुरुजी ने समझाया कि अबकी बार तो ऐसा रिष्ट था कि समझ लो, यह सिर ही नहीं रहता। इतने थोड़े मे ही सब कट गया, अच्छा हुआ, जाने दो।

हर बरस जाड़ों के शुरू मे कुछ दिन तक बच्चों को मलेरिया होता, वर्षा के दिनों मे खाँसी-सरदी-दर्द, निदाघ गरमी में कभी टट्टी-आँव। गाँव की इस साधारण गति से रवि को भी छुट्टी नहीं मिली। हर बार जब वह बीमार पड़कर उठता तो गुरुजी कहते, 'रिष्ट कट गया।' पुरोहितजी उसके सिर पर अक्षत, दूब देकर

मन्त्र जपते। और माँ कहती, "डायन यह बीमारी मेरे बच्चे को कितना दुबला कर गयी, झाड-झूड़कर मुझे दे दे रे बेटे! पर तेरा शरीर नीरोगी हो!"

रवि बड़ा होता गया। मंझले शहर में रहकर हाई स्कूल में पढ़ाई जारी रखी परन्तु बहुत छुटपन से ही उसने घर के काम-काज मे भी मन दिया था। छह बरस का बच्चा बुहारी उठाकर घर साफ कर देता, साग-तरकारी उठाकर एक जगह रखता, बाहर जो पाता उसे सहेजकर घर के अन्दर लाकर रखता। कुएँ के पास पैसे रोपता। कहता, गाछ होगा। आम की डाल और गूलर की शाख तोड जमीन मे गाड देता। कहता, बगीचा होगा। लोगों ने कहा, घरबारी बुद्धि बहुत तेज होगी।

स्कूल के पढ़ेसरी बच्चों की तरह रटन्त विद्या की ओर ज्यादा ध्यान न होकर, उसका झुकाव ज्यादा था—गाय-गोरू के प्रति, खेती-बाड़ी की ओर। गोठ कैसे साफ़ होगा इसका अभ्यास उसने कर रखा है। गाय को चुमकारना, भैंस दुहना आदि मे तो धुरन्धर है, हलवाहे से हल ले लेगा और हल जोतने चल पड़ेगा धान कैसे बुना जाये, लुनाई कैसे हो, मुट्ठी मे भरकर कटाई कैसे करना है, कटे फ़सल को कैसे छाते की तरह बिछाते हैं, पुआल का किस कायदे से ढेर लगाया जाता है—खलिहान से लाकर किस तरह मुंहेर-सी बनाकर रखते हैं कि पुआल बाहर और धान अन्दर रह जाता है; जिससे कितनी भी वर्षा क्यों न हो पर धान भीगेगा नही...ये सारी बातें और काम उसने सिर्फ पूछ-पूछकर सीख लिए थे।

"मेरा ऊँचा सिर तूने तो झुका दिया रे कुलांगार! पढ़ाई कर अच्छा-बड़ा आदमी क्या बनेगा, उलटा निपट मजूरा-मूरख होने को तेरा मन हो गया क्यों? बस बैल के गले को थप थपाकर हेई-हेई करता फिर, बैल की पूंछ मरोडता चल, हलिया के पैर मे दवा लगा! बावरी, कड़री, चमार-भगी, पाणो को साथी-मित्तर बनाकर घूम!"

वह सिर झुका लेता, खडा होकर टाल जाता। जानता है कि ऐसा करने पर लहर पर लहर आयेगी, और सचमुच लहरें आती भी।

"भला बता तो, परायो के हानि-लाभ की इतनी चिन्ता तेरे ही सिर पर क्यो लदी है? किसके घर में क्या है, क्या नही, शहर से किसका क्या आयेगा या नही, किसकी गाय के पैर मे घाव हुआ है, किसकी बकरी बीमार है, तू यह सब बातें देखेगा या अपनी पढ़ाई करेगा?

नही, पढ़ाई-लिखाई में कभी कोई लापरवाही नही की उसने। किन्तु स्वयं विचारकर ही बात समझने को जी करता है। वह सोचता, अँगरेज़ी पढाई पढना-रटना मानो एक बेकार का बोझ है। उसको लगने लगा कि कही-कही शब्दों का अनुवाद भी नही हो सकता। ख़ाली इशारा-भर करना है, नहीं तो कौन साहब

है जो भात राँधकर खाता है। 'राइस' कहने पर हम सब जिसे भात कहते हैं, उसे वह क्या समझेगा। चावल बीनना, चावल फटकना, चावल धोना, हाण्डी चढ़ाना, भात पकाना—इतने काम होने के बाद जाकर चावल के दाने उबलकर भात बनते हैं, 'राइस' कहने से क्या इतनी सारी प्रक्रिया उसमें आ जाती है? टेम्स नदी के पुल या डेज़ी फूल के बारे में लिखी गयी कविता उसके मन मे कोई उत्साह पैदा नहीं करती। उलटा जब वह अँगरेजी पढ़ने बैठता है तो सोचता है अँगरेज़ी के राज की बात, पराधीनता, स्वाधीनता, आन्दोलन और दमन अत्याचार की कहानी। अँगरेज़ी पढ़ाई ऐसी लगती जैसे जातीय चेतना में पुराना वह घाव का दाग हो, पपड़ी के नीचे जो घाव सूखा नही। उसे लगता जैसे दीवार पर से राजा-रानी के चित्र हटाकर वहाँ महात्मा गांधी का चित्र टाँग देने पर भी यथेष्ट हुआ नही। परम्परा टूटी नही। अँगरेज़ी भाषा उसे वही सब याद करा देती है। पराधीन भारत का एक लज्जाजनक अध्याय। उसकी मुहर की तरह विजेता की भाषा—अँगरेज़ी। जिसे पढ़ने पर लगता कि वे अतिमानव हैं। उनकी भाषा एक सपनपुरी! वह खीझ उठता, उसे लगता यह सब सफ़ेद झूठ है।

ख़ाली अँगरेज़ी ही क्यों, कई-कई पाठों के बारे में उसे लगता कि इनकी क्या जरूरत है? जैसे वह इतिहास। इतने राजा, इतनी लड़ाइयाँ, इतनी तारीख़ें, इतनी घटनाएँ। रटने पर सिर दुखता। अलफ्रेड से लेकर औरगज़ेब तक।

वह सोचता, यह तो बड़े-बड़े लोगों की कहानियाँ कही गयी, ग़रीब की बात कहाँ है? पढाई मे इतिहास कहता है—इस युग मे अमुक राजा हुए, बाकी सारे आदमियो के भले-बुरे की बात कहाँ गयी?

डरते-डरते साथी लड़कों के द्वारा एक दिन क्लास में पुछवाया था। मौर्य-शासन-पद्धति की पढाई होते समय उसने पुछवाया कि उस समय गाँवों मे कौन-कौन-से पर्व-पूजा-त्योहार होते थे? किस तरह की मिठाइयाँ बनाते थे? उसके प्रश्न पर सब हँस पड़े थे। शिक्षक ने सोचा, वह मज़ाक कर रहा है। अतः उसे गालियाँ खानी पड़ी।

नियमानुसार पढाई रटता जाता, पर कभी सोचने लगता दूसरी बात, जैसे कुलिया बढई के बारे में। बुखार में झुप्प होने पर भी उठकर हाथ में करौत-बसोला लेकर मजूरी के लिए भाग रहा है। रस्सी जैसे हाथ हैं, पर काम बहुत अच्छा करता है। पहले तो बढ़ई ऐसा वोहित गढ देते थे कि उसपर हाथी लादकर उसे विदेशों मे बेचने ले जाओ। उस समय से लेकर कुलिया बढ़ई तक कितनी पीढियाँ निकल गयी?

यही लोग जहाज़ पर चढ़कर देश-विदेश घूमते थे, इतने बड़े-बड़े काम करते

थे। तब क्या उसका चलन इसी तरह का था ? या और कोई बात थी ?

रोग के प्रकोप से अब ये नौजवान मिट्टी चाट रहे हैं। भाव बढ़ रहे हैं। दूध में पड़ी और पानी, घी के बदले घास का घी, सरसों तेल में सस्ते तेल की मिलावट, शहद में गुड़, चावल में कंकड़ की मिलावट चल रही है। कितने कष्ट में है आज आदमी का जीवन।

किताब रखकर वह खड़ा हो जाता। औरों के साथ अपने मत को तौलकर देखता। वे लोग छोटे-छोटे दलों में होकर इस देश और फिर दुनिया की बातों की चर्चा करते। अखबार और अन्यान्य पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते। उनसे जो समझते, उससे उन्हें लगता कि वे कुछ समझ रहे हैं। उन सब बातों पर जोरदार बहस भी छिड़ती। धनी लोग अधिक धनी होते जा रहे हैं। कुचक्री लोग धनी और बड़े बनने के लिए दन्द-फन्द भिड़ा रहे हैं। वे ही लोग बीच में लाभ कमाने के लिए औरों को उकसाकर झगड़ा-फ़साद करा देते हैं, गाँव में दलबन्दी पैदा हो जाती है। क्षमता की लड़ाई ! दुनिया के देश-देश के बीच पनपती डाह और जलन, मार-काट, लड़ाई-दंगे, युद्ध !

पृथ्वी के अन्य भले आदमियों की तरह, शान्ति-प्रेमी छात्रों के दल जाति का शुभ और सुख चाहते हैं। तब भाषा क्या, देश क्या, सारी पृथ्वी का मानचित्र संकुचित हो जाता है। लगता है जैसे अपने घर का आँगन हो। वे आतुर होकर एक दूसरे से अमेरिका की या इजिप्ट की या फिर चीन अथवा जापान और इण्डोनेशिया की समस्या पर बातचीत छेड़ देते। उन्हीं सब पर कितनों की मित्रता टूट जाती तो कितनों की बढ़ जाती। कितने दिन, कितनी रातें बीत जाती एक अटूट भावना के बीच। भूख-प्यास भूल जाते, कभी कोई हँसता तो कभी कोई रोता। मानवता के महान् भाव के बीच मन ही मन अपने कुण्ड में एक जगह मिलते दुनिया-भर के सब लोग। क्या नीग्रो, क्या अँगरेज ! मिस्री या हंगरी, कोरिया या माओरी के सारे लोग। तब विदेशों के अनदेखे अनजाने कवि या चित्रकार की मृत्यु की खबर पाकर वे रो-धोकर उपवास करते, तिल-तर्पण करते।

औरों के साथ रवि ने भी हिरोशिमा को दु:स्वप्न में देखा है। देखी है युद्ध में जलती यूरोप की रणभूमि, भारत की साम्प्रदायिक मार-काट, लाखों शरणार्थियों की भीड़, स्टालिनग्राड की वीरांगनाओं के साथ मिलकर फूटे घर की ईंटों के ढेर की ओट में, युद्ध के धुएँ के बीच, वह अन्तिम साँस तक लड़ा है स्वाधीनता-संग्राम में—

कालेज में खेल के मैदान में खड़े होकर रक्तिम सूर्यास्त की ओर देखते हुए निमिष-भर में उसने उड़ा दिया है अपनी सूक्ष्म चेतना को—दूर, बहुत दूर, संसार के किसी दूरस्थ क्षेत्र के मनुष्य से मिलने के लिए। वहाँ, वह सोचता है, जहाँ

आदमी अत्याचार से पीड़ित है, लुण्ठित है, अपमानित है। स्वप्न देखा है।

साथ ही पढ़ाई भी की है। परीक्षाएँ देकर एक के बाद एक, कक्षाएँ पास भी करता गया है। पिता ने देखा, बेटा बी. ए. पास कर चुका, और वे उसके लिए सीमित परिसर का स्वप्न देख-देखकर खुश हुए हैं कि जो अनिर्दिष्ट था, वह निर्दिष्ट पथ के योग्य हो गया है, चाकरी, तनख्वाह, ब्याह, पदोन्नति, बाल-बच्चे! उन्होंने सोच रखा है, कच्चा माल मशीन मे गया, बाहर आ गया तैयार वस्तु बनकर, नपे-तुले बँधे समाज मे सस्थिति के लिए यह सब आवश्यक है, भद्रता और सभ्यता के अनुकूल है।

पर रवि ने अनुभव किया, कुछ और ही। सोचा—अब वह निर्दिष्ट से अनिर्दिष्ट अवस्था मे चला आया है, अब पाठ्य पुस्तक नही, पढाई का बँधा-बँधाया समय नही, न परीक्षा न नपी-तुली पढ़ाई की परख। उसने देखा, वह स्वाधीन हो गया है, सामने स्वस्थ जीवन की अनजान धारा है, जहाँ वह अपनी सहानुभूति के बल पर रास्ता चुनकर परिश्रम, सेवा और त्याग मे अपने आप को परिपुष्ट कर शायद जीवन को उपभोग करने का सुयोग पा सकेगा।

पिता ने अगर कागज पर रेखाएँ खीची हैं, रूप आँका है, तो उसने अपनी छवि आँकी है—व्योम-पट पर विचार और स्नेह प्रवणता का रग देकर।

दोनों ने कभी अपना-अपना खाता खोला नही, बैठकर हिसाब मिलाया नही।

बट महान्ती सारी चीजो पर अपने जीवन की अनुभूतियों से परिचित मूल्यों को पकड़कर निश्चिन्त हैं। उन्होंने देखा, जमीन बटाई पर दी हुई है, फसल मिलने मे कभी बाधा नही आयी। वरन् साझेदारी मे तो उन्होंने यह भी देखा कि भगीदार किसान अपना हल-बैल बेचकर भी उनका हिस्सा लाकर दे गया है। रुपये कर्ज पर लेते हैं, ब्याज मिल जाता है। समय से क़र्ज वसूल न कर सका तो बन्धक मे चीज या जमीन भी उनकी अपनी हो गयी है।

पिता ने बार-बार गुरुजी से पूछा है, "जरा देखिए तो, रवि के बृहस्पति का योग कब से प्रारम्भ होता है?...गुरुजी, बताओ तो सही क्या देखा? नौकरी कब मिलेगी? कैसी मिलेगी? शादी कब होगी? किस दिशा मे? बहू कैसी होगी? हम बूढ़े-बूढ़ी को पूछेगी तो?"

उस दिन प्रसन्न मन से लौट रहा था रवि, कि रास्ते में वह घटना हो गयी।

अनहोनी कहानी की परत—किन्तु उसके साथ कुछ घटा है, उसे बिना जाने ही जीवन के किसी तीव्र गहरे बहाव में निमिष-भर में वह कितनी दूर बह आया है! उसकी चेतना पर नये रंग की अननुभूत आच्छन्नता है! मानो अचानक किसी

थे। तब क्या उसका चलन इसी तरह का था ? या और कोई बात थी ?
रोग के प्रकोप से अब ये नौजवान मिट्टी चाट रहे हैं। भाव बढ़
दूध में खड़ी और पानी, घी के बदले घास का घी, सरसों तेल में सस्ते
मिलावट, शहद मे गुड, चावल मे कंकड की मिलावट चल रही है। कित
मे है आज आदमी का जीवन।

किताब रखकर वह खड़ा हो जाता। औरों के साथ अपने मत को
देखता। वे लोग छोटे-छोटे दलों में होकर इस देश और फिर दुनिया
की चर्चा करते। अखबार और अन्यान्य पत्र-पत्रिकाएँ पढते। उनसे
उससे उन्हें लगता कि वे कुछ समझ रहे हैं। उन सब बातों पर जोरद
भी छिडती। धनी लोग अधिक धनी होते जा रहे हैं। कुचक्री लोग
बड़े बनने के लिए दन्द-फन्द भिड़ा रहे है। वे ही लोग बीच मे लाभ
लिए औरों को उकसाकर झगड़ा-फसाद करा देते हैं, गाँव में दलबन
जाती है। क्षमता की लड़ाई ! दुनिया के देश-देश के बीच पनपती
जलन, मार-काट, लडाई-दगे, युद्ध !

पृथ्वी के अन्य भले आदमियों की तरह, शान्ति-प्रेमी छात्रों के
का शुभ और सुख चाहते है। तब भाषा क्या, देश क्या, सा
मानचित्र संकुचित हो जाता है। लगता है जैसे अपने घर का
आतुर होकर एक दूसरे से अमेरिका की या इजिप्ट की या फिर
जापान और इण्डोनेशिया की समस्या पर बातचीत छेड देते।
कितनो की मित्रता टूट जाती तो कितनों की बढ जाती। कितने
रातें बीत जाती एक अटूट भावना के बीच। भूख-प्यास भूल जा
हँसता तो कभी कोई रोता। मानवता के महान् भाव के बीच म
कुण्ड मे एक जगह मिलते दुनिया-भर के सब लोग। क्या नीग्रो,
मिस्री या हंगरी, कोरिया या माओरी के सारे लोग। तब विदे
अनजाने कवि या चित्रकार की मृत्यु की ख़बर पाकर वे रो-धोकर
तिल-तर्पण करते।

औरों के साथ रवि ने भी हिरोशिमा को दुःस्वप्न में देखा,
में जलती यूरोप की रणभूमि, भारत की साम्प्रदायिक
शरणार्थियों की भीड़, स्टालिनग्राड की वीरांगनाओं के साथ मि
ईंटो के ढेर की ओट में, युद्ध के धुएँ के बीच, वह अन्तिम
स्वाधीनता-सग्राम में—

कालेज में खेल के मैदान में खड़े होकर रक्तिम सूर्यास्त
निमिष-भर मे उसने उड़ा दिया है अपनी सूक्ष्म चेतना को—दू
के किसी दूरन्त क्षेत्र के मनुष्य से मिलने के लिए। वहाँ, व

गहन अँधेरे के बीच अपनी आत्मा को सान्त्वना देने के लिए याद आया—सृष्टि के साथ उसके बढ़ते हुए एक मन्त्र की सार्थकता—उसकी माँ ! प्राण-पण से वह चिल्लाया—"माँ !" वह बाहर का कमरा लाघ मकान के अन्दर आँगन में पहुँच गया।

"अरे, मेरा बेटा है रे !" रसोई से निकलकर माँ आयी, निश्चिन्त आनन्द में प्रत्याशित स्वर के संगीत में लिपटी-सी उसकी स्वागत वाणी सुनाई दी—"आ गया रे ? क्या हुआ ?"

"अच्छा हुआ। बताता हूँ। जरा साँस तो लेने दे। भूख से जान जा रही है। पहले एक कांस पखाल दे। कांजी पानी भी रखा है ?"

"क्यों रे, पगले, इस समय पखाल खायेगा ? ठण्डी रात में इस समय पखाल ? कलेवा कर ले ! चूड़ा है, छेना है, नारियल का कौर देती हूँ। जा, हाथ-पैर धो आ। नौकरी का क्या हुआ ? वे नही है, पोखर की ओर नित-नेम करने गये हैं, अभी आते ही पूछेंगे। उनकी तो पहले वही बात होगी। खड़ा मत रह, जा कपड़े बदल।"

"नौकरी नही की।"

"एँ, नही की ?"

"वो बुरी दशा है, बारह झमेले हैं। मन को नही भायी।"

रवि की माँ को उसके बचपन की बात याद आयी। कभी-कभी जैसे वह छुपकर आकर जिद करता, "आज स्कूल नही जाऊँगा, माँ।" और तब वह स्वय हँसकर उसके सिर को सहलाती कहती, "मत जा, कोई तुझे मार रहा है क्या ?"

रवि का स्वर और भगिमा मानो वही बात कर रही है। लगता है जैसे कुछ घटा है, खैर रवि तो ठीक-ठीक से है और अधिक कुछ नही चाहिए।

हँसकर रवि ने कहा, "नौकरी मुझसे नहीं हो सकेगी, माँ ! पर एक बात हो गयी—" कहकर उसने अपने आप को रोका, मानो मन ही मन चौक पड़ा हो।

"और क्या हो गया रे ?"

हँसकर कहा, "मन थिर हो गया।"

"क्या थिर हो गया मन ? इन बच्चों की भी कैसी बातें होती है। आदमी क्या समझे इनसे ?"

"मैं यही रहूँगा। जाऊँगा नही, और कभी नही जाऊँगा।"

"तुझे कौन मना करता है ?"

"पहले पखाल दोगी या नही, बताओ।"

"अरे मेरे लाडले, बातों मे ही उलझ गयी मैं मुई ! अच्छा, पखाल खायेगा, तो चल खा। कुछ सेंक भी देती हूँ।"

की गुलेल से गोली छूटकर उसके मन की गहराई में आ लगी और वही रह गयी है। केवल मन ही नही, देह के स्नायुओं में भी बार-बार कौंध और हलचल। सिर्फ़ सिर ही झाँय-झाँय नही करता, मन में भी आकुलता है। मन ही मन किसी अध-छुए गुनगुनाये गीत के संगीत की अस्पष्ट वाणी। केवल कोई अनजान महक ही नही, छाती मे भी जैसे धड़कन-सी हो रही है। वह अनुभव कर रहा था—अपनी इस चेतना के नीचे जाने कैसी एक मद्धिम आँच। फिर उसमें एक प्रकार की अनजानी विचित्र सुखानुभूति और प्रबल कर्मठता की शक्ति है। मानो अचानक किसी उद्दाम तापपूर्ण शक्ति में वह रूपान्तरित हो गया है। गढने या ध्वस करने को उसके अन्दर एक प्रबल तूफ़ान है, यद्यपि उस झंझा का मूल केन्द्र एक प्रकार से शान्ति, अलस, स्वप्निल सुखलिप्सा है। अपने प्रति उसके मन में कही प्रश्नवाची अनिदिष्ट भगिमा थी, वह स्वयं आश्चर्य से घिरा था, किन्तु इस स्थिति मे स्वयं को स्थिर करते हुए भी बहाव के वेग मे, अनायत स्पन्दन की अनुभूति मे, चला जा रहा था।

सोचने को लम्बा तीन कोस का रास्ता। प्रसरी फैली चाँदनी रात। बहुत हलके-झीने कुहासे में सामने की ओर तिरछे आते चाँद के प्रकाश से बनी माया की स्थूलता, जगह-जगह सफेद कबूतर के पेट के नीचे के छोटे-छोटे रोयों की तरह चमकीले, और जगह-जगह पेड़ों की छाया के छिट-पुट मेघ।

उस छोटे-से परिसर में वह देख रहा था छवि का चेहरा। उसकी आँखों की भगिमा। कितने नये-नये भाव उसकी कल्पना में तैर जाते थे। वही उसकी अनार-फुलझड़ी की चिनगारियाँ थी। बारम्बार असंख्य धारा में ऊपर सर्र-सर्र कर जाती और मुरमुराती हुई झड़ जाती नाना वर्णों में। लाल, हरा, नीला रास्ते-भर उसके जीवन की कल्पना का वही खेल चलता रहा।

नदी के गरम बालू पर नगे पैरों चलते समय बीच-बीच मे गीला गमछा डाल पल भर खड़े होने की ही तरह शायद उसके जीवन की यह अनुभूति भी है। उसकी स्मृति का आश्रय। तीक्ष्ण अनुभूतियों के बीच कभी-कभार क्षण-भर के लिए शान्ति उपजाने के लिए, उसके जीवन को सरस बनाने के लिए।

क्या होगा—उसने कभी सोचा नही। हिसाब किया नही। लहरों में उछलते कदमों से दौड़ते घोड़े की पीठ पर बैठ नयी-नयी दौड़ लगाने की तरह उसके माथे में धमक-सी हो रही थी, एक नये स्वाद में उन्मत्त और उद्दाम होकर वह जैसे रास्ता भूल गया था, फिर भी सही रास्ते पर ही जा रहा था।

गाँव पास आ गया। चेतना में परिचित परिवेश का स्पर्श मिला और उसका वह नशा जैसे टूट गया। अपने घर के आँगन मे जाने पर उसे लगा, अँधेरा मानो स्वाभाविकता से कही अधिक गहरा है, चाँदनी को वह अनुभव नही कर रहा है, मानो कही कुछ बहुमूल्य पदार्थ खो आया है। आकुलता और

गहन अँधेरे के बीच अपनी आत्मा को सान्त्वना देने के लिए याद आया—सृष्टि के साथ उसके बढ़ते हुए एक मन्त्र की सार्थकता—उसकी माँ ! प्राण-पण से वह चिल्लाया—"माँ !" वह बाहर का कमरा लांघ मकान के अन्दर आँगन में पहुँच गया ।

"अरे, मेरा बेटा है रे !" रसोई से निकलकर माँ आयी, निश्चिन्त आनन्द में प्रत्याशित स्वर के संगीत में लिपटी-सी उसकी स्वागत वाणी सुनाई दी—"आ गया रे ? क्या हुआ ?"

"अच्छा हुआ । बताता हूँ । जरा साँस तो लेने दे । भूख से जान जा रही है । पहले एक काँस पखाल दे । कांजी पानी भी रखा है ?"

"क्यों रे, पगले, इस समय पखाल खायेगा ? ठण्डी रात में इस समय पखाल ? कलेवा कर ले ! चूड़ा है, छेना है, नारियल का कौर देती हूँ । जा, हाथ-पैर धो आ । नौकरी का क्या हुआ ? वे नहीं है, पोखर की ओर नित-नेम करने गये हैं, अभी आते ही पूछेंगे । उनकी तो पहले वही बात होगी । खड़ा मत रह, जा कपड़े बदल ।"

"नौकरी नहीं की ।"

"ऐं, नहीं की ?"

"वो बुरी दशा है, बारह झमेले है । मन को नहीं भायी ।"

रवि की माँ को उसके बचपन की बात याद आयी । कभी-कभी जैसे वह छुपकर आकर जिद करता, "आज स्कूल नहीं जाऊँगा, माँ ।" और तब वह स्वय हँसकर उसके सिर को सहलाती कहती, "मत जा, कोई तुझे मार रहा है क्या ?"

रवि का स्वर और भगिमा मानो वही बात कर रही है । लगता है जैसे कुछ घटा है, खैर रवि तो ठीक-ठीक से है और अधिक कुछ नहीं चाहिए ।

हँसकर रवि ने कहा, "नौकरी मुझसे नहीं हो सकेगी, माँ ! पर एक बात हो गयी—" कहकर उसने अपने आप को रोका, मानो मन ही मन चौंक पड़ा हो ।

"और क्या हो गया रे ?"

हँसकर कहा, "मन थिर हो गया ।"

"क्या थिर हो गया मन ? इन बच्चों की भी कैसी बातें होती है । आदमी क्या समझे इनसे ?"

"मैं यहीं रहूँगा । जाऊँगा नहीं, और कभी नहीं जाऊँगा ।"

"तुझे कौन मना करता है ?"

"पहले पखाल दोगी या नहीं, बताओ ।"

"अरे मेरे लाडले, बातों में ही उलझ गयी मैं मुई ! अच्छा, पखाल खायेगा, तो चल खा । कुछ सेंक भी देती हूँ ।"

"वही सेंक दे।"

"और कह तो आलू का भुरता भी। अच्छा, खा ले पेट-भर। फिर होकर सो रह। कितनी दूर चलकर आया है, थक गया होगा।"

"सब ठीक है। तू पत्तल दे, चल। हाँ, अदरक और जीरे की बुकनी भी। और मैं तेरी कूँडी में खाऊँगा, काँसे में नहीं।"

"अच्छा, अच्छा, तू जा अपना काम पूरा कर झट से।"

उनके घर में रहनेवाला कोई नौकर नहीं है। वट महान्ती को नौकर रखना पसन्द नहीं। अपने हाथ से घर का काम करना उनकी आदत है। दिन में मोटे काम करने के लिए लोग होते हैं; रात में कोई नहीं।

अपनी कोठरी में घुसकर कमीज उतारते-उतारते फिर मन में झलकी और बुझ गयी—पाटेली गाँव की बात। और अचानक ही उसे अधिक अकेलापन-सा अनुभव हुआ। वह सोचने लगा, माँ और पिता किस तरह दिन काट रहे हैं, फिर मानो उसे याद आते हैं—भाई, भावज और उनके बाल-बच्चे। वे जो इतने पास होकर भी इतनी दूर हैं। वे चाहते तो घर हँसता-बोलता होता, क्यों इस तरह उचाट, उदास-सा बना रहता?

दस वर्ष पहले आयी थी भावज चित्रांगदा। पति, अपनी मूँछों को काट-छाँटकर जैसे तितली की तरह बनाते थे, वैसे ही उसके नाम को भी काट-छाँटकर छोटा बना और 'चित्रा' लिखते थे। कीमती छींट की साड़ी, छींट की कमीज और काम किये गये छोटे-छोटे सोने के गहनों से वे भी सुन्दर तितली की तरह दिखती थी। अड़ोस-पड़ोस में उनके रूप की जितनी प्रशंसा फैलती थी, उतनी ही होती थी उनके चाल-चलन की आलोचना भी, "ये क्या रे बाबा, बहू बेटी की तरह चलती है! घूँघट माथे के बीच में, उसपर फिर फूल-खोंसा, झुकना तो सीखा ही नहीं। लाज-शरम नहीं, खट-खट बड़े-बूढ़ों के आगे से निकलकर सीधे सामने मुँह की ओर देखते हुए बातें कहना, यह कोई अच्छी बात है? इसी को तो कहते हैं शहरी बहू! कैसे निभायेगी इस घर में?"

माँ ने सबको सटा लिया। पिता भी बहुत स्नेह करते थे। फिर भी क्या हुआ? इस घर में उनका मन माना नहीं। रह-रहकर चिट्ठी पर चिट्ठी भेजी, पीहर में भाई के पास। चिट्ठी पर चिट्ठी आयी भी। पीहर के लोग आकर नाक-भौं सिकोड़कर चले गये। भाई ने भी पहले धीमे-धीमे कहा, फिर जोर देकर कहने लगे कि इसकी गाँव में रहने की आदत तो है नहीं, इसलिए यहाँ सुहाता नहीं। यहाँ रहकर उसका स्वास्थ्य भी ख़राब हो गया है। खिला-पिलाकर सेवा-यतन कर माँ उन्हें भले ही मोटी-ताजी रखती, पर भाई उतने पर भी कहते कि वह पहले से और भी सूख गयी है। फिर पूरी हुई उनकी मनोकामना।

चिश्रा भावज गाँव छोड़कर परदेस चली गयी।

इसके बाद तो जाने कैसे धीरे-धीरे यह डोर ढीली होती चली गयी। भाई भी कभी-कभार आते। शिकायत भी नहीं की जा सकती, पराये दरवाज़े सिर टेक रखा है जो!

परन्तु...

इस परन्तु के तल में ही कितनी बातें अनकही रह जातीं। कभी-कभी माँ का रोना। कभी-कभी साथ की औरतों में दुःख-भरी भोगी-भोगी बातें—"मैंने क्या दोष किया? हैं रे गोकुली की माँ, मेरे मन की बात कब समझी उन्होंने? जो कहा—वही मैंने किया। अपने हाथ से कभी चूल्हा भी नहीं उसने जलाया। जूड़ी में पड़कर भी कभी किसी दिन यह नहीं कहा कि बहू, मेरा माथा दबा दे।"

भाई-भावज। नौ वर्ष की बेटी सुना, बाप को गयी है, वैसी ही गोल। उसके बाद सात वर्ष का बेटा कुना, उसका चेहरा उसकी माँ की तरह पतला-सा। उससे छोटी नीचे पाँच की रुना, वह तो बिलकुल माँ जैसी है, वैसा ही मुँह, नाक और आँख-हाथ-पैर, सबसे अधिक फुर्तीली है वह। सबसे छोटा मुन्ना है, तीन वर्ष का। सबसे अधिक सजीला है। देखने पर वे सब काका-काका कहकर गले से झूल जाते। कोई पीठ पर है, कोई जेब टटोलता है, तो कोई हाथ पकड़ खींचता है और कोई कुछ फ़रमाइश लगाता है। और यह सब सोचते ही आँखों में तैर जाती है रंग-बिरंगा फ्राक पहने सुना। चिकने सिर पर रंग-बिरंगे फीते बँधे हैं फूलों की तरह। ढेर सारी सहेलियों के साथ फिरती रहती। किसी चित्रकार की बनायी हृष्ट-पुष्ट बिल्ली की तरह। कुना उसके ठीक उलटा, सदा गुटुर-कुटुर होता रहता। जब देखो उसकी देह में एक-दो घाव। गालों पर कीचड़, हाथ-पैर सब कीच से सने, कपड़े पर स्याही, गन्दा हाफपैण्ट। लगता है, जैसे एक केले का पेड़ हो...नीचे से मैला और ऊपर दूध-सा चमकता नरम चेहरा, ऐसा चेहरा कि लगता जैसे उसपर कोई न कोई विचार या भाव तैर रहा हो। रुना मानो सजी-धजी कोई तस्वीर हो, सारे माथे पर चन्दन की बूँदें, लम्बी पूँछ-सी खिंचकर आँख का काजल कान तक चला गया है। उसकी माँ समय पाती तो उसे सजाती रहती। जब देखो अपनी अकूत सम्पत्ति फैलाकर कुछ न कुछ करती रहती। कितने काग़ज के खोल, टीन के खोल, रंग-रंगीले कपड़े के टुकड़ों में सजी गुड़ियाँ, नाना चीजें, अपने आप गीत गाती, छमक-छमक करती फिरती रहती।

वे सब इस घर में होते तो घर भरा होता।

कहाँ जाता है आदमी का पहले का स्नेह। कितनी तेज़ी से आदमी बदल जाता है, और चारों तरफ से अपनी स्नेह-श्रद्धा खींच-खींचकर ले जाता है और उसे अपने 'मैं' के चारों ओर जमा करता है।

रवि ने सोचा, भाई कुछ अलग किस्म के हैं। और भावज को पूजा करते वह कुछ कितनी आशा लेकर ससुराल गया था।

उसे लगा भी कि उसने नौकरी नहीं की। कम से कम एक पाती तो कह गयी। फिर सन्देह हुआ, किसकी बात कहेंगे?

नौकरी हुई नहीं, या तो उनका चेहरा ही बताये दे रहा है। रवि की मां सोच रही थी, वह स्वस्थ है, निश्चिन्त है। मानो वह अपने सिर से कोई बड़ा बोझ उतारकर चला आया है।

यह कुछ भी करे, न करे—दादाजी के साथ तुलना कर उनके बारे लिखा ही सोचे, रवि की मां उनपर दर्द का अनुभव करती है। पर उनके लिए तो उन्हीं के पिता की बात याद करा देती है, कई बातों में वह अपने दादा की तरह ही है। केवल वैसा ही चिन्तन, या सोच का ढंग नहीं और न केवल बातचीत, रहन-सहन का ढंग ही मिलती-जुलती है, उनके मन में जो लगाव है वह भी पता नहीं, वैसे अपने दादा जैसा ही है, आदमी जब उसी सांचे में ढला है तो विचार भी वैसे ही हैं।

एक बार की बात याद आ गयी।

घर की अवस्था सुधारने के विचार से राजा के यहां नौकरी करने चले गये। गांव में खबर आयी कि अब उनके भाग जागे, राज-अनुग्रह मिला है। उस राज्य में पण्डित भी उनका बड़प्पन स्वीकार करते हैं—इतनी बुद्धि, इतना पाण्डित्य, ऐसी अवस्था, ऐसा शरीर। राजा ने घर भर दिया, फिर नौकर-चाकर, घोड़ागाड़ी, अधिकार—क्या नहीं दिया। इतनी बड़ी हवेली! इतनी सुविधा! अब तो नौकर रखने रखना सुगम गया। गांव के जो लोग वहां काम करते हैं, उन्होंने देखा और आकर बताया! कहा, वह मौलदार बन गये हैं, शीघ्र ही देखते-देखते दीवान बन जायेंगे।

किन्तु एक पखवाड़ा भी पूरा हुआ था कि नहीं, बोरिया-बिस्तर बांधकर घर पर हाजिर। कहने लगे, 'ठाकुरजी की पूजा करना तो सीखा है, आदमी को ठाकुरजी मानना नहीं सीखा। हमारे यहां कौन ऐसा हुआ जो अपना विचार छोड़कर पराये द्वारे पर माथा हो। विवेक की बलि दे, आंख-कान मूंदकर जो कहा जाये वही करो दिन-रात! भाड़ में जाये ऐसा पैसा, हमें रास नहीं आयेगा वैसा जीवन। अपने को तो यही साग-सत्तू ही अच्छा। ओह, आदमी यहां कितनी शान्ति से सांस ले सकता है!'

आत्मविह्वल-सी अतीत की ओर आंखें किये रवि की मां उन्हें देख रही थी। साधारण आदमी। देहाती खादी की धोती से अनढंके घुटने, सिर के पीछे की ओर बालों में गांठ। बाहर पैर निकालते हैं तो खड़ाऊ की ठकर-ठकर, और हाथ में एक लाठी जिसकी गांठों को धन-जन-मरण धन-जन-मरण कर, गिनने से

जन के पास खतम हो जाती। हँसकर कहते, 'धन' धन की आशा मत करना रे बच्चो, 'जन' असल है, जन से ठीक रहे तो धन अपने आप आयेगा। वैसे भेस और चेहरे के आदमी पर कितनी खातिर, कितना मान था उस तेरह खण्डी इलाके में। सबको मानो वे वश में किये थे। उनकी बात वेद का मन्त्र बन जाती। बाघ-बकरी एक ही घाट पर पानी पीते। गलत बात उनकी आँखों को सुहाती नही थी। चावल का दाना भी कही पडा होता, तो चुनकर रख देते। भात की थाली के पास बिलाई घेरे बैठी है, बच्चे बैठे हों, सबको मुट्ठी-मुट्ठी भात देते। पर ध्यान रहता कि कोई एक दाना भी न छोडे। घर पर सब भाइयों का कुटुम्ब मिलाकर चालीस प्राणी थे, सबको सँभालते थे। अकेले चलाते थे। एक चूल्हे पर सबकी रसोई, कोई सौ कमाता है। तो क्या, साडी खरीदी जायेंगी तो सबके लिए एक समान। नही होगी तो किसी के लिए भी नही आयेगी। भानजा-भानजी, भतीजी-भतीजा, नाता-गोता, आया-गया सबको समान आदर। अपना-पराया नही देखते वहाँ। सबका भला-बुरा देखते-देखते ही झर से दिन बीत जाता, रात हो जाती। स्वय काम में जुटे रहते तो घर-भर के सब लोग रहते काम में, कौन कितना कर सकता है उसी पर बदा-बदी चलती, उनके मुँह पर जरा-सी हँसी देखने के लिए सब लोग प्राणपण से काम कराते। यदि आपस मे बिगाड होने को होती, तो वह स्वयं जान जाते। किसी को बिना बताये भात की थाली पर से उठ जाते। बस, सारे घर मे हलचल मच जाती, समझाना-बुझाना चलता, गलत आदमी अपना दोष सकारकर अपने को ठीक कर लेता। इस तरह घर टूटने से बच जाता।

"नखी बेटी, पान लाना तो। कुछ खाया ?"

मुँह हँसी में दपदपाता दिख रहा है। बापू बुला रहे हैं।

"अरे, कुछ खाया बेटी ?" इतने मे ही सारा स्नेह ! प्रश्न तो बस इशारा है। पास आने पर, सिर पर हाथ फेरकर वही प्रश्न। पिता के हृदय का अपार स्नेह-सहानुभूति उतने मे ही उसे बार-बार भिगो देते। इसके बाद मन हलका हो जाता, मानो नीचे जमीन नही। मन आकाश ही आकाश में उड़ता-सा लगता।

"माँ दिया ?"

"देती हूँ, बेटे ! यह भाजा डाला है, अभी हो जाने पर देती हूँ।"

...आँखो पर स्मृति का परदा फिर पड़ जाता है, धुँधली-धुँधली कितनी बाते दिख जाती हैं। सब घुल-मिल जा रहा है, [illegible] जा रहा है। तेरह वर्ष का होते न होते वे उसे पराये गोत्र को करने में [illegible]। अभी खोज-बीन, पूछ-ताछ। इन दिनो ही तो, नदी के किनारे-किनारे [illegible] देर, सखी-सहेलियों के साथ, तोड़ती फिरती। कभी-कभी तो सारी दोपहर बीत जाती। इसके बाद बिल्ली की तरह इस घर से उस घर [illegible] घर। चारों ओर [illegible]

सी देखती-सूंघती अपने घर में घुसती। शायद कहीं वे हों। पूछ बैठूँ; तो? उसपर कभी नही बिगड़ते। माँ कहती, तो बोलते—मेरी बिटिया घूमेगी ही, मन चाहे जहाँ घूमे-फिरे, कुछ कहना नहीं।

कहाँ गया वह समय। किस चूल्हे में गया! इतनी देर बाद मुड़कर देखा, वहाँ अब कुछ भी तो नही रहा। सब बिलीन हो गया। दो वर्ष पहले वहाँ गयी थी, छोटा भाई मोहन अपनी बेटी के ब्याह पर लेने आया था। पाँच भाइयों में मोहन सबसे छोटा है, किन्तु है सबसे ज्यादा परिवारी। शहर मे व्यापार करता है, गाँव मे मकान बनाया है, जमीन ली है, किन्तु वह प्रायः गाँव में नहीं रहता, उसके बाल-बच्चे शहर में ही हैं, शहर के वे आदी हो गये हैं। मोहन की दोनों छोर पर निगाह है, इधर शहर मे ट्रक, मिल, दुकान, उधर गाँव में खेती-बाड़ी, राजनीति। खादी को छोड वह और किसी वेश मे बाहर नही निकलता, शुरू से ही वह कांग्रेस का मेम्बर है। आदर भी है। लोगों मे लेन-देन करता है। उनकी ख़बर पूछता है। इस बारे मे वह कुछ-कुछ अपने पिता की तरह है। जिन्हें कुछ चाहिए, वे सब 'मोहन बाबू, मोहन बाबू' कहकर घेरे रहते। वह किसी से कुछ करने को कह देता तो उसे लोग पूरी करते।

किन्तु बिना व्यापार-वणिज या नौकरी किये, और बिना कोठे-बाड़ी खडे किये ही पिता ने एक बहुत बड़ी गठरी मे जैसे सबको बाँध रखा था। मोहन से ऐसा सम्भव नही हो सका। किसी से नही हो सका। सब बिलग हो गये, सब एक-एक हो गये, कोई स्वय भले ही खड़ा हो गया, किन्तु किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नही रहा। उलटे जरा-जरा-सी बात मे मन फटने लगा, किसी की थाली में घी देखा तो खुल्लम-खुल्ला शत्रुता आरम्भ हो गयी, और नहीं तो ईर्ष्या ही सही। जो कुछ कर न सका वह लुढ़क गया, दूसरों ने भले ही सुध ली हो, अपनों ने तो आँख उठाकर देखा तक नही उस ओर। उसी घर के कितने लोग कर्मानुसार, अपने-अपने रास्ते चल पडे। ठीक-ठिकाना बनाकर गुजर-बसर कर रहे हैं, कोई करता है नौकरी, कोई बैठता है दुकान पर, कोई व्यापार मे है, बड़ा-छोटा सब अपने-अपने मे मस्त है, लेकिन पूरे कुनबे पर किसी का साया नहीं रहा।

आह, क्या था, क्या हो गया!...

बेटा चिल्ला रहा है। अब भूख और सह नही पा रहा। "अरे हाँ, हाँ आयी!" पल्लू में आँसू पोछ, अपने को झटकती हुई-सी वह जल्दी से सँभालने लगी। अब था जाग्रत् वर्तमान—उसके स्पष्ट अवयव! पिछली बातों की केवल गुनगुनाहट-भर रह गयी। दृश्य बदल गया।

रसोई में चूल्हे से चार हाथ हटकर रवि खाने बैठा है। सामने पखाल से भरी पथरी रखी है। थाली में बैंगन भाजा और आलू का भर्ता, बड़ी के टुकड़े,

नमक और कच्ची मिर्च अलग-अलग रखे हैं। एक सिलवर के कटोरे में कांजी-पानी रखा है। सामने है चूल्हे की धधकती आग, उसकी झुलसती लाली मानो मन के अन्दर तक आँच दे रही है, गरमी पैदा कर रही है। चौतरे पर लालटेन रखी जल रही है। घर के नीचे चूल्हे के किनारे आधी दीवार, घर के अन्दर की दीवार आदमी के हाथों माटी-गोबर का लेप पाकर आँखों को ऐसी कोमल और स्वाभाविक दिख रही है मानो उसमें भी जीवन है। उसका भी जीता-जागता चेहरा है। बिलकुल उसका कोई अपना जो अपनी सनेही दृष्टि से सिक्त किये दे रहा है। छान के नीचे की ओर बाँस मे लगे कपड़े के टुकड़े जगह-जगह फरफरा रहे है, वह भी उस स्वाभाविकता में ही खप जाता है। भात खाते समय पास मे ही है बिलाई की म्याऊँ-म्याऊँ। दीवार से चिपटी छिपकली जो पूंछ सलबला रही है, एकटक अँधेरे की ओर देख रही है। और यह चूं-चूं करती लम्बी सूँड़ से मानो घर बुहारती-बुहारती तेजी से दौड़ रही है परिचित-सी छछून्दर। माँ उसे हिस्-हिस् कर रही है। चूल्हे के पीछे कतार की कतार मे हण्डियाँ—पखाल की हण्डी, कांजी-पानी की हण्डी, भात की हण्डी और रसोई के लिए अन्यान्य हण्डियाँ—किसी पर पलम, किसी पर काठ का चटू, नारियल की ढकी सब मिल गया है उसी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की देह मे। माँ बैठी है। वह दृश्य का जीवन है। कानों को मधुर, प्राणो को जैसे शीतल कविता का रस। इस परिचित परिवेश ने उसे ऊष्मा मे डुबोकर अपनी बाँहों में भर लिया है। पल्लू से ढाँप गोद में बिठाये हुए हैं, जैसे माँ बैठाती है अपने बच्चों को।

तृप्ति।

केवल तृप्ति ही नही—अवस्था के साथ एक आत्मीयता, सहज निर्वर्तित, नि.सकोच स्थिति और व्याप्ति है वहाँ, उसकी और उसकी पृष्ठभूमि की। मुँह मे कौर भरते समय परिस्थिति की स्वच्छलता मे सुख से बढ़कर मानो उसका व्यक्तित्व अपने को खींच-खींचकर ऊँचा कर उँगली पर खड़ा हो स्पर्धा से देख उसके एक और दबे हुए व्यक्तित्व को देखने लगा—वह दूसरा व्यक्तित्व वामन है, कुरूप है, वह उस समय का व्यक्तित्व है जब वह नौकरी करने चला था। विपद् से उबरकर विपन्नकारी की ओर अन्तिम दृष्टि डालने की तरह उसने गर्व का अनुभव किया कि वह हार नही गया। बँधा नही, चला आया है।

अत्यन्त विश्वास के साथ मन की बात खोलकर कहने की तरह उसने अपनी माँ के आगे कहा—"देख लो, जमीदारी रही या गयी! क्या हुआ? वैसे ही...।" वैसे वह मन ही मन बातें कह रहा था, उसमें से एक अश किसी तरह उसके मुँह से छिटककर बाहर निकल गया।

विस्मित-सी होकर माँ ने पूछा, "किसकी बात कह रहा है?"

मानो वह पहले ही कह चुका हो, इस तरह बोला, "कहा तो, वैसे ही सब।"

"क्या सब ?"

"ओह, तू समझी नहीं क्या माँ ? पहले ज़मींदार होना गौरव की बात थी। इसके लिए गोपाल साहू ने मिठाई बेचते-बेचते भी दो पैसे की ज़मींदारी का अंश ख़रीदा। यह नौकरी का विचार भी वैसा ही गौरव पाने का विचार है। अन्त में उससे गौरव पाने की बात भी उठ गयी। समय आयेगा जब लोग दूसरा ही रास्ता देखेंगे, आ रहा है वह ज़माना।"

"सरकार ने ज़मींदारी उठा दी तो क्या अब नौकरी-चोकरी भी उठा देगी ?"

"नौकरी उठाये काम चलेगा कैसे ? नहीं री बुद्धू, मैं तो कहता हूँ, अभी जगा रोग घेरे है हमें, पढ़ाई पूरी करते न करते आँख मूँदकर व्याकुल हो सब कुछ नहीं, नौकरी करो। भविष्य में लोग वैसा नहीं करेंगे। अपनी बात तो यह कि रुपयों की आशा में कोई नौकरी नहीं करेगा। रुपये कमानेवाले दूसरा रास्ता पकड़ेंगे। वे ही आयेंगे जिनका मन ख़ुद पुकारेगा—पेट पर गीला कपड़ा रख, इन लोगों का बोझ सम्हालना है।"

"पर तुझे क्या असुविधा है ? तू तो यही खोज रहा है।"

"अभी लोग पेट के लिए नौकरी खोजते हैं। मैं उनमें नहीं हूँ," कहकर सीधा देखते हुए वह हँस पड़ा।

माँ समझ गयी। हँसकर बोली, "तेरी इच्छा, मैं थोड़े ही मना कर रही हूँ।"

"तब तू पिताजी को समझा देना।"

"उन्हें समझाने की क्या ज़रूरत है ? वे क्या तेरी कमाई खाने के लिए तुझसे नौकरी करवाना चाहते हैं ? केवल तेरे ही भले के लिए तो कहा होगा। और क्या ? ख़ुद तेरा मन उसमें नहीं लगा तो न सही, अब अपना घर-संसार तो तुम्हीं करोगे, बाबा, हमारा क्या है ?"

"घर—फिर संसार, खाली घर ही नहीं।" भौंहें नचाते हुए रवि ने कहा।

"घर हो तो फिर संसार भी होगा। यह तो जगत् की रीति है, तुम कोई नया करोगे ?" हँसते हुए माँ ने कहा, "खाता नहीं, बस बातें कर रहा है।"

"कहाँ, मैंने तो कुछ भी नहीं पूछा।" रवि ने कहा, "अच्छा, बता तो करुणा बावरी बेचारा ज्वर में पड़ा था, उसके घर में खलबली मची थी। चावल भेज दिया ? तुझे कहकर गया था न।"

"नहीं भेजती तो तू मुझे रहने देता ? सारे रास्ते यही सोचता गया होगा। उसकी बहन आयी थी। दो तामलोट चावल ले गयी है।"

"और वह सपनि केवट की माँ के दस्त हो रहे थे—कहा था, दो रुपये दवा के लिए..."

"सो भी दिये गये।"

"और एक बात माँ..."

"जानती हूँ, उनके घर की गाय के बारे में न? कुँई के फूल-सी बछिया हुई।"

आश्चर्यचकित होकर रवि ने ऊँचे स्वर में कहा, "बता-बता तो तू कैसे जान गयी माँ।"

हँसी से गद्‌गद, रुक-रुककर बोली, "हैं रे, तू मेरे पेट से जनमा है, तेरे मन की बात मैं नहीं जानूँगी, मुझसे भी बढ़ गया...।"

"हाँ, सब तो जैसे तुम जान गयीं—"

"सब जानती हूँ, सब जानूँगी रे, सब।" उसने गर्व से उत्तर दिया।

केले के मज्झे का रायता। तरकारी लेकर पहुँची जगूदास के घर की बहू कजली माँ, सतुरी दास की स्त्री। सतुरी दास उम्र में वट महान्ती के बराबर होंगे। उनकी स्त्री रवि की माँ से चार-छह महीने बड़ी होगी। किन्तु वैसे सतुरी दास रिश्ते में रवि का भतीजा लगते हैं। अतः कजली माँ रिश्ते में हुई बहू। सात बच्चों की माँ, कजली माँ का स्वास्थ्य कब का चौपट हो चुका। आदर के विचार से आड़ में खड़ी हो गयी। रवि की माँ से फुसफुसाकर कहने लगी, "छोटे काका कब आये? क्या छुट्टी हो गयी?"

हँसकर रवि ने कहा, "हाँ, माँ, कह दे चाकरी से छुट्टी, सब दिन के लिए छुट्टी। चाकरी ऐसी थी कि मन नहीं किया।"

कजली माँ ने रवि की माँ से कहा, "इतनी पढ़ाई कर छोटे काका को नौकरी नापसन्द है, और गंधिया की बात तो देखो, माइनर भी उससे न हो सका घर पर घास के एक से दो टुकड़े कर नहीं सकता, इधर नौकरी का नशा उसे ऐसा चढ़ा है कि बस 'चाकरी करूँगा, चाकरी करूँगा' की रट लगाये हुए दौड़-दौड़कर पैरों के तलवे घिस डाले।...उसका भाग!"

गंधिया उनका छोटा बेटा है। उससे बड़ा जोति है।

वह चली गयी।

रवि की माँ बोली, "जिससे सुनो यही बात। सब दुख में है। चावल अब रुपये का दो सेर भी मिलना मुश्किल, चलेगा कैसे?"

"यही तो सोचने की बात है," रवि ने कहा, "जो लोग पढ़ाई कर नौकरी कर दूसरे गाँव में रहते हैं, वे सुख से रहें और दूसरों का कुछ हो न हो।"

रवि की माँ ने उत्तर नहीं दिया। उन्हें अपने बड़े बेटे 'कवि' की याद आ गयी।

रवि उठकर सीधा बाहर चला आया। चाँद छुपा न था, किन्तु कोहरा और धुआँ मिलकर कैसा धुँधला-धुँधला-सा हो गया है। दूर देखता खड़ा रहा। आँखों के सामने आ गयी एक पुरानी तसवीर। मानो वह देख रहा है—घर

नही, दीवार नही, छत नही केवल ऊपर-नीचे की विस्मृति के बीच पुंज के पुंज आदमियों का समूह । सब अपने-अपने परिसर की स्वतन्त्रता ओढ़े पड़े हैं । जैसे बेशुमार छोटे-छोटे बालू से बनाये हुए मन्दिर खड़े हैं दुहरीली चाँदनी के समुद्र के नीचे । एक उपादान से बने किन्तु अलग-अलग । कोई टूटे या खड़ा रहे अन्य दूसरे दौड़कर नहीं आते उसके पास, सहायता करने के लिए । सब एक-एक गढ़े जाते हैं, खड़े होते हैं, धीरे-धीरे टूट जाते है । फिर गढ़े जाते हैं । एक नहीं होते । ऐसा है उसका गांव । सब गांव । काम बाकी पड़ा है ।

मानो आदमी किसी अँधेरे अतीत में सृष्ट होकर धीरे-धीरे आगे की ओर गतिपूर्वक बढ़ता आ रहा था । पत्थर के खोल से आये, पेड़ की खोह से आये, घर किया, समाज बनाया । आगे आ रहे थे दुनिया को एक करने, गढ़ने । बीच में रुक गये है । अपना-अपना स्वार्थ सत्ता की धुन मे बहता स्रोत न बनकर, छोटे-छोटे सड़े-गले गड्ढे बन गये । बहुत काम बाकी है ।

रवि के बढ़ते सपने के भावों की लहर उसे दूर तक ले गयी, मानो वह अगणित आदमियों के सुख-दुख से अपने मन को जोड़ना चाहता है । मानो उसकी खुशी समस्या के समाधान मे नही, एक विशाल मानवीय सहानुभूति मे एक दुहरी चाँदनी की रात की विस्मृति मे अपने आप को परिणत कर कण-कण बन चारों ओर बिछ जाने मे है । उसने स्वप्न देखा, आदमी-आदमी के हृदय को गूंथने के लिए और दुख पिघलाकर सुख उपजाने के लिए बेशुमार हाथ जुटे है, कोणार्क गढ़ा जा रहा है, उनमे दो हाथ उसके है, वह भी एक कारीगर है ।

उसी जाग्रत् स्वप्न को ऊष्मा दे रहा था छवि का चेहरा—मानो उसके सामने कर सकने की-सी दृढ़ता दिखाकर अपने व्यक्तित्व को प्रसारित करने के लिए अन्दर से उद्दीपना आती है, मानो वह बीते-खोये मध्य युग का कवचधारी वीर पुरुष है । उसके व्यक्तित्व का प्रकाश लड़ते-भिड़ते, मारकाट में नही, गढ़ने में है ।

तभी देखा कि पिता आ रहे है । उनके साथ मूसी पण्डा । दोनों सुख-दुख बतियाते समय, दुनिया-भर की बातो के बारे मे अपना मन्तव्य तौल-तौलकर देते । रवि प्रतीक्षा करने लगा । प्रश्न आ रहा है । उसे लगा, वह उत्तर दे सकेगा । कुण्ठा नही है ।

पाटेली गाँव में ।

बड़े तड़के सिन्धु चौधरी उठ बैठे, केवट बस्ती से एक साथ कई ढेंकियों की चिवड़ा कूटने की आवाज़ आने के साथ-साथ । इधर बावरी बस्ती के मुर्गे गोया

शर्त लगाकर बाँग देने लगे।

इसी समय उठकर नित्यकर्म कर लेना उनका वहुत दिनों का अभ्यास है। इस गाँव का नहीं, यह चाकरी-गाँव का अभ्यास है। वहाँ नहा-धो अपने हाथों हाण्डी वैठा, चावल-दाल-हल्दी-घी एक साथ राँधकर दिन-भर के लिए तैयार। फिर चाहे भात वाद में खाते रहें। घूमने का काम ठहरा, क्या ठिकाना। घर पर आने के वाद पहले की तरह सुवह की खिचड़ी खाना अब नही पडता। हाँ, जाग जाने का अभ्यास अब तक रह गया है।

कुछ ही देर मे छवि की माँ उठेगी, और फिर छवि। घर का काम-काज आरम्भ हो जाएगा, रोज की तरह। यह भी मानो एक अभ्यास हो। इसमें घिसट कर एक के वाद एक दिन झड जाता है, उसका कोई हिसाव नहीं।

आज भी दिन जैसे आया है, वैसे ही चला जायेगा। अकेले नदी नहाने जाते समय रास्ते मे सिन्धु सोच रहे थे—ऐसा कोई और दिन शायद उनके लिए नही आयेगा। वे न होंगे। जीवन-भाटे की गति वे कव से अनुभव कर रहे हैं, उसका सकेत बढ़ता हुआ देख रहे है। अव सगी-साथियों से निवृत्ति। वस अपने को लाद-कर किसी तरह समय काटने का मन—उसके साथ भागवत।

चारों ओर आँख डालकर, जव हटने-हटने का अवसाद घिर आता, तब उनके जीवन की संचित अभिज्ञता के अन्दर से जीवन का रश्मि-तत्त्व आश्रय माँगता। झुकने पर लगता, यह भी सह लेंगे, यह भी भूल जाएँगे। छटपटाने से कोई लाभ नही। इस मानव-जाति के लिए देह को यह सब कुछ सहना पड़ेगा।

उसी के बीच कभी-कभी याद आ जाता—सजग जीवन का आवेश और पीड़ा किसी सामान्य वात से जगकर भागवत की शीतल शान्ति को हिला देती। मन फिर स्थिर होकर झूलता रहता, इधर-उधर कितना झूल चुका है।

विशेषत. वैसा तब होता जब अचानक सिर में घुसता कि समय घिसकता जा रहा है और उसके साथ-साथ याद आता कि कौन-सा काम अटका पडा है। तब जलती आग पर पैर पड़ने की तरह सारा व्यक्तित्व थर्रा उठता। लगता, छटपटाकर किसी भी तरह इस वर्तमान को समाप्त कर सकते! वेग की ज्वाला में देह और मन गरम हो उठते। इस पृथ्वी पर, इस जीवन मे, सारे सम्बन्धों में अपनी अवस्थिति की डोर लगा पाते। उद्विग्न होकर समय काटते-काटते फिर सब भूल जाते।

सोच रहे थे—छवि का विवाह नहीं हुआ।

चौड़ी नदी के वालू पर पौ फट रही है। घाट की ओर नहाने जाती औरतें अस्पष्ट-सी दिख रही हैं। उस रास्ते पर धार चली गयी है। धार पर धार कितने ही। ससारी आदमी चले जा रहे हैं—वे हटे नहीं। दायित्व कहने से जो भी समझ आये—अपनी-अपनी समझ से उसे पूरा कर रहे हैं ये सब। केवल वे

अकेले सबके पीछे पड़ गये हैं। छवि उड़ जायेगी। तब उनका यह एक बड़ा, आख़िरी कर्तव्य भी पूरा हो जायेगा। फिर कभी, एक के बाद एक, दो आदमी और चले जायेंगे। कब किस आदमी ने अपना अश बढ़ाने की यात्रा आरम्भ की थी इस घराने में, इसका इतिहास चुक जायेगा। वे तो वही चौधरी है, वे ख़ुद।

सुन्दर भोर उपज आयी। साँस में लम्बा दम भरकर भोर में से कुछ सीख लिया और आँखों से पी गये उसका रूप। अभ्यासवश याद आ गयी सदा की परिचित अनुभूति, अपने आप सरकार बन गयी। वे पानी में उतर पड़े।

डुबकी लगा पानी मे अँजुरी भर पूर्व की ओर मुँह किया। सामने की ओर नदी के उस तरफ पेड़ों की कतार पर कोमल सूर्य मुँह दिखा रहे हैं—आशा और आलोक की परिचित मूर्ति। उस उदय के चारों ओर सौम्य आनन्द खिल जाता है, उन्हें लगा। सिन्धु चौधरी अपने खोल से निकलकर बाहर बिछे-से पड़े रहे।

भीगी देह को छू रही है सुबह की हवा, अन्दर तक सिहर उठते है। यह हवा गुम होकर ऊंघने नही देगी, झकझोर देती है व्यक्तित्व को। आकाश में रग-रग के रास्ते खुल गये-से लग रहे हैं। मानो यह भी एक सकेत है। हिलते पानी पर एक ताज़ी प्रफुल्लता। आँखो को लगता है सुन्दर, स्निग्ध। मन में आनन्द। गोता खाती मछलियाँ दल पर दल बनाकर घूम रही है। चारों ओर जाग उठे हैं चलते-फिरते जीवन के चित्र। पानी के किनारे-किनारे बगुले और टेंटेई। ऊपर इस पार से उस पार हो रही है दल की दल चिड़ियाँ। दोनों ओर घाटों पर सुबह के नहानेवालों की चहल-पहल।

नहाने के लिए छवि और उसकी माँ आ रही होंगी, शायद भीड़ मे मिल गयी होंगी आकर।

सदा की जैसी उदार शान्ति में अपने आसन पर मन को स्थिर रख ईश्वर के यश गाने का मन्त्र गुनगुनाते हुए वे गाँव की ओर लौट आये थे। इसके बाद भी जो होगा उसके लिए अभ्यास है। नहाने के बाद पूजा, फिर चिवड़ा-गुड़। चाहे जितनी बार भी पखाल माँगें, छवि की माँ मना कर देती है। इसके बाद अष्टचीरा आड़ी-टेढ़ी सिलाई किया हुआ चौकट गमछा पहने सीधे गाँव के बीच चटशाला की ओर।

कितनी बार हँस-रूठकर छवि की माँ ने कहा कि एक धोती ख़रीद लो। सबका बस एक ही उत्तर—"पहले तुम्हारे लिए हो, फिर मेरे लिए।" कभी छवि की माँ छेड़ती, "तुम्हारे तो दो भाई हैं, उनके लिए क्या नही किया, चिट्ठी लिखते ही वे क्या तुम्हें एक-आध धोती की व्यवस्था नही कर देते ? एक क्या दो। इनसे भी क्या लाज करोगे ? मैं न परायी हूँ, तुम तो उनके अपने भाई हो !"

आज भी उसी तरह छवि की माँ ने आरम्भ किया। आज भी चौधरी ने हँसकर टाल दिया। किन्तु छवि की माँ ने आज जैसे ठान ली थी। कड़े स्वर में

बोली, "तुम इस तरह धरमी बनकर कितने दिन बैठे रहोगे ? बेटी को क्या बूढ़ी करना है !"

"ऐसी क्या उमर हो गयी, जो यों कह रही हो ?"

"नहीं, नहीं, तुम्हारे लिए बैठी रहेगी ! आज तुम नोका अवधान को बुलाओ।"

"ठीक है, बुलाऊँगा, क्या हो गया ?"

"आज ही तुम अपने भाइयों को चिट्ठी लिखो। परामर्श माँगो।"

"बस लगी बकर-बकर करने। गया आज का सारा दिन, अशान्ति में।"

"तुम शान्ति से बैठे रहो। मुझे कहीं भेज दो।"

"क्यों व्यर्थ ही कहे जा रही हो ?"

"तुम तो कुछ समझोगे नहीं, नजर तो घुमाओगे नहीं। मैं क्या बाहर जाऊँगी या मुझसे कुछ होगा ! लिखो अपने दोनों भाइयों को कि रुपये भेजें, बेटी का ब्याह होगा ! तुम्हारी तो यह अवस्था है। अपना पहना टुकड़ा भी फटा है। वे न देंगे तो फिर कैसे चलेगा, बताओ ?"

खीझकर सिन्धु ने कहा, "ओह, अच्छी बात कह रही हो। कभी देखा है तुमने किसी के सामने हाथ पसारा हो मैंने।"

"तब तुम्हारे हाथ में कलम थी। करज मांगने पर लोग अपने आप दे देते। अब किसी से कह देखो, कोई करज देगा ?"

"मैं कहीं गया क्या ? जब तक मैं स्वयं हूं..."

"हाँ-हाँ, कौन इनकार करता है ? पर तुम्हारा अब मोल ही कहाँ रहा।" कहकर छवि की माँ लजाकर मुंह मोड़कर खड़ी हो गयी।

सिन्धु चौधरी ने गम्भीर होकर कहा, "जानती हो, मेरा मोल नहीं, फिर कहती ही क्यों हो ? क्या कटे घाव पर नमक छिड़कने के लिए ?"

वे धीरे-धीरे बाहर की ओर चल पड़े। पीछे से बढ़कर छवि की माँ ने कहा, "सुनो, मेरी बात को उलटा क्यों लेते हो ?"

"नहीं, मैं सीधा ही समझता हूँ। मेरा मोल नहीं, यह कोई मैं नया-नया समझ रहा हूँ ? जिसके पास पैसे का बल नहीं, उसका कोई मूल्य नहीं। न देश में, न घर में, न भाई के पास, न स्त्री के पास। यही तो संसार का मत है। तुमने नया कुछ नहीं कहा।" उनके स्वर में भरी थी उदासी और क्लान्ति।

छवि की माँ दो भावनाओं के प्रवाह में पड़कर छटपटा रही थी। आँखों में आँसू उमड आये, इधर लाज से मुंह जल रहा था। अपने को संभालने की पूरी चेष्टा करती हुई स्वर को नम्र कर बोली, "अरे, मेरी बुद्धि भी कहाँ जल मरी, तुम्हें पान भी नहीं दिया !"

स्वर का करुण अनुनय स्वामी के प्राणों को छू गयी। मुड़कर कहा, "आज

तुम्हें क्या हो गया है।"

इसी मे था—समझ-बूझ और क्षमा। छवि की माँ ने कहा, "आज सुबह से सिर चकरा रहा है, छाती धड़क रही है।"

सिन्धु चौधरी ने मजाक़ मे कहा, "तुम ज्यादा मोटी होती जा रही हो न, इसीलिए।" वे हँस पड़े।

छवि की माँ फिर अगली सीढ़ी पर लौट गयी, "आज मधु-विधु के पास चिट्ठी लिखो तो सही। आज की बात आज। कल-कल करने से कोई लाभ नही।"

"तुमने क्या उनका सपना देखा है ?"

"क्यो नही देखूँगी ? अपने खास देवर है, बिना भावज के हाथ का पानी तक नही पीते थे। अब चाहे वे जो हो। पीछे हटकर रहने से काम नही चलेगा। जबर-दस्ती आगे बढ़ना होगा। चिट्ठी लिखो, उनके पास जाओ, जो भी करो। वे रुपये देने को बाध्य हैं। जिसने जिसके लिए किया है वह उससे अपने लिए आशा नही करता है क्या..."

बीच मे ही सिन्धु ने कहा, "नही।"

"रखो अपनी नही। उनके लिए तुमने भी तो अपना इतना सारा रुपया खर्च किया ?"

"छिः छि' क्या कहती हो ? क्या भाई होकर मैं अपना कर्तव्य भूल जाता ? पैसा क्या किसी के पास सदा रहता है ? जिसके लिए जो किया सो किया। अब कहाँ सुयोग मिलता है—किसी के लिए एक पैसा भी खर्च करने को ?"

"अच्छा ! अच्छा, प्रतीक्षा करो।" छवि की माँ ने मजाक मे कहा, "तुम सुख से रहो, मै झुलसती रहूँ। सुनो, मैंने पेट फाड़कर बेटी जनी है, मेरे दो-तीन नही, बस यही एक है।"

सिन्धु ने समझाया, "क्यों भाइयों को लिखूं ? बिचारे कौन कहाँ बाल-बच्चों को लेकर अपने सुख-दुख में पड़े हैं। अब कौन आता है इस डीह मे थूकने को भी।"

छवि की माँ नीचा सिर किये चुपचाप खड़ी रह गयी। सिन्धु चौधरी चट-शाला की ओर चल दिये।

चटशाला का अहाता दिख रहा है। घनी लाल सेम की लता छा गयी है, असख्य नन्हे-नन्हे हाथों जैसे अगणित लाल फूलों के निशान सीधे खड़े हैं, कुछ मे लाल-लाल सेम भरी है। सुबह की धूप तिरछी होकर पड़ रही है उनपर। कौवा छत

पर बैठा कुछ तोड़ रहा है।

मुड़कर बैठते समय दिख जाती है चटशाला की बाड़ी। केले की बाड़ी में केले झूल रहे है, लाल-लाल फूल लटके है गुच्छों के आगे। घने नीबू के पेड पर कई नीबू हैं, पीले-पीले-से। सूरजमुखी, हरी मिर्च की पौध कमर तक ऊँची हो आयी है। सारे पेड में काले पत्तों की फाँक के बीच से काली-काली मिर्चें सीधी खडी दिख रही है। कतार की कतार पपीते के पेड़ एक-एक पोरसा ऊँचे खडे हैं जिनमे छोटे-छोटे लोटों के आकार के फल भरे हैं। अमरूद और बेर के पेड़ प्रतिद्वन्द्विता कर रहे है कि कौन कितनी जगह घेरता है। कल के बच्चे जैसे है, पर कितनी जल्दी बढ गये।

बैंगन भी दो-चार साफ़ दिखाई दे रहे है। ढेरों बैंगन, काले-काले। पास मे टमाटर। एक हाथ ऊँची मचान पर बडे-बडे फल लोट रहे हैं। देखने पर लगता ही नही कि यह बच्चों का लगाया बगीचा है। वहाँ हैं नाना प्रकार की साग-तरकारी। सबमें कुछ-न-कुछ लगा है।

अरे जा ! छान मे फूस न पड़ सका इस वर्ष—सिन्धु चौधरी सोचने लगे। शुरू में गाँव के लोगों मे कितना उत्साह था—अब धीरे-धीरे धीमा होता जा रहा है।

सौ हाथ पर साठ हाथ का अहाता है चटशाला का। बीच मे दस-बारह हाथ का लम्बा मकान। माटी का घर, फूस की छत !

जगह उन्होने ही दी थी। इसके अलावा पुराने घर मे पत्थर। गाँव के लोगो ने काम किया था। लाल अण्डी के लम्बे-लम्बे पेड से बाड़ खड़ी की गयी है। बाड़ के सहारे-सहारे अनेको काठ चम्पा। पत्ते ही नही, फूल भी हैं। चारों ओर अपराजिता; सफ़ेद, नीली, लाल कनेर। उसपर भी फूल लदे हैं। आँखों को सबसे ज्यादा दिखनेवाले आठ कच्चे-कच्चे नारियल के गाछ थे। चार कोनों में चार और सामने की तरफ चार। घर की छान जितना उठते न उठते फलने लगे है। ढेरो फल। बस इतना भर गाँव के लोगों की मेहनत से हुआ। सामने का पोखर उलीचते समय वे लोग ही तो इनकी जड़ों मे कीचड़, खाद और घोंघे उँडेल गये थे।

बाड़ के दरवाज़े पर जो गोल छादनी है उसपर मधुमालती छा गयी है। इधर-उधर फूलों के झुमके लटक रहे है। वह भी उन्होने ही किया था, पर खड़ा करने से लेकर कुआँ खोदने और बगीचा लगाने तक। बच्चे दो आखर सीखेंगे, अतः कितना आग्रह है उन लोगों मे !

सामने की ओर से यह सब दिख रहा है। छान पर कुम्हड़े और लौकी की बेल सूखकर सोयी पड़ी है, किन्तु लौकी के सूतों पर जगह-जगह हरे-हरे अंकुर निकल रहे हैं। सूखते-मरते हुए भी फल-फूल रही है; वह लता। फाटक के पास,

फिर फाटक से दरवाज़े तक, और छान के नीचे-नीचे, रस्सी से बँधे श्रीपचमी के दिन के आम के तोरण सूख गये है, फिर भी है।

वाड़ के पास से चटशाला के दरवाज़े तक जाने के लिए सपाट रास्ता है। दोनों ओर दो-दो हाथ पर मल्ली के पौधे लगाये गये हैं। खेलने के लिए खुला घास का मैदान छोड़ दिया गया है, किनारे-किनारे पर जगह-जगह लम्बे टगर के पेड़ हैं। छोटे-छोटे लाल कनेर और लाल मन्दार के झाड़ है। जूही, हिना। लम्बे-लम्बे पत्ते फैलाये दो-तीन किसम के केदार फूलों के भी पौधे है। एक ओर कुआँ और बाँस का बना रहँट। उसके पास गोल घेरेदार अशोक के झुरमुट, गुच्छ के गुच्छ झुमको जैसी कलियाँ है, जिनमे कोई-कोई खिल भी गयी है।

चटशाला के अहाते के पश्चिमी भाग मे, पुराना पसरनेवाला बरगद अपनी दो-दो पुरसा ऊँची जड़ें काढे खम्भो की तरह फैला खड़ा है। सामने बड़ा पोखर, लाल-लाल पद्म से भरे पोखर के बीचो-बीच बने खम्भे पर कबूतरो की भीड़ जमी है। पद्म-पत्रो पर हलके-हलके पैर टिकाते दौड़े जा रहे हैं डाहुक। पनकौवे, हंस और बगुले खेल रहे है। पास मे खुला-फैला मैदान। उससे सटकर आम के पाँच पेड। और इधर-उधर बस्तियाँ, नारियल के बगीचे, आम के बगीचे, पास-पास लम्बे-लम्बे नारियल के झुरमुटों के नीचे कतारो मे बसे घर, ऊँचे चबूतरे।

घर और अपनी समस्या पीछे छोडकर यहाँ दिन बिताते-बिताते यह दृश्य सिन्धु चौधरी की अवस्थिति का सहज चित्र-सा बन गया है। यही आँखों के सामने, नितान्त आत्मीयता लिये, उनके जीवन का सहज दृश्य रूप खिलाता है। ये परि-चित लोग, कोई गोबर चुग रहा है, कोई गाय हाँक रहा है, कोई हल लिये खेत की ओर जा रहा, कोई नहा-धोकर भीगी धोती बाँधे कन्धे पर गीला गमछा डाले कुछ मन्त्र गुनगुनाता घर लौट रहा है। गाछ की जड़ों मे जड़ें गुँथ जाने की तरह जैसे अनादि काल से ही यह सब मानो परम्परा के अंग बन गये हैं।

इन सबो के साथ उनका भी सम्बन्ध है। इन आदमियो के साथ आदमी बन, और पेड़-पौधों, गाय-बकरियों में, उनके सगी-साथी बनकर दिन पर दिन बीत गये हैं। वर्ष के बाद वर्ष। इसी तरह सात वर्ष बीत चुके। बाहर को तो जैसे बिलकुल भुला दिया।

कभी चाँदी की जेब-घड़ी थी, हृदय के साथ सटकर टिक-टिक करती रहती। घड़ी के पुर्ज़े टूट गये। अब हर बात पर जीवन के हर क्षण में, उसका वह दिखावटी घिसा-पिटा चेहरा याद नही पडता—जिसमें बस चोंय-पोंय मची रहती थी, जो सदा दबाव डालती रहती कि इतने बज गये, उतने बजकर इतने मिनट हो गए, समय गया।

यहाँ वह रोग नही है।

अख़बार वे नही पढते, चिट्ठी लिखते नही, शहर की ओर जाना-आना करते

नहीं। वस यही चटशाल, और घर, और गाँव का परिसर। आँखों के सामने नीरव धूप-छाँव का खेल। कानों में परिचित संगीत की तरह आदमियों के घर-गृहस्थी की हो-हा। लोग बातें करते, धोबिन कपड़े धो रही होती, सर-सर कर खेत की ओर जाता हुआ हल।

सब जगह जीवन। सब घटों में ब्रह्म, और ब्रह्म ही जीवन।

यही चटशाल। यही—।

अरे, अब तक खाली है ? कोई आया नहीं ? चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने तो कोई छुट्टी नही की थी।

मुफ्त की चटशाल, पैसे लगते नहीं। माहवारी न देने पर भी उसकी विधि-नियम-शृंखला, किसी मे कोई कमी नही। बच्चों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

आज बच्चे अभी तक आये नही। चटशाल मानो खाने दौड़ रहा है। पहले जब बगीचे का एक चक्कर लगाते, तब बच्चे भी पीछे-पीछे दौड़ते। छवि यही पढ़ाई पूरी कर घर में रह गयी। बँधा नेम नहीं, प्राथमिक शिक्षा देते हुए ही उद्भिद-विद्या, प्राणी-विद्या, साधारण ज्ञान, ऊँचे स्तर का उड़िया साहित्य, समाज-नीति, भूगोल-इतिहास, कृषि-विद्या, सूत कातना, यहाँ तक कि जरीब-नाप—जितना कुछ वे जानते और सिखा सकते हैं, सब कुछ बच्चों को सिखाने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी बढई, लुहार, कुम्हार, पुरखे किसान, ग्वाले, पुराण बाँचनेवाले पण्डा, ये लोग उनके बुलावे पर भी आ जाते, बच्चों को अपनी-अपनी विद्या के बारे मे कुछ बताने के लिए।

पुराने युग का स्मारक वह बग़ीचा ! और उस डीह पर स्कूल बसाने का निर्णय स्वयं उन्होंने ही किया था। पहले यह बग़ीचा चौधरी वंश के ऐशमजलिस करने के अनेक स्थानों मे से एक था।

मन कुम्हला-सा गया। लगा, जैसे इस सुन्दर छबीले बग़ीचे का कोई अर्थ नही। इतनी तितलियाँ उड रही हैं, यहाँ से वहाँ उड़कर बैठ जाती है, लम्बी पूँछवाली मैना और काले कलिंग, हर रोज इसी समय कही से हल्दीवसन्त उड़कर आता, कच्चे नारियल के पेड़ से दूसरे पर उड़-उड़ जाता, लुका-छिपी करता-फिरता। वह भी आ गया। वह नेवला रहा, वन-चिड़ियों का दल उसके ऊपर उडता हुआ चहल-पहल मचा रहा है, धीरे-धीरे वह दूसरी ओर चला गया। इतने दृश्य होने पर भी वे नहीं हैं जो इन दृश्यों में जीवन भर देते है—बच्चे !

चारो ओर उन्ही के हस्ताक्षर तो सजे है। धरती पर इतनी रेखाएँ कि मिटाये नही मिटतीं। किसी ने माटी कचोटकर घोड़ा बना लिया, किसी ने माटी का खिलौना। नारियल के पत्तों की चटाई, जटाओं को बटकर रस्सी, बुनी हुई रस्सी से चटाई बनाने की चेष्टा, लकडी के टुकड़ों के खिलौने, विमान, काग़ज के तो रंग-बिरंगे फूल, कोयले से बनाये गये चित्र, खड़ी से बनाये गये चित्र, इन

सबसे ही नन्हे-नन्हे मन की कल्पनाओं को रूप देते हैं। कोई सलेट छोड़ गया, किसी का सुन्दर लेख का खाता रह गया। इस कोने में किसी की फटी किताब, एक स्याही की दवात। कंकड़, ठिकरियाँ, इमली के कोये, घुंघचियाँ आदि। कितना खाली-खाली लग रहा है। आदमी नही, अलबत्ता, जगह-जगह पर आदमी की स्मरण-मूर्तियाँ हैं।

मानो इस दुनिया से आदमी हट गये हैं। केवल वे ही हैं, अकेले!

अण्टी से कुंजी निकालकर काठ का बकस खोला, एक बकसे में से चरखा और कुछ रुई निकाल उस नारियल को चटाई पर बैठ सूत कातने लग गये। इधर दीवार पर महात्मा गाधी की तसवीर मानो उनकी ओर देखकर मुसकरा रही है।

सोचने लगे, ऐसा भी दिन कभी आयेगा—यह उन्हें पहले से ही लग रहा था। जबकि बच्चे आयेंगे नही, चटशाला का घर खाली पड़ा होगा।

अनुष्ठान खुला रहेगा पर आदमी न होगा।

सोचने लगे, यही तो असल समस्या है। अनुष्ठान गढ़ना कठिन नही, कठिन है आदमी के मन को गढ़ना। ये इतने वाद-विवाद, स्वार्थ, हिंसा दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। कौन जानता है, कब क्या विकार मन से फूटकर निकलेगा, कोई सन्देह या नासमझी साकार रूप लेकर बारूद की तरह फूटेगी, फूटकर निकलती रहेगी। उसके बाद तो खाली भेदासुर की गरज, कलह, तकरार।

यही भेद एक दिन बढ़ जायेगा, हाथीशाला की तरह ढेर के ढेर घर पड़े रहेंगे सुनसान होकर। जगल बढ़ जायेगा—चारों ओर घिरता चला जायेगा। आदमी सहमा पड़ा रहेगा अपने-अपने अँधेरे खोल में, केवल बहस-बाजी, हथियार मिलेंगे भी तो केवल एक-दूसरे पर वार करने के लिए। वही हिंसा की होगी चरम स्थिति। गाँव क्या, शहर क्या, राज्य क्या और दुनिया क्या। सच मानो, उत्तर के लिए उन्होने दीवार की तसवीर की ओर देखा। चित्र मे चहरे पर वही हँसी। लगा, जैसे पुतलियाँ हिल-डुल रही हैं, चित्र मे होंठ कांप रहे है।

चरखे ने सगीत छेड़ा है। चक्का फिर रहा है, सूत लम्बा हो जाता है। वे लपेट देते है। आँखो के आगे तैरकर मिट जाती है कितनी छवियाँ। आदमी हिसाब करता है, मिलाकर गुणा करता है, दो और दो मिलकर चार नही होते, सहज परिणति असहज हो जाती है, अक्षर मिट जाते है। छवि की माँ 'भाई-भाई' कह-कर उलाहना देती है; विधु रह गया पुरी मे, मधु बस गया नयागढ़। केवल दो नाम। कब भेंट हुई थी? कितने साल पहले? वे दोनो भी एक दिन थे—इसी पिण्ड के अटूट अश। इसी रक्त की, इसी हृदय की एक धार थे। बड़े, बहुएँ आयी। इसके बाद चले गये। चचेरा भाई सत्यवान, गुरु के पिता, इगिसर में थे—छह कोस की दूरी पर। कभी-कभी आते। देखा-देखी हो जाती। मशीन जैसे अपने ढंग

से चलती। जितनी चाबी दी गयी, उतना भर। जिस रास्ते जिस ढंग से चलने के लिए बनी, बस उतना ही। वह थोथी हँसी। वह निरर्थक दृष्टि। आदमी ही नहीं, मन भी उड़ गया। जन्म-परिवर्तन-मरण। आँख खोलना, आँख मीचना। जीवन का क्या कोई अर्थ नहीं? यह स्पन्दन, चेतनामय यह स्पर्श—पर और सूक्ष्म होने पर उसकी ओट मे कहीं अर्थ है, जिससे उद्वेग नहीं, हलचल नहीं, स्थिर आनन्द है, स्थिर शान्ति है, भागवत कहती है।

चरखा चल रहा था, सिन्धु चौधरी उसमे मग्न हो गये, मानो उसकी गति मे अपने को भी मिला दिया हो।

सन् 1921 की बात। अब तो बहुत दिन बीत गये।

सिन्धु चौधरी की पहली नौकरी ही थी, सेटलमेण्ट अमीन। जीभ को पैसे का स्वाद लगा है। उमर खोजती है भोग। मन चाहता है धन कमाकर धँसती हुई पुरानी गरिमा को उठाकर खड़ी करने को। जमीदारी जा चुकी थी, अब सुनते-सुनते इस बात को सहन कर लेने को आदत पड़ गयी थी। आशा की किरण दिखी, नौकरी में शायद कुछ किया जा सके।

तब घर झुका जा रहा था, टूटा न था। फिर भी इस अकेली हवेली मे सात भाइयों का कुटुम्ब। अस्तबल मे घोड़ा भी बँधता, यद्यपि था वह बूढा और रोगी। बाहर के धूल से भरे घर—हाड़-चाम बचे हाथी की तरह खड़े है। जैसे उसके शरीर में जगह-जगह घाव हो गये हों। स्थान-स्थान से फूट-टूट गये थे। फिर भी इन घरों में ठुँसे पड़े थे काठ के सन्दूक, पुरानी आलमारियाँ, थाक की थाक ताड-पोथियाँ, पीढ़ी-दर-पीढ़ी की वंशावली, जो यह बताते है कि किस पूर्वज ने क्या किया था, आदि-आदि। और वैसे ही साल-दर-साल जमीदारी की आय-व्यय का हिसाब; और भी कई कारबारों का। चाँदी के झाड़-फ़ानूस, पीतल की दिहूटी, बड़े-बडे नहाने के कुण्ड, लीला का सामान, ठाकुर जी की सवारी निकलने के लिए और फिर ज़मीदार के पधारने के लिए चँवर, छत्र, दण्ड, तुरही और चाँदी का छत्र। वैसे ही भाँति-भाँति के हथियार—तलवार, थेल, बरछी, फरसा, खाण्डा, अकुश, भाला, ढाल आदि कितने कुछ। और पहले के जमाने में पहरेदारों के हाथ मे रखने के पीतल की कीलें लगे डण्डे। गठरी की गठरी पुरानी पोशाक—जरीदार, लाल-पीली-नीली रंग-बिरंगी। किसी-किसी में छीट लगी है। चौधरियों की और उनके गाँवो के नाना कर्मचारियों की पगडी, अँगिया, कमरबन्ध। चूहों के कुतरे हुए और कीड़ों द्वारा छेद-छेद किये पुरानी बेंत की पेटियो में भरी थी। और फिर हाथी-घोड़ों की पोशाक, साज आदि कितनी ही चीजें।

चार-पांच सवारियाँ थी, टूटी और दीमक खायी हुई पालकी, जिस पर सुन्दर कारीगरी की गयी थी। चाँदी के बड़े-बड़े खोल थे हत्थों पर और उनपर मगरमुहाँ काम, मखमल का साज, छींट के बने सालू के ढक्कन, सबको चूहे और दीमक ने काट-पीट रखा है।

कूड़े-कर्कट बनकर भी ढेरके ढेर ठुँसे थे, फेंके नहीं गये थे। चिड़ियों और चूहों ने घर बसा रखे थे! साँप घूमते। बच्चों को उधर जाने से मना कर दिया जाता, फिर भी बच्चे आँख-मिचौनी खेलते उधर निकल जाते, कभी-कभी किसी चीज़ से ठोकर खाकर चोट भी लगा लेते।

तब हवेली से कुछ ही दूर पर बाड़ा था जहाँ कतार की क़तार सैकड़ों गाय-भैंसे बाँधी जा सकती, पत्थर का फर्श। नाला इस सिरे से उस सिरे तक बना था, सो भी पत्थर का। कतार मे नाँद रखी होती। घर टूट रहा था, तब भी चार जोड़े बैल और तीन-चार गायें थी। बाकी सारा दालान खाली पड़ा था। नीचे से ऊपर तक मकड़ी के जाले। जगह-जगह बाम्बियाँ, और टूटी-फूटी मिट्टी के ढेर यहाँ-वहाँ।

और ये चौधरियों के प्रसिद्ध कोठार। टूट जाने पर भी ये थे, ढह नही गये थे। मन्दिर के चारों ओर बनी प्राचीर की तरह हाथ-भर मोटी दीवार चारों ओर। नारियल के गाछ, सामने काफ़ी खुली जगह, एक जगह खलिहान, धान के ऊँचे-ऊँचे ढेर, धान सुखाने के लिए चौड़ा चिकना फ़र्श। दूसरी ओर बैल-गाडियो के रहने की जगह। दरवाजे के ऊपर गज-लक्ष्मी की मूर्ति, सामने नक्काशीदार चबूतरे पर पत्थर की हाण्डी। वही छाती-भर ऊँचाई पर तुलसी-चौरा। अहाते मे चौकोर दीवार के सहारे-सहारे छान, जिसके नीचे खेती के सरजाम—टोकरी, डाली, हल, जुआ आदि। और क़तार के कतार पुराने जमाने के कोठार, धान रखने के लिए। काठ की बुहारियो पर माटी से बने घर के आकार मे होते। धान भरने के लिए हाथ-भर का किवाड़ और निकालने के लिए नीचे की ओर रास्ते, जिन पर बड़े-बड़े कुलफ़ झूलते। ऐसे कितने ही कोठार थे। कई फूट गये, कई फट गये। कुछ ख़ाली पड़े हैं। अन्दर घुसते ही डर लगता, लोग कहते है कि जाने कहाँ-कहाँ से आकर भूत बस गये है उनमें।

तब भी सेवक नित खटते थे। हुकम बजाते। त्योहार के दिन मिलने आते तो साथ आलू, अरबी, मछली या साग-सब्जी ही लाते, जमीदारी के जो प्रजा के लोग कलकत्ता या कालीमाटी चले जाते वे अपनी इच्छानुसार मनीआर्डर कर भेंट के लिए रुपये भेजा करते। रुपये की मछली के लिए चौधरी अगर चवन्नी फेंक देते तो भी कोई मुँह न खोलता। नौकर-चाकरों की चहल-पहल थी, हलवाहे, दास-दासियाँ भी थे। काम करनेवाले यदि गाली-गलौज भी सुनते या दो-चार धौल खा लेते तो भी मुँह नही खोलते। 'पीठ मे सहा तो पेट मे खाया' कहकर सह लेते और

चले जाते। नाम फैला हुआ था। सात खण्ड में ध्वजा फहराती थी। थाने से मुंशी जी आते या डाकिया आता तो रहने के लिए कमरे थे। भोजन-पानी की व्यवस्था थी।

तब दोपहर की नींद से उठकर 'हजूर' चौकी पर बैठ शतरंज और पाशे बिछा देते। घर में मिठाइयाँ बनती, पीठियाँ तली जाती। औरतें पीकदान के पास अलसायी बैठी बातें करती रहती। बच्चे कबूतर उड़ाते।

पीला पड़ता जा रहा था पुराना चलन। खोखला और ढीला। बाहर कूड़ा-करकट। दीवार पर सुन्दर माड़ने लिखे है फिर भी कोने-कोने मे पान की पीक भरी है। बिना मरम्मत का सारा घर। आँगन के नाले में से गन्ध। सतरंजी और पुराने बिस्तरों में धूल।

दर्प और अहं अब भी था। केवल शक्ति न थी। प्राचीन आभिजात्य की लाश पानी मे फूल जाने पर भी विश्वास नही हो रहा था कि वह मर चुका है। तब भी आशा लगी थी। चलता आया है—चला है—चलेगा—सदा ऐसे ही।

आया 1921-1922। हवा मे उड़ता नया नाम आकर कानो से टकराया —'महात्मा गान्धी।'

अब यह कौन? अँगरेज ही तो राजा है, यह ब्रिटिश सरकार।

"वह महात्मा है, अवतार है। धरती का भार बढ गया, अतः आये है। हाथ मे चक्र की तरह चरखा है। कमर में लँगोटी। साथ मे सखा भी है कुछ, जैसे उड़ीसा के गोपबन्धु। सत आयेगा। कलियुग पूरा हो गया। सतयुग आया है।"

घर-घर में स्त्री-पुरुषो ने हाथ जोड़े। मन्त्र की तरह गुनगुनाया, "गान्धी महात्मा! महात्मा गान्धी!" चमकती आशा और रुँधी साँस से पूजा करने लगे उस नाम की। विश्वास किया कि अब दुख नही रहेगा, झूठ नही रहेगा, पाप नही रहेगा, देश का उद्धार होगा, युग बदल जायेगा, अब किसी बात का डर नही!

"स्वराज आयेगा, भारत स्वाधीन होगा।"—बात फैल गयी। कैसा है वह स्वराज? अँगरेज चले जायेंगे। लाल पगड़ी और लाल आँखें नही रहेगी। न अनाचार रहेगा, न अत्याचार, न शोषण। अपना समझकर अपने देश पर शासन करेगा अपना आदमी। हमारा सनातन आचार-विचार, धर्म-कर्म फिर पूर्ववत् हो जायेगा। सब सुख से खा-पीकर जी सकेंगे।

गाँव का चौकीदार पोशाक पहन थाने में ड्यूटी करते समय मन ही मन

सोचता, "कब ये लोग जायेंगे। दिन तो हो गये। महात्मा आ गये।"
हाट में, बाट में, भागवत-घर में, पाशा खेलते समय, सबके मुँह से वही बात—"कलियुग बीत गया, गान्धी-युग आ गया।"

इस वार्ता के प्रचारक की तरह गाँव में आ पहुँचे शुभार्थी साहू। लम्बा क़द; बडा, गोल चेहरा, आँखों पर चश्मा। मोटा खद्दर पहने घुटनों तक धूल में सने आ पहुँचे। उनसे पहले गाँव मे आ पहुँची उनके नाम की महक। पढ़ाई इतनी की कि गाड़ी की गाडी किताबे! चाहते तो सरकार जाने कितनी बड़ी नौकरी दे देती। उस पर कितने बडे खाते-पीते घर के आदमी! ज़मीन-जायदाद, कोठा-बाड़ी-व्यापार—किस बात की कमी थी। उनका घर साहू-घर कहाता। उनके यहाँ कितनों ने उधार नही लिया, कितनों ने क्या-क्या नहीं खाया! इलाके के बड़े ख़ानदानी घरवाले है वे लोग। और अब सब छोड़-छाड इसमें शामिल हुए हैं। नगे पैरों चल-चलकर पैर छिल गये है। खाने को रूखा-सूखा, जहाँ जो मिला। सोने के लिए किसी के घर का चबूतरा या खुली जगह। सब ओर से निर्विकार।

वे आये थे। कोई हँसा, कोई खूब रोया। एक साथ मिलकर सबने नारे लगाये थे। गाँव के कीर्तनियो ने मृदग बजाकर जबानी ही जबानी स्वाधीनता के गीत रचकर कीर्तन करते हुए फेरी की थी, पुराना सकीर्तन गाया। ऐसे ही इस देश के गाँव-गाँव मे फैला था—श्री चैतन्य, जिसे गाने पर या सुनने पर आदमी का हृदय खिच आता, प्रेम से पुलकित हो जाता। किसी ने सिखाया नही, फिर भी पगड़ बाँध हल पकडकर किसानों ने जुलूस निकाला था। पंक्ति-पंक्ति में गाँव की चटशाला के छात्र, भीड की भीड गाँव के लोग। और वैसे ही गाँव में बहुओं ने एक साथ हुलहुली लगायी थी। पीला चावल छिडका था, घी का दीप जलाकर स्वागत किया था। शख बजाया, ढोल पीटा। शुभमगल के लिए जिसे जो आया, उसने वह काम ख़ुद किया। हृदय झूम उठा था। नदी के इधर-उधर कोस-कोस से लोग सुनने आये थे, हज़ारों कण्ठों से एक ही अभय वाणी! जाग उठी भारत की प्रथम जीवन्त भाषा :

"महात्मा गाँधी की जय।
भारत माता की जय।।"

गाँव के चौक मे जगह नही होगी इसलिए नदी के किनारे घने बरगद के नीचे सभा हुई। दूर तक लोग भरे थे। वे क्या एक गाँव के लोग थे! मानो झूलन का मेला लगा हो, परिचितों से भेंटा-भेंटी। लकडी थामे, काँपते बड़े-बूढ़े, गोद मे बच्चे लिये औरतें। ख़बर फैलते ही कहाँ-कहाँ से लोग आकर जमा हो गये! सिर पर से धूप उतरते न उतरते एक बडी सभा जुट गयी।

और शुभार्थी साहू ने कहा, "यही वह पाटेली गाँव है, जिसका नाम चारों ओर है, लोगों की जीभ पर। आज भी है इस गाँव के चौधरी, जिनके पूर्वज थे

योद्धा, वीर सेनापति। अपने पराक्रम के बल पर उन्होंने चौधरी पदवी पायी थी। अकेले न थे, उनके साथ और भी अगणित नर-नारी थे। क्या आज वही रक्त पानी हो गया ?...बोलो भाइयों, भारत माता की जय ! महात्मा गान्धी की जय !"

कितने नये शब्द। देश-भारत—स्वाधीनता—स्वदेशी—महात्मा गान्धी ! केवल शब्द या केवल मन्त्र ही न थे। इतने युगों का अँधेरा, अवसाद को जलाने के लिए आग के गुल्म थे। और जीवन्त बीज, जो पड़ते न पड़ते उग आये, पेड़ हो जायें।

शुभार्थी साहू चले गये। किन्तु देश में हलचल मच गयी। "भाई रे, आज दिन आया है।" गीत गाते-गाते इस गाँव के हिन्दू और शमशेरपुरिया मुसलमान एक साथ गले से गले मिले। जात-कुजात, चमार-ब्राह्मण, सबने एक साथ महोत्सव मनाया। घर में चरखा चल पड़ा। बूढ़ी-बड़ेरियों ने बहू-बेटियों को सूत कातना सिखाया और बातें बनाने लगीं कि कैसे पुराने ज़माने में वे सूत काता करती थीं। चरखे के साथ-साथ ताँत लगी। बाड़ी में, खेत में कपास उगाने लगे। सबसे चन्दा उगाहने लगे और धन इकट्ठा किया जाने लगा। 'मुष्टिभिक्षा' के लिए घर-घर में मटका रखा गया। वर्षों के पुराने कलह-झगड़े भूलकर लोग एक साथ मिले। गाँव में एकता बढ़ी। नशा-पानी छोड़ने की बात गाँव की गली-गली में समझायी जाने लगी। किसी-किसी ने तम्बाखू तक छोड़ दिया। जिससे भी सुनो, एकता की बात, स्वराज की बात ! बच्चे-बूढ़ों को एक कर ढिबरी जलाकर पढ़ाई शुरू हुई। जिसके घर में जो किताब थी, वही लाकर गाँव में 'लाइब्रेरी' की स्थापना की गयी। वहाँ हमेशा चलती स्वराज्य की बात। महात्मा गान्धी की चर्चा होती। तब बन गया पढ़ने का कमरा, जो जितना जानता उसने उतना ही सिखाया। विदेशी वर्जना खूब ज़ोरों से चली। गाँव के छोकरे घर-घर घूमकर विलायती साड़ियाँ माँग लाये। मृदंग-झाँझ बजाकर, गाँव के चौक में साड़ियाँ रखकर उनमें आग लगायी। जहाँ देखो नया उत्साह। घटना और आदमियों का नया मोल-तोल। आदमियों के मन में नयी आशा।

तभी धान काटते-काटते शुकुटा चमार खेत के बीच में खड़ा हो हाथ में हँसिया ऊपर उठाये किसी पुराने वक्ता की तरह भाषण दे रहा था—"पुराना समय बीत गया, बादलों से घिरी अँधेरी रात गयी। अब सतयुग आ गया, गान्धी जी का राज है। अब हमें कोई डरा नहीं सकेगा, दबा नहीं सकेगा।"

नाइयों के यहाँ गाँव की सबसे ज्यादा बूढ़ी, कनी बूढ़ी दरवाज़े पर पैर पसारे बड़बड़ा रही थी, "सच, सतजुग आ गया ! सच, अपना धान उगेगा ! पश्चिम में सूरज उगेगा ! सच, मेरा गोपालिया बेटा फिर उठकर आयेगा मेरे पास।"

गोपाल बुढ़िया का छोटा बेटा था, मरे पन्द्रह वर्ष हो गये। मरते समय उसकी उमर थी बावन वर्ष।

चारों ओर उत्तेजना ही उत्तेजना थी। गाँव-गाँव से आवाजें उठीं। औरतों ने कानों से सोना उतार दिया। गाँव-गाँव में सभा-समितियाँ, जुलूस। लोग गाँव-गाँव घूमकर मन्त्रणा करते, 'लकड़ी उठाने से तो महात्मा जी ने मना कर दिया,' 'क्या करने से देश स्वाधीन होगा ?,' 'यह सरकार हट जायेगी ?'

तब सिन्धु चौधरी ने सोचा जरूर था, पर उधर झुके न थे। उन्हें याद था—बड़ा शहर, फौज-पुलिस की छावनी, ठोस और मजबूत दीवारोंवाले बड़े-बड़े कमरे, सरकारी आफ़िस, कचहरी, और फिर बड़ी तसवीर, विलायत के राजा की !

सिन्धु चौधरी ने नये आन्दोलन को खाली देखा ही देखा था, और चले गये थे नौकरी करने, पैसा कमाने। जुलूस और सभा देखकर बड़े-बूढ़ों ने लौटकर चबूतरे पर बैठ, निराशा और अविश्वास के स्वर में आलोचना की थी। छोकरों ने कहा, "हाँ, हाँ, देखना, देखना ! मिलेगा, मिलेगा !"

अविश्वास भी फल गया देखते ही देखते। पुलिस की लाठियाँ पड़ीं, धर-पकड़ मची, लोगों के अभाव-अशिक्षा ने उस दुःख को और भी बढा दिया। कण्ठ साहू के पास चन्दे के पैसे जमा थे, वह उसे हज़म कर गया। गाँव का एक-एक मुट्ठी चावल धूम-धड़ाके में ही ख़र्च हो गया। लाइब्रेरी की किताबों को जिसे मौक़ा मिला, दबा बैठा। चरखा टूट गया, रुई ग़ायब हो गयी। रुई की खेती पुलिस के डर से बन्द, तांत बेच दी गयी।

पुलिस के आते ही सबमें हड़कम्प मच गयी। सब पीछे हटने लगे। इसने उसपर और उसने इसपर बात थोपनी शुरू की। कितने लोग बाँधे गये, शहर में कुछ दिन रहकर गाँव लौटे। कितने घर टूटे, कितने छोकरों ने पढ़ाई छोड़ी। कितने लोगों की नौकरी गयी। घर में बैठ जाना पड़ा।

इस गाँव से तीन व्यक्ति तो सदा के लिए चले गये—एक तो गया शुकुटा चमार। पीठ पर जाने कितने ही कोड़े पड़े पर मुंह से केवल निकला—'महात्मा गान्धी की जय।' एक साल जेल काटने पर आया तो सूखकर छड़ी हो गया था, फिर उसी साल ज्वर में पड़कर मर गया। और एक गया शिव चौधरी। जवान छोकरा, ब्याह-शादी की नहीं। जेल से लौटा फिर खादी की गठरी पीठ पर लादा और फिर जेल गया। फिर लौटा तो वही काम किया। इस तरह तीसरी बार जेल से लौटा तो पता नहीं क्या रोग लेकर आया कि छाती में दरद होने लगा। मामूली जुड़ी-सी रहती। रहता था चमार बस्ती की तरफ एक झोपड़ी में। वहीं रक्त की उलटियां करते-करते मर गया।

और एक गया आरत पण्डा। कितना बड़ा किसान था, कितनी यजमानी

थी ! घर जल गया, खेती भी उजड़ गयी। स्त्री ने बाल-बच्चों के साथ भाई के घर आश्रम लिया। आरत पण्डा अपनी ज़िद से प्रचार-कार्य चलाता रहा। बार-बार जेल गया पर लगा रहा उसी काम मे पन्द्रह वर्ष तक। इस देहात में उन्हें कौन नही जानता, खड़ी सीक की तरह पतला, पूरे पाँच हाथ का लम्बा आदमी, भालू की तरह दाढी, छाती तक लम्बी। स्वराज्य आया, उधर दाढ़ी अधपकी हुई, हठात् मानो वे रंगभूमि से अपसारित हो गये, कही दूर रजवाडे मे किसी अनजान गाँव में कोई आश्रय है, वही रहते हैं, सूत कातते हैं। लोगों के बीच कुछ सेवा-कार्य करते है। बाहर नही निकलते।

गया, सब टूट-फूट गया, किन्तु ऐसा लगा मानो बाहर से टूटकर अन्दर से जुड़ गया हो। लोगों का मन बदल गया। चाहे जितना हारे, बात वही रही कि "हमसे नही हो पाया फिर भी देश तो यह करके रहेगा। हम हार गये या हमारे-जसे सत्रह हार जायें तो उससे क्या, गान्धी महात्मा तो नही हारेंगे। जय तो उन्ही की होगी अन्त मे। अवश्य !"

नौकरी से लौटकर सिन्धु चौधरी जब घर आ गये तो याद आ गयी गाँव की वही गरम-गरम दिनों की बातें ! मन हाय-हाय करने लगा था।

अब वे दिन नही, खद्दर की टोपी और खद्दर का भेस ! कितना नयापन ? अब वे लोग हैं जिन्हें पहले कभी देखा तक न था। सूत कातना बन्द। उस समय का जाना-पहचाना चेहरा भी नही। देश अब लडाई नही कर रहा। सब स्वाधीन हो चुके हैं।

किन्तु सिन्धु के अन्तर में हलचल-सी मची, इच्छा हो रही थी कि प्रायश्चित्त कर आत्मशुद्धि करें। कम से कम मन ही मन। अतः बेमौसम शुरू किया यह चटशाल, और फिर सूत कातना। जैसे प्राणों को शान्ति मिली।

कहाँ गये आज बच्चे ? कही कुछ हो गया है क्या ?

रास्ते से होकर अर्पात पधान गया है, भेडा के गले में गमछा डाल बाँधकर ले जा रहा है, घसीटते हुए। चटशाला पास आयी कि नौटंकी की भाँति गाने लगा—

"नीति रे (में) अनीति कलु (की) मन्दमति
ताकु (उसे) धर रे (पकड़ो रे) ताकु मार रे
ताकु रख नेइ (लेकर) कारागार रे (मे)"

भेड़ा चिल्लाये जा रहा है। बाड़े के अन्दर घुसने के लिए भरसक कोशिश कर रहा है। पीछे से मागुणि बेहेरा की आवाज आयी—"क्यों समधी, मन्दमति

ने क्या किया ?"

चटशाला के सामने हाथ हिला-हिलाकर अपति फिर गाने लगा :

"शुण-शुण मन्त्रीवर राज्यर ये समाचार"

मागुणि उकसा रहा था—"हाँ-हाँ..."

अपति कहता जा रहा था .

"क्या हाँ भरते हो !..."

मन्त्री

मन्दमति किस न कला (क्या नही किया)

कुलर मुँहरे कालि वोलिला (कलक लगाया)

पोल वयसीर वहप (साहस) देख

निछाटि आ वेले वारि आंव मूले

(निर्जन वेला मे वगीचे के आम तले)

पर भेण्डिआ कु डाकि आणिला

(दूसरे जवान मर्द को बुला लायी)

कान पुणि या शुणिला (कान ने फिर यह वात सुनी)

अपित ने पूछा —"मन्त्री !"

मागुणि वोला, "हाँ...हाँ !"

"अरे तेरी लडकी वडी, कि गाँव के भाई-विरादर ?"

मागुणि बोला, "भाई-विरादर ।"

अपति बोला, "तो ऐसा करो, उसे गाँव से वाहर करो, उसके मुँह पर गोवर पोतकर ।"

और उसके वाद भेडे को जवरन घसीटकर ले गया ।

सिन्धु चौधरी ने सब सुना । ललाट पर का चाम तन गया, कुंचित हो गया । पर फिर चरखा चलाने लगा ।

लोकनाथ नायक के घर के सामने उसकी वुढिया चटाई पर उसना धान सुखा रही थी । पैरो से ठेल-ठेलकर फैलाने मे लगी थी । कुछ हटकर वछड़ा खूँटे से बँधा था जो बार-बार धान की ओर देख सिर हिला रहा था, जीभ चाट रहा था । लोकनाथ नायक की बहू बच्चो के मैले कपडे-लत्ते एक साथ गठड़ी में बाँध पोखर की ओर जा रही है, पास ही पोखर से कपड़े धोने की आवाज सुनाई दे रही है और साथ-साथ औरतों की चहल-पहल भी ।

सिन्धु चौधरी पहुँचे ।

"नायक है क्या ?"

लोकनाथ नायक की बुढ़िया ने देखा और हाथ-भर का घूँघट आगे खींच लिया । पैरो से धान विछाना थप से वन्द कर दिया और एक तरफ टेढी होकर

खडी रह गयी। बुदबुदाती-सी कहने लगी, "आज क्या भाग जगे आप सामन्तजी पधारे द्वार पर। क्या करूँ हे रामा, इसी समय तू भी कहाँ गया!" सुविधा देख दो कौवे आकर फक-फक कर कूदते हुए धान चुनने लगे। लोकनाथ नायक की बुढ़िया मान-सम्भ्रम भूल हाथ उठाकर गालियाँ देती हुई कौवे उड़ाने दौड़ी—"आग लगे कौवे! मुँहजले, आदमी इतने कष्ट से तो धान उसनकर सुखाता है, क्या तुम्हारे मुह में डालने के लिए रे?"

सिन्धु ने फिर पूछा, "क्यों नायक जी है?"

धान पर आँखें, कौवे पर निगाह, बछड़े ने भी रस्सी ढीली कर ली, उधर भी ध्यान, मान्य-मानता के कारण दबी-दबी आवाज में बुढ़िया ने कहा, "नहाकर पूजा मे बैठे थे। पूरी हो आयी होगी। जाती हूँ, बुला देती हूँ।"

बुढिया चली गयी।

लोकनाथ नायक आ पहुँचे। ऊँचाई में बूढे सिन्धु से भी चार अगुल बढ़कर। दोनों कानो पर खडे कितने रोयें पक गये हैं, आँख की पलकें भी सफ़ेद हो गयी। छाती-भर में रोओं का जगल। वह भी पकने लगा। काली देह पर सफेदी। सिर दाढी सहित एक पकी हुई अवस्था की सूचना देता है, किन्तु झड़ने को नही, दोनों कन्धे अभी भी चौडे हैं, बल है।

चौधरी को झुककर प्रणाम कर लोका नायक ने कहा, "आप आज किधर पधारे? किसी से बुला लिया होता!"

"अरे छोडो, क्या मिलेगा, जिसका काम, उसे ख़ुद ही आना ठीक है।"

दोनो हँस पडे, दोनों जानते हैं कि बुला भेजने के लिए आदमी भेजना अब चौधरी के हाथ की बात नही रही।

चौंककर लोका नायक ने पूछा, "काम? कुछ काम है? पंचाग लाऊँ क्या?"

"सो तो पीछे होगा। पहले जिसके लिए आया हूँ सो तो कह लूँ। छवि के ब्याह के बारे में..."

तुरन्त ही लोका नायक ने 'मंगलं भगवान् विष्णु.'—कह मंगलाष्टक शुरू कर दिया। अप्रस्तुत हो चौधरी ने कहा, "ओहो, ठहरो भी, कौन-सा मुहूर्त बीता जा रहा है!"

सँकरे बरामदे में चटाई डाली गयी। चौधरी बैठे। नीचे नायक खड़े-खड़े बटुआ हाथ मे ले सरौते से सुपारी कुतरते हुए सामन्तजी के लिए पान बनाने लगे और उसी बहाने शुरू किया—"जी, ठीक पकड़ा, निमित्त उठाना उचित हगा, शुभस्य शीघ्रम्। कहा भी गया है 'घिअ घरे रहिले कड़ुआ, झिअ घरे रहिले अड़ुआ'[1] और बस्ती की बातें तो आप जानते ही हैं, इस युग मे धर्म नहीं रहा,

1. घी घर रह जाये तो कड़ुआ...लड़की रह जाये तो अड़चन।

खीर में खार डाल देंगे, ये लोग तो ऐसे हैं। पर मैं क्या किसी से डरता हूँ, अभी खोदने बैठूं तो सात पुश्त की खोद डालूँ, मैं क्या डरूँ? मैंने कहा, 'देखो, ख़बरदार मुँह संभालकर बात करो। धरम को देखकर बोलो, नही तो यह जीभ गल जायेगी! धरम नही सहेगा रे, धरम नही सहेगा यह झूठ!'"

लोका नायक की आँखें अनदेखे वैरी पर अंगार बरसा रही थी। आवाज़ तेज़ हो गयी। सिन्धु चौधरी अवाक् देखते रह गये। बात ख़त्म होने से पहले ही पूछ बैठे, "क्या बात है? किसकी बात कहते हो नायक?"

बात का उत्तर दिये बिना अपने आप कहता गया लोका नायक—"मैंने कहा, 'अरे वे मालिक हैं, क्या नही खाया है उनका? क्या नही लिया? तुम्हारे दांतो में अभी भी लगा होगा उनका दाना। तुम हरामियो, इन्द्र-चन्द्र कुछ नही मानते। इन्हे ही कहते है भूत, तुम्हारे जैसो के लिए ही कहा गया है, कि वश नाश के समय कलमुँहा जनमते है, है रे हरामी, तुम ऐसे क्या हो गये जो सालो, राजा के बेटे को 'बे' कह दोगे! अरे हाथी मरे भी तो लाख का होता है! तुम्हारी सारी बुनियाद उनकी एक बात के बराबर भी न होगी।' वही अपतिया मुझे कहने लगा कि दो धौल जमाऊँगा! मैने जवाब दिया—'दे रे बेटे, दे, तेरी माँ ने दूध पिलाया है तो मैंने भी मँड़िया पीकर देह नही बढ़ाई है। धौल तू क्यो न देगा। जमा दे बेटा, तेरे बाप ने जो न किया तू कर दे। योग्य सन्तान है तू। मार, मुझे मार ले, पर ये ऐसी प्रपच की बाते न कह! वश डूब जायेगा...'"

बूढा लुहार किणेई ओझा हल लिये उधर से जा रहा था। रुककर कहने लगा, "क्या-क्या? किसका वश डुबो रहे है नायक? किसने किसका क्या किया? किसका वश डूबेगा?"

लोका नायक ने चेहरा सिकोड़कर कहा, "क्यों, तुम्हारा क्यों नही? सामन्तजी, ये कोई मामूली जीव हैं? ये धूलिया नाग है! सबमे है, पर किसी के सामने नही होंगे। इनके पेट मे दांत है। इधर कलह लगा देंगे, उधर नाक़ न रगड़ेंगे। नाट के गोवर्द्धन, आदमी की जनमजात प्रकृति! मरने पर भी प्रकृति छूटती है?"

"क्यों, क्यों?" किणेई ओझा चिहुँक उठा, "सुबह-सुबह सीधे बाट से जाते आदमी को भी गाली देते हो? क्यो, क्या सिर में पित्त बढ़ गया है?"

"सीधे बाट से जाता आदमी!" लोका नायक ने व्यंग कसा, भला...भला आदमी या भालू, बूढ़ा भालू! समझे सामन्त, यही बूढ़ा है, नारद! गोली अफ़ीम की फांककर रात-भर सपने देखेगा कि इसने यह किया, उसने वह किया, फिर छोकरों को हुकुमनामा देगा—घूम-घामकर छापो, झूठे ही गाँव में हाट बैठा देगा और क्या यों ही माँ-बाप ने नाम दिया था—किणेई ओझा, चुप शैतान, इस हाट मे बेचकर उस हाट मे ख़रीद लेगा।"

किर्णेई ओझा क्रोध मे तमतमाकर ऊँची आवाज से गरजकर इधर-उधर कूदने लगा। "देखो, रास्ते जाते आदमी को पकड़कर बेइज्जत करता है ! है, मैं चुप शैतान हूँ ? या तुम चुप शैतान हो ? अरे तू तो चोर है। नवघनदास की बारात में गया था, चुपचाप अच्छे-अच्छे कपडों की गाँठ बाँध ली थी। कन्यावालों ने तेरे मुख पर कालिख पोतकर छोड दिया था। अरे तू उस दिन बेनुआ केवट की बाडी में घुसकर बैंगन चुरा रहा था। तुझे पुलिस मे देने को हो गये। तू किसके सामने खोद रहा है, हैं रे !"

"ऐं, ऐं, क्या बोला, मैं चोर ! या तू चोर है, तेरी चौदह पुश्त चोर !"

"साले को अभी दो घोल दूँगा। कमर सीधी हो जायेगी। क्या समझ रखा है, अरे बूढा हो गया तो भी लोहा पीटता हूँ।"

"है, रे ! फिर कहता है ! तू साला मेरी देहरी पर चढ़ता है, अभी टाँग तोड़ दूँगा, साला, शनिग्रह !"

ऐं गली में जाना रोकता है, ये रास्ता ख़रीदनेवाले है, कपास के बीज देकर रास्ता ख़रीद लिया, गाँव-भर मे सांढ़ बने फिरते हैं, हैं रे ! चोरी, उचक्केगिरी के पैसों पर इतनी चतुराई दिखाता है ?"

"फिर ..फिर !"

दोनों बूढे फुदकते हुए नाच रहे है।

लोका नायक कहता है, "दूँगा, अभी देखेगा।"

"हूँ, मरेगा, मरेगा ? आ देखें, कैसे मरता है ?" गाँव-गली की बात है।

दावँ-पेंच करते, गाली-गलोज करते, घूम-फिर रहे हैं दोनों बूढ़े। गालियों से गली गूँज रही है। देखनेवाले जमा हो गये। बच्चे-बूढ़े, स्त्रियाँ, लोग-बाग। अब उनमें भी आपस मे कहा-सुनी होने लगी है। गाँव की आग की तरह कलह बढ़ता जा रहा है। उसकी स्वतन्त्र भाषा, स्वतन्त्र भाव, कितने सवाद पड़े हैं, कितने इतिहास खुदे हैं, सब टेढ़े-मेढे विकृत, टूटे-फूटे। क्रमशः वह होता जा रहा है असभ्य, बीभत्स। बनैल आदमी की-सी हरकतें हो रही है।

सिन्धु चौधरी चुपचाप वहाँ से चले आये। किसी से कुछ पूछने को जी नहीं किया।

हाँ, दूर से आ रही है उनके हो-हल्ले की आवाज। दिखाई पड़ रहा है उड़ती बात का एक-एक तार। तो क्या कलह का उपलक्ष्य वे स्वयं है ? सिन्धु चौधरी ? लोका नायक की टेढी-मेढी बातों मे कुछ अर्थ है। हो सकता है, उसका उदार होना एक मुखौटा हो, और वह बहादुरी दिखाने के लिए मोल-भाव कर रहा हो।

सिन्धु ने गम्भीर होकर सिर लटका लिया। धीरे-धीरे चले जा रहे हैं। सोचने पर कान गरम हो उठते है। फिर दूसरे क्षण सारी गरमी पानी हो जाती

हैं और आता है भय—दुनिया-भर के लोग आ रहे हैं नाखून लपलपाते हुए। हज़ारों हाथ फैलाये बढ़ रहे हैं—उनसे खींच लेने के लिए, उसे जो सबसे प्रिय है उनके लिए। और वे अकेले हैं, असहाय हैं !

खेत कट रहा है। घर, बाहर—सभी जगह परिचित दृश्य, परिचित परिस्थितियाँ। वैसे ही खड़े हैं बग़ीचे, सिर उठाकर गायें देख रही हैं।

सुनसान रास्ते के बीच बड़े आम के पेड़ के नीचे, दो गाँवों को रास्ता फटता है। हक्के-बक्के-से सिन्धु चौधरी यही खड़े रह गये। होश हुआ तो लगा, बहुत दूर चले आये हैं, कैसा तो झिम-झिम-सा लग रहा है ! पसीना आ गया। दायें-बायें मशान की पगडण्डी, इधर-उधर हाड पड़े हैं।

गहरी साँस लेकर धीरे से वे पेड के नीचे बैठ गये।

मन करता है, यहाँ से उठें ही नही। कही जाना ही न पडे। रुकुणा रथ लौटता नही। इच्छा पुकार रही है—मरण-मरण-मरण !

इस धकापेल की धरती पर बस अभाव, असुविधा, समस्या, धन्धा...। मन धिक् कर बारम्बार पुकार उठता—भगवान्, उठा ले मुझे ! मुझे नही चाहिए...

बेटी छवि ! उसने किसका क्या बिगाड़ा है ? निरीह-भोली-बेचारी। सलीके से खाने को दो मुट्ठी भी नही दे पाता उसे। कपड़ा तो कपड़ा, माँड पीकर ही अपना सुख स्वयं भूले हुए है। फिर भी घर मे रोशनी किये हुए है। उसे भी नही छोड़ेंगे लोग ! क्या धक्का देकर उसे निकालना पड़ेगा ?—ससुराल नही, किसी कसाई के घर ! उसे जंजाली करने के लिए कमर कसनी ही पड़ेगी, ब्याही कि गयी। पर ये लोग ऐसे...कलबल किये बिना मन की साध पूरी कैसे होगी, मरते आदमी के रास्ते मे भी ये काँटा रोप देंगे। बेचारी छवि, भात खाकर हाथ धोना भी नही जानती, ग़रीब की बेटी, गाँव मे भूतो ने हाट जमा रखी है, यह सब सुनेगी तो सह न पायेगी !

तभी उन्हें लगा जैसे ब्रह्माण्ड फटा जा रहा है। टप-टप पानी चूने लगा आँखों के कोनों से। अचानक चेत आया, भागवत में है—यही तो माया है, जिसे दुख मानते हो वही तो है संसारी सुख, और जो सुख है वह तो इस ससारी सुख-दुख से परे है, उसे चर्म-चक्षु से नही देख सकोगे। माटी का यह घर उसे नही चीन्हेगा।

सच, समय जा रहा है, घर को तो देखना ही पड़ेगा—छवि के लिए व्यग्र-से होकर उठे और घर की ओर चल पड़े।

"ज़िद कर छोकरी नदी नहाने जायेगी। कोई गोद की बच्ची तो है नही कि

हाथ पकड़ बैठा लें । जाने दे, उसका मन है। इधर कानाफूसी भले होती रहे। मन को बाँधने के लिए रस्सी नही । नही तो इस पौष के तडके, जब कोहरे में हाथ को हाथ नहीं सूझता, भला कोई घर से बाहर पैर रखता है ? सदा जाती ही है, तो आज भी जायेगी ही। माँ से क्या पूछ रही हो ? माँ के मना करने पर तू क्या मान जायेगी ? जाना है तो जा, मगर जल्दी आ जाना।"

"तू भी क्यों नही आती ? आ माँ, ठण्ड नही लगेगी। कोहरे में जाड़ा नही लगता।"

"कौन मरा जाता है अब ! ठण्ड से डरकर माँ नहाने नही जाती। हाँ, माँ के लिए पानी गरम होगा...दास-दासियाँ खटती है न ! लो सुनो, इसकी बात ! मेरा बहुत सारा काम पड़ा है। अभी हलदी का काठडा लेकर नदी कैसे चल पड़ूँ ? तू जा गुरु की माँ के साथ। झट से आ जाना।"

गुरु की माँ हँस रही है।

रास्ते में वह, गुरु की माँ और गुरु। गुरु तो खाली कूदता चल रहा है और गीत जोड़ रहा हैं :

"शीत पचारे गीत भाइ, नण्डामुण्डिया कु देखिचु काँइ ?"

(गीत भाई से शीत पूछ रहा है, गंजे सिरवाले को कही देखा क्या ?)

किनारे पर से दूर देखो तो खाली कोहरा ही कोहरा, पास कुछ दिख जाता है, और उधर फिर कुछ नही, सब छुप जाता है। देखा-परखा जितना जो भी है —किसी का पता नही चलता। वही तो मजा है। पास होकर भी कुछ नही दिखे, कोई किसी को देखेगा नही, यद्यपि अँधेरा नही प्रकाश है।

पीछे से गुरु की माँ ची-ची कर पुकार रही है—"अरे छवि ! अरे गुरु ! अरे कहाँ गये तुम लोग ?"

"ठीक है, अब भुगते ! चुगली कर रही थी गुरु की माँ, अब ले।" छवि ने कोहरे से पुकारा, "भावज, मैं कहाँ हूँ ?"

'कहाँ' शब्द को दो भागों मे बाँट लम्बा खींच ले गयी।

"है रे, अरे, मैं जान गयी। छुप रही है, पैर तो दोनों दिख रहे है।"

फिर—"भौजी मैं कहाँ ?" और छवि की हें-हे हँसी।

"तुम क्या अब यहाँ हो ? तुम तो कितनी दूर पर हो। क्या नाम है उस गाँव का ? अरे, मेरी जीभ पर तो था, तुम तो जाकर वहाँ पहुँच गयी, जरा भी देर नही सहती ओ स्वयंवरा ! पहने हुए कपड़े ही सिर पर बाँधकर इस कछार-कछार भगोगी छड़ी की तरह। अरे छवि, तनिक ठहर, ऐसे न भाग, नये आदमी को देखकर पुरानों को कोई इस तरह भी परायापन दिखाता है।"

"तेरा सिर !"

अबकी गुरु माँ की जितापट।

कछार के नीचे से गुरु को एक साथी मिल गया था। "आ: ऐ आ! आरे भालू तु...तु—" भालू गाँव का कुत्ता! जिसने बुलाया वह उसी का। कुहासी भोर में नदी के बालू पर दौड़ने में भालू को मजा आ रहा था। पैरों से बालू उछालता-उछालता तीर की तरह दौड़ता। आदमी के आगे गिरकर, फिर दौड़कर बहादुरी दिखाना अच्छा लगता है। तुरन्त भालू ने अपनी बहादुरी दिखायी। गुरु की माँ ने आवाज दी—"ओ ओ नासपीटे, कुत्ते! अरे, मेरे पोंछने का कपडा ही लेकर भाग गया। अब मैं क्या करूँगी?"

और गुरु कुत्ते से धक्का खा बालू में गिर पड़ा—"रह बे, तुझे मैं बताता हूँ।" कुत्ता छवि के पेट तक चढ़ गुरु की माँ का कपड़ा मुँह मे पकड़े सिर हिलाता रहा। कपड़ा छीनकर छवि ने उसका कान मरोड़ दिया। फिर भालू दौड गया बिजली की तरह।

कितने प्रकार का बालू! कछार के नीचे, ढूह से ऊपर परत की परत पट्ट माटी, ढलाई हुई है, पैर पड़ने से आहिस्ता से फट जाती है, पैरो को मखमल की तरह लगती है, और नीचे महीन बालू की खान, धूल की तरह, पैर धँसने पर भी सहलाने की तरह लगता है। उसके बाद फिर मोटा बालू, जाड़े मे काँटों की तरह पैरों में चुभता है। और फिर भुरभुरा बालू, चलने पर भस-भस, रस-रस, जाड़े मे ओस की तरह, चलने पर ऊपम हो जाये। जितनी दूर चलो, पुराना बालू नया लगता है, इसी तरह नये के बाद नया। और कोहरे के उस पार एक मूर्ति तैर जाती आँखो के आगे।

वह बन्दर को घुड़कता है!

छि! कितनी लाज की बात है!

किसका कौन है? सिर्फ़ कोहरा और कोहरे के अन्दर चलती-फिरती छाया, इधर-उधर!

अब आवाज सुनाई दे रही है। दिख रहा है कुछ झुण्ड का झुण्ड। कोहरे मे आदमी भी इसी तरह छाया जैसे दिखते है! सच नही, मानो सब झूठ हो। उनकी आवाज़ भी कैसी सुनाई दे रही है। कभी पास, कभी दूर, शब्द भी कोहरे में और ही तरह के हो जाते है। कौन कहाँ है, पता ही नही चलता। चारों ओर ख़ाली भाप। इस भाप की दुनिया मे से क्या सचमुच कुछ आश्चर्यमय निकलेगा! धत्, फिर वही बात। कौन बातें कर रहे है? कटर-कटर। वे उस बस्ती की औरतें लगती हैं, उनका घाट अलग है। कितनी जल्दी आ पहुँची, दो पाव रास्ता, फिर भी चलने जैसा लगा नहीं।

कोहरा फट रहा है, कहाँ आया सूर्य? नाम को ही पौ फटी थी। अब सबो ने घेर लिया। "तुम कब आ गयी? सच, जिसे मायाविनी कहते है तुम तो वही

हो।" गेल्ही की माँ, जो रिश्ते में भाभी लगती है, कहती है "अरे, मायावी न हो तो मायाविनी कहाँ से हो?" कन की माँ ने पूछा, "मायावी या मायाविनी। धीरे से गिर पड़ी, इतने बाजे-गाजे का क्या होगा। काम तो हासिल..." फिर हे, हें, हें, हें—हँसी। कन की माँ पक्का जानती है। "कहे या न कहे, उसका चेहरा आ टपकेगा।...तू क्या पायेगी रे बेटी? तू नहा, देर होगी।" गुरु की माँ कहती है।

"तुम आ गयी?" छवि ने पूछा। गुरु को नहलाने वह आगे दौड़ी। वह कहाँ पकड़ाई में आता है—"नहीं, नहीं, मुझे सी-सी लगेगा।"

"तू रहने दे छवि, वह तो यों ही फकर-फकर कूदेगा।"

छवि ने पानी में डुबकी लगायी। जी भरकर नहायी। देह में नशा-सा फैल रहा है। नदी की धार, और चारों तरफ जानी-पहचानी औरतें, कितना अच्छा लग रहा है! और कोहरे में रँगा कोमल सूरज। आमने-सामने! कितना सुन्दर। क्यों सारे जीव-जन्तु प्रकाश की ओर मुँह कर दौड़ जाने को पागल है? प्राणों में इसी प्रकाश के बीज जरूर होंगे, बीज डूबा और इसीलिए जीवन शेष। छवि सोच रही है, इस सूरज को देखने पर बहुत-बहुत जाना-पहचाना-सा लगता है। इस खुशी में मन करता है कि सबको बाँहों मे भर ले।

प्राणो के उल्लास में यौवन का सारा संसार नैवेद्य की तरह फैलाकर छवि सूरज की ओर देखती खडी रही। देह सिहर उठी, आँखें मूँदने-सी लगी।

पीछे से गेल्ही की माँ चुपके-चुपके कह रही थी, "क्या सोच रही हो? वे याद आ रहे हैं?" हें-हें हँसी।

अन्यमनस्क हो छवि घूम गयी—"कौन? किसकी बात कह रही हो?"

सब हँस पड़ी।

कन की माँ ने पूछा, "कब से लगूर पाला है, छवि? मुई, छुपाती क्यों है, तू ऐसी कपटी पेटवाली है?"

फिर ठी-ठी हँसी।

कुछ दूर से चन्दरा-माँ बुढ़िया चीखी—"छिः कर, छिः कर। आजकल कैसा जमाना आ गया रे! लाज की बात में भी लाज नहीं।" फिर हँसी। "ठीक है री बेटी, ऐसे है बचपन का समय, बाप के घर हो न! अनब्याही लड़की, पराये बेटे को बुलाकर लीला करे—कोई बात भी करेगा? वश का तो रहा नहीं जमाना। हम तो बूढ़े हाड़ हैं, हमारा समय तो गया। मन मे जो आये सो करो, पर इतने दिन मे इस गाँव का महत डूब गया।"

"दीदी, ठीक ही कहती हो" रघुआ की माँ बोली, "आजकल गाँव की इज्जत की बात कौन करता है। सिर्फ अपनी सुविधा देखकर सब राह चलते हैं। आजकल की लड़कियाँ...पहले की बात होती तो सात-सात की माँ बन गयी

होती । अरे, ब्याह नही तो क्या हुआ ! तो क्या कोई अपनी प्रकृति छोड़ देगा ? प्रकृति तो विधाता ने बनायी है । सबमें समान है । सब ओर देखो...धान के अन्दर चावल है । किसे दोषी ठहराओगी...जैसी तेरी बेटी, वैसी मेरी भी।"

"अरे वही तो बात, हे रघुआ की माँ ! उई, ये तो धान मे एक चावल है—हें-हे-हे—"

हँसी छूट पडी, और चारो ओर वही बात—"धान में चावल।"

कन की माँ ने बात पकडी । पूछा, "सच बता छवि, धान में कितना बड़ा हो गया है चावल ? अरे बता न !"

गुरु की माँ चुप थी । वह फुकार उठी, "क्या समझकर लड़की को उलाहना देती हुई चोट कर रही हो ? इस तरह अपनी बातों से डक मार रही हो ? तुम्हारी जीभ रहेगी तो ? कीड़े पड़ेंगे जबान में । हे भगवान्, हे परमात्मा, तुम्ही साखी रहना, जो ऐसा कह रहे है उनके मुँह मे कीड़े पड़ें,...कीड़े पड़ें, कीड़े पड़ें।"

सब मानो इसी बात की प्रतीक्षा मे थी, चल पडा धमाधोट हाव-भाव, गरज-तरज, कलह-झगडा । चारों ओर से गुरु की माँ पर बाणों की बरसा होने लगी ।

"अरे ओ दूती, ये क्या कहेगी, इनके दोष क्या हमसे छिपे है : सच रे, बड़ी माधवी बनती है ! चल सब छोड़कर, चली जा, आश्चर्य है, बिलाई आँख मीचे दूध पी रही है ! समझ रही है कि कोई देखता नहीं पर दोनो पैर तो दिखाई पड़ते ही है !"

"अरे, क्या नखरा दिखा रही है ! पिछवाडे से बुलाकर रोज-रोज तमाशा लगा रखा है । जादुई धूल की चुटकी डालकर जमाई-वरण का खेल चलता है । किस मुँह से बढ-बढ़कर बोल रही हो ? क्या बाकी छोड़ा है !"

"लगूर री लगूर ! बन्दर क्या ऐसा नाटक करना जानता । कभी सुना है किसी ने ! सुनहली-रुपहली कथा की तरह।"

"अरे, ज़रा भी नही झिझकी !"

"हाँ । पायेगी, अब पायेगी । किये-करम का फल भोगेगी ! क्या कोई गंम मे पड़ा हुआ है ? जो अपना घर सँभाल नही पाता, दूध उफन कर चूल्हे में गिर रहा है; वह पराये लड़कों को क्या फुसलायेगा !"

कूकर मक्खी की तरह वे चारों ओर घिर गयी । गुरु की माँ अकेली, उसपर फिर दुबली-पतली । छवि की आँखो से धार बह रही है, गाली की भाषा उसे आती नहीं ।

अचानक वह नहाने का घाट हिंस्र हो उठा है । मानो कोई हिंसक बनैला आदमी, हाथ में छीलने की छुरी, सामने निरीह गाय, काट-काटकर टुकड़ा कर लेना ही पड़ेगा ।

गुरु की माँ ने चलने की तैयारी की और कहा, "चल, चले छवि ! भौंकने दे इन्हे ! कहते भी तो है, हाथी चले बजार, कूकर भूकें हजार !"

इतना कह गुरु की माँ ने साँस ली, छवि को खीचती हुई चलने लगी, मानो शत्रु-व्यूह से निकाले ले जा रही हो। कोहरा धीरे-धीरे हट रहा है। धूप तपने लगी है। धूप मे बस दिख रहा है बालू ही बालू, गूंगा बालू। पीछे उनकी हँसी—हल्ले-गुल्ले की आवाज़ आ रही है। अरुचिकर, अपमानसूचक। जीवन जैसे अटूट बालू बन गया है। तेज़ी से इस बालू को पार करना होगा।

बालू के टीले की आड़ से आदमी भुस से उठ खड़े हुए और एक-एक कर नदी की ओर जाने लगे है। कुछ नहाकर आगे-पीछे हो चल रहे हैं। किन्तु जाना-पहचाना दृश्य आँखों के आगे बिगडकर विष हो गया है, भरोसा और विश्वास उड़ गया है सारा।

घर पास आते ही छवि फफक-फफककर रोने लगी।

"छि: छवि ! रास्ते में भी कोई ऐसे रोता है ? रो क्यों रही है तू ? उन लोगो की बात पर ? जिन्होंने कुछ कहा है, उनके मुँह मे कीड़े पड़ेंगे ! हमारा क्या जाता है ?"

"मगर क्यों कहेगी ?" छवि ने रो-रोकर कहा, "ऐसे कहनेवाली हुई है सब ? क्या किया है जो वे लोग इस तरह कहेगी ? हम अपने घर मे है, वे अपने घर। जबरदस्ती चढ़कर क्यो किसी पर झूठा इलज़ाम लगाने कोई आयेगा !"

"ससार अगर भला होता तो लोग इस तरह क्यो नरक मे घुटते ? तुम-हम भले, तो क्या सारे राज में कोई चोर-उचक्का ही नही ? झुलसनी, सत्रह घर-फोड़नी, आगजली हरामख़ोरिनी रहेगी नही ? जाने दे, भगवान् समझेगा उन सबों से।"

मुँह पर पल्लू रख सुबकती-सुबकती जा रही है छवि।

गुरु की माँ गुस्से से जल रही है। आँखो से आँसू बह रहे हैं। लगता है वह स्वयं कितनी दुर्बल, कितनी असहाय है। एक-एक कर कितनी दुख की बातें याद आ रही है, उनका सम्बन्ध चाहे छवि से न भी हो।

अपने घर पर खड़ी होकर छवि की माँ अनदेखे शत्रुओं के नाम पर गालियों की वर्षा कर रही थी। यही तो प्राचीन पद्धति है, अपनी छाती का बोझ हलका करने का उपाय। दुख, अपमान और क्रोध से भरा यह उसका नया रूप है। बार-बार दैव को साखी देकर, भगवान् को बुला, वह अपने शत्रुओं के लिए अमगल की कामना कर रही थी—"हे प्रभु, जो अकारण निन्दा करती है तू ही उनको दण्ड देना। आज चौधरी वश के बुरे दिन है। तभी न उनकी हिम्मत हुई इतनी बड़ी-बड़ी बातें कहने की। कोमल लोहे को बिल्ली भी काट खाती है—यह जुग ही तो ऐसी उलटी बातें सुनवा रहा है। यह कोई मामूली बात नही, आज कुत्ते

भी सिर पर चढ़ गये । देखो तो, क्या कहें इस ज़माने को। हे महा प्रभु ! उनका मुँह जले, उनका वश डूबे, उन्हे हैज़ा हो। आने दो उन्हें, देखते हैं। इसकुल ! इसकुल ! लाज नही आती उन्हे । फिर इसकुल खोले बैठे हैं—इन्ही के बच्चों को पढ़ाने के लिए ! अरे, आदमी होकर ऐसे पत्थर बने बैठे हैं—ज़रा भी छल नही, बस बैठे चरखा घुमा रहे है, बाबाजी-वैष्णव हो गये हैं, तभी तो कुत्ते भी इतनी लम्बी जीभ निकाल रहे है । अब आयें, देखें और संभालें अपना घर—"

कोई पास नही आया । इशारा पाकर, कोई-कोई बाड़ी के पास छुपकर सुन जा रहा था ।

रास्ते से गुजरती औरतो में से कोई-कोई कह रही थीं, "सच, सुनकर तो शरीर में आग लगती है, पर सचाई छुपेगी कितने दिन ?"

"कहने दो, उसकी गाली उसे फलेगी। इतने दिन से गाँव के लोग कुछ नही कह रहे थे, आज इनके शत्रु हो गये। सब जानती है यह ! बड़ी सयानी है । झूठी ।"

गुरु की माँ ने सुना । मना किया "ऐसे कहने से कुछ लाभ नही, अपना ही मुँह खराब होगा । कुत्ता आकर हमें काटे तो क्या हम भी उसे काटेंगे ? बेकार हल्ला करते-करते थक जाओगी ।"

बात गाँव-भर मे फैल गयी फिर चली टीका-टिप्पणी, व्याख्यान । माँजते-माँजते बात मोटी पड गयी । माँजने का अवसर था । लोगो का मन था, बात का सरल अर्थ छोड उसका इगित समझाने का, फिर उसे बढा-चढाकर औरों के आगे कहने का । गाँव मे ऐसे साधारण भाव से बात आयी-गयी नही होती । यहाँ रोक-टोक, मोल-तोल नही होता । लोग सोचते हैं किसने किसे प्रणाम नहीं किया, कौन किसे देख मुँह फिराकर चला गया, इन सब पर भी चर्चा होती है, इसके लिए समय दिया जाता है ।

लोग अपना-अपना पक्ष ठीक करने लगे । कौन किस ओर जायेगा, चौधरी की तरफ या दूसरी तरफ । इस धारणा के साथ पिछले दिनों की बातें आयी । केवल चौधरी वश के सम्बन्ध मे ही नही, आपसी सम्बन्ध की भी । जिसका जिससे मनमुटाव था, वह भी विपक्षी को देख दूसरी तरफ हो लिया । लुकी-छुपी किस ज़माने की कितनी फटने-टूटने की बातें मानो अवसर पाकर अपना सही रूप दिखाने लगी । गाँव का मत, छुरी से काटने की तरह, दो टूक हो गया !

और उस भेद-भाव मे चौधरियो के दूसरी तरफ का अगुवा बनकर खड़ा हुआ लुहार बुड्ढा किणेई ओझा । अब भी वह हल की फाल गढ़ता है, बैलगाडी

के पहिये के लिए हाल गढ़कर चढ़ा सकता है, हँसिया, कुल्हाड़ी, छुरी, पनकी अब भी वह बना सकता है। लोग कहते है, गांव का कुशल कारीगर है। धौकनी जलाकर लोहा पीट वह अपनी कमाई पर जीता आया है सदा से।

सफ़ेद हो आयी पलकों की ओट में फीकी पड़ती आँखों से किणेई ओझा पीछे मुड़कर, जितनी दूर तक नजर जाती, देखता। इस गाँव में सब अपने हाथ-पैरों से काम कर जीते हैं।

सिवाय इन चौधरियों के। और वे, जो बस पोल मे जीते है, काम किये बिना।

पूर्वजों से पायी जमींदारी, जन्म से लगान की चाट। अपने भाग का दावा —चाहे खेत पर कभी पैर न भी रखें। दूसरों पर हुकुम जमाने का अधिकार तो मानो जनम से ही भर दिया गया कि ये ही बड़े हैं और सब छोटे। मानो आप न खटकर परायी खटनी के ऊपर चलना ही बड़प्पन है। उलटे जिनके परिश्रम पर इनका पिण्ड गढा है उन्हे ही नीचा करना इस बड़प्पन का लक्षण है।

तभी तो ये अधिकार का दावा करते हैं। और फिर पहले ब्राह्मण हैं, पुरोहित हैं। उनके वे सहायक उनका पक्ष लेते हैं। बड़े लोगों का दावा है कि उनका अधिकार विधाता का दिया हुआ है। पुरोहित सासतर बाँचकर समझा देते है— हाँ, सच है, विधाता ने जिसे जैसा गढकर भेजा है, उसे मानना ही पड़ेगा।

किणेई ओझा सदा सोचा करता। परन्तु न्याय-अन्याय की अपनी धारणा को भय से मन में दबा लेता।

इसके बाद उसने देखा कि अब भय चला गया है। सामन्तजी के घर की मेघनाद प्राचीर ढह गयी है। टूटे खँडहरों में रात में गीदड़ बोलने लगे हैं। उसे प्रसन्नता हुई थी।

कल की बीती हुई-सी बात लगती है। वह भूला नहीं है, जब मामूली बात पर गदेई चौधरी ने उसकी बायी आँख पर थप्पड मारी थी। सात दिन तक वह आँख खोल भी न सका था। आँख लाल हो गयी थी केशू की तरह। माई का दूध डाला तब जाकर ठीक हुई। कितना कष्ट हुआ था। खाली यह थप्पड़ ही नहीं, अपनी मान-मर्यादा पर जाने कितने प्रहार सहे हैं उसने! परायों का अपमान किये बिना इन बड़ों की मानो अपनी टेक रहती ही न हो! जैसे सब कुछ उनके ही वश की बात है। बड़े लोगों की आँखों में मानो अन्य किसी की जरा भी इज्जत नहीं। किसी के मन में कुछ दर्द ही नहीं। उसने भगवान् को पुकारा है, प्रतीक्षा की है।

इसके बाद बड़े घर जब खण्ड-खण्ड हो टुकड़े-टुकड़े हो गये तो सामन्त के घर के टूटे घरों की छान में से लकड़ियाँ खींचकर उसने जलायी हैं, सबकी तरह वह भी गाँववालों में से एक है। औरों की तरह उसने भी उनकी फूटी हवेली से पत्थर

उठाकर अपने दरवाज़े पर डाले है, और गुहाल के फर्श पर बिछाये हैं ताकि वहाँ कीचड न हो। सुविधा देख लुक-छिपकर उसने भी अपनी कारस्तानी दिखायी है। वह किणेई ओझा है। वह ख ुश है। अब अपने घर में हँसी-ख ुशी रहती है— उसके अपने श्रम से।

उस परायेपन के आनन्द का अनुभव करने के लिए अन्य दस लोगों के साथ मिलकर उसने भी सहानुभूति के गीत गाये हैं— "आः क्या घर था, कैसा हो गया! कैसी मट्टी पलीद हुई! भाग्य की बात है!"

किणेई ओझा ने 'हथियार सँभालो, हथियार सँभालो' की पुकार लगायी। अपत्ति पधान ने समर्थन किया—"हाँ-हाँ।"

पधान ने सोचा—खुलकर पक्ष लूँगा। किसी का दिया खाता हूँ या किसी का कर्जदार हूँ? वे तो उसे आवारा, पाजी, हुडदंगा कहते है। गाँव के यह भले लोग कहते है कि वह एकदम बेलगाम है। अब वह जोर-जोर से चीखेगा। लोकलाज की ऐसी की तैसी!

विधवा का बेटा। माँ ने जवानी मे ही कगन उतार दिये थे। बाप को उसने देखा नही। सुना है कि बाप भी कोई एक था, चेंगल जूट कल में काम करता था, वही मर गया।

उसने होश सँभाला तो देखा—मण्डप घर मे कितने आदमी! घनी अंधेरी रात मे नीद टूट जाने पर कभी वह रो उठा तो कोई उसे लाड़-प्यार करता, कोई उसे गोद मे सुलाकर लोरी गाता:

"घो रे वाइया घो।
जोड़ कियारि रे कअल माण्डिआ
सेइ कियारि रे शी।
घो रे वाइया घो॥"

बचपन मे मानो वह सबकी सम्पद् था।

कुछ बडा हुआ बाहर दौड़ने लगा। अपने छोटे-से घर की अँधेरी घनी बाड़ी के उस ओर। मा के पीछे-पीछे दौडकर सीखते-सीखते अभ्यास हो गया। वहाँ इतने चेहरे, इतने घर, खेलने के लिए इतने साथी।

तभी उसने उस दीवार का अनुभव किया। जिधर दौड़ता सामने वही दीवार। बच्चे उसके पास खेलने आना चाहते पर उनके माँ-बाप की आँखों मे वह पाता— शत्रुता। मानो वह कोई गन्दगी हो, कूडा-करकट हो। बड़े बच्चे उसे कुछ कहकर चिढ़ाते, वह समझ नही पाता। देखता, उसकी माँ किसी बच्चे की ओर दाँत किट-

किटाकर गाली दे रही है, कंकड़ मार रही है। उसे बाहर घुमा लाने को कभी माँ का जी नहीं करता, बारम्बार कहती—घर मे बैठा खेल !

तभी उसने अनुभव किया, घर पर जिन्हे देखकर वह अपना समझता था, बाहर वे उसे पहचानते तक नही। वह पास जाता तो वे उठकर चले जाते।

एक बार कही से उसे और भी शिक्षा मिली थी। विधु चौधरी। गोरे सुडौल बदन। हाथ में बड़ा-सा तावीज लाल धागे से बँधा। घर पर उसने कितनी बार उस तावीज को खीचा है, देखा है, सदा उनकी मीठी हँसी। गाँव के रास्ते पर एक दिन खड़े थे। अर्पात हँसता किलकिलाता जाकर उनके घुटनों से लिपट गया। पीछे से कोई हँसा। विधु चौधरी ने ठाय-ठाय जमा दी दो थप्पड। इतने जोर से लगे कि वह संज्ञाहीन-सा हो गया। अँगूठी गाल से गड़ गयी और रक्त बहने लगा। पीछे से उसकी माँ ने आकर रोना-पीटना मचाया। विधु चौधरी उसे भी मारने दौड़े। क्रोध में काँप रहे थे, "कहाँ की आयी...एक। इन्द्र-चन्द्र किसी की भी परवाह नही, इतना साहस !"

वह दिन भी भुलाने योग्य नही। श्रद्धा के बदले जब थप्पड मिली थी। औ फिर वह बडा हुआ। अनुभव से सीखा, मार केवल देह को ही नही लगती, मनपर भी कैसी चोट करती है !

वह बाहर धूल मे खेल रहा था। कई लड़के मिले। खेल मे झगड़ा, मार-पीट। वह कितनी भी पिटाई खाये कोई दात-पुकार नही, और कोई भे-भी करता तो उसके आदमी मार करने के लिए दौड़े आते ! दुष्ट लड़का, सारे दोष उसी के।

माँ उनके साथ कलह करती। कमर मे पल्लू खोंस पीठ की ओर बच्चे को ठेल गरज-गरजकर अपना मातृत्व जनाती। कहती, "इसके बाप नही तभी तो तुम सब इसके साथ ऐसा करते हो। वह होता तो देखती तुम्हारा साहस !"

तब वह वैसी स्थिति में अपने किसी कल्पित बाप को याद कर सुबकने लगता। इसके बाप का नाम आता तो वे लोग हँसकर बात उड़ा देते। झगड़े मे माँ की जीत कभी नही होती। दस जने एक ओर, कोई चबूतरे से, कोई घर बुहारते-बुहारते दरवाजे से, कोई गोबर उठाते समय गुहाल से, एक साथ बातों के तीर छोड़ते। उनमे कितने भेद खोलते। न जाने कब के पुराने किस्से। वह बात का सूत्र पकड़ नही पाता, बस देखता कि गाली देते-देते माँ की आँखो से पानी झर रहा है। धीरे-धीरे कलह की सारी गरज-तरज पानी में घुली जा रही है, डूब रही है। माँ उसकी बाँह पकड घसीटते-घसीटते घर में ले जाती—दो-एक और थप्पड़ जडकर कहती, "इस कुलजले के लिए ही तो सारा नाटक-बखेडा है !"

उसके मन में बचपन से ही बैठ गया है—कि ये लोग उसके शत्रु हैं। उसे

दिखा-दिखाकर वे केले खाते, उसकी ओर छिलके उछालते। शरीफे खाकर बीज उसकी ओर फेंकते। फिर भी कोई-कोई कहता, "यह डायन छोकरा देख रहा है, पेट में घुस जायेगा, पेट को कोड़ेगा।"

बड़े होने पर बदला लूंगा।...लेकिन कब?

धूल मे लोटता। इधर-उधर खाता। मँडुआ की खीर या बासी पखाल, जो भी पाता, खाकर कहता, "और दे!"

रोग उसे छूता तक नही कभी। अच्छा-खासा, गठीला छोकरा। जब पूरा ज़ोर लगाता तो सब लड़कों को जीत जाया करता।

आठवें बरस से बकरी चराने लगा। झुण्ड के झुण्ड लड़कों पर अखण्ड राज। लड़कों को पीटते-पीटते सारे मैदान में दौड़ लगाता। किसी के खेत में चुपके से जाकर तमाशा देखता। आठवें बरस से उसने रोजगार करना सीखा।

और कुछ बड़े होने पर गायें हाँकी। धीरे-धीरे हलवाहा बना। अर्पित पधान वयस्क हो गया। क़द्दावर जवान! अकेला एक आदमी तीन जनों का काम कर लेता। हलवाहे का काम छोड़, कलकत्तावाले बीणा गौड़, बन्धुआ गौड़ का भागीदार बना। साथ ही बारिक मिस्तरी, बाँध कण्ट्राक्टर का दाया हाथ बन गया। तब बस्ती में न्याय-पचायत के समय वह भी बैठता। फिर अखाड़े में, यात्रा-तमाशे में।

गेण्डेई बूढी लड़के को घर बसाने योग्य बनाकर ही आँखे मूँदी थी। अर्पतिया ने पिछली बातें भूलकर अपनी जड जमायी...गाँववालो मे अपना स्थान बना लिया। दुबला नही। पीछे हटने वाला नही। देह मे जानवरो की-सी ताकत, मन मे भी। उस मन को लेकर चारो ओर ग्रसने के लिए मुँह फाड़ता। बाधा पाया नही कि उसमे क्रोध पैदा होता। मन कटकटाकर कहता, मौका मिला कि दावँ मारूँगा।

बाधा मिली उसे कदम-कदम पर। उसके हाथ से ग्रास छीन लेने के गाँव के समाज के सस्कार, रीति-नीति के अनलिखे कानून थे। उस कसौटी पर उसका मूल्य कितना कम है। वह समझ गया कि कमर मे चाहे जितना बल हो, समाज के छोटे-बड़े वाले तराजू पर तौला ही जायेगा। जबतक बिलकुल ज़रूरत न पड़े तबतक बड़े लोगों से वह मान नही पा सकेगा। वह मिलेगा शुकुटी मिश्र को जिनके घर दो वक़्त चूल्हा भी नही जलता, जीर्ण-शीर्ण बूढा आदमी। खुली झोपडी से लाठी टेकते-टेकते निकलेगे। नाक से ही आवाज़ आयेगी—"आँयुंष्मां भँवं।" मान मिलेगा सिन्धु चौधरी को, बिदेई राउत, गौड बेहरा नदिया को।

बक पचक के बाद छाड़खाई[1] का दिन। कुशिया केवट नदी में जाल डाल रहा

1. छाड़खाइ : मार्गशीर्ष का प्रथम दिन। कातिक के महीने मे मासाहार वर्जित है। छोड़ी हुई चीजो को इसी दिन से फिर से खाते हैं इसलिए इस दिन को 'छाड़ खाई' कहते है।

है। मछलियाँ मानो छाड खाई की बात जानकर अन्तर्धान हो गयी है। घड़ी-पहर मे एक-आध मिलती। कुशिया की टोकरी में कुल एक मछली है। अधसेरी 'जलग' होगी।

"कुशिया भाई, मछली होगी?"

"कहाँ? सिर्फ एक जलग पड़ी है। आज तो घर मे मछली है ही नही। यही पता नही कैसे खिंच आयी।"

"देगा? क्या लेगा?"

कुशिया ने और कोई उत्तर नहीं दिया। नाव पर खड़ा रहा। कही देख रहा है। सुनसान नदी का किनारा। मछरंगे उड रहे है। सुनसान बालू पर पचाग के सक्रान्ति पुरुष के चित्र की तरह झुके हुए लकड़ी टेकते आ रहे हैं—बूढे शुकुटी मिश्र। कुशिया उधर ही देख रहा है।

"दे क्यों नही देता कुशिया? बोल कितना लेगा?"

कुशिया कुछ बोल नही रहा।

शुकुटी पण्डित पहुँच गये, पाँव थरथरा रहे है। सिर उठाकर बगुले की तरह देखा, नाव के ऊपर। कुशिया खड़ा हो गया, लोहे का गढा भालू जैसा मरद। पल-भर मे कमर तक सिर को झुकाकर कहा, "पण्डितजी, पालागी, पालागी—"

शुकुटी पण्डित हँस पड़े। नाक से आशीर्वाद चीची कर निकला—"आँयुंष्माँ भँवें..." पण्डितजी ने उसकी ओर मुँह कर देखा, अर्पति ने मन ही मन याद किया, उस ऊँट जैसी गरदनवाले सब्ज टिड्डे को, जो हाथ पसार देता है। प्रणाम करने पर दोनों हाथ पण्डित वैसे ही बढाता—इसी का नाम आशीर्वाद। मुँह मे आशिष और मन मे आमिष का लालच। उसने उनकी काँच जैसी निश्चल आँखो को कडी नजर से देखा तो शुकुटी दादा ने मुँह फेर लिया।

"किधर पण्डितजी?" कुशिया ने पूछा।

खाँसकर थोड़ा अपने को सँभाला। शुकुटी पण्डितजी ने कहा, "अरे मछली है क्या रे? छाडखाई ठहरी आज। जिधर खोजो एक छिलका भी नही दिखता।"

अर्पतिया ने मन ही मन कहा, "साँप का केचुल है, लोगे?"

कुशिया ने कहा, "सुबह से लेकर दिन चढ़ आया, बस एक मछली पड़ी। क्या करूँ, बताओ? लेंगे इसे? लो, जलंग है।"

"कितना लेगा?"

"आज के दिन डेढ़ रुपये में बेचते है। आप एक रुपया दे दो।"

"अरे पगला हो गया है क्या, बेटा? यह देख छह आने अण्टी में पड़े है। एक विधि रखना है, नही तो आज इस महँगाई मे मैं भला जलंग मछली...?"

"कुशिया भाई!" अर्पति चीखा, "मै आठ आने देता हूँ।"

कुशिया मछली निकालता है, सिर हिलाकर इनकार कर देता है। अपर्तिया ने बढकर कहा, "अच्छा ले बारह आने ले...अच्छा, ले रुपया सही। दे मुझे, रुपया देता हूँ, यह ले..."

कुशिया ने मछली शुकुटी मिश्र के हाथ में बढा दी, "लो, पण्डितजी, आपके साथ और क्या भाव-मोल, सात आना देना।"

"अरे छह ही आने तो है।"

"यह देख कुशिया भाई, रुपया दे रहा हूँ।"

"ले जाओ महाराज, ढँककर, किसी की नज़र न लग जाये, कहीं। आज छह आने दिये रहो, आना पीछे सही।" मछली का मुँह गप-गप कर रहा है। ख़ुश हो असीस देते-देते गमछे में बाँध, शुकुटी मिश्र चले गये।

अपर्तिया ने कहा, "उसे सात आने में दिया, मैंने रुपया देना चाहा, फिर भी नही दिया तूने ?"

कुशिया ने हँसकर समझाया, "तेरी तरह उनके पास भी रुपया होता तो दे न देते ? नही था तभी तो ! छाडखाई है, मछली की आश किये पण्डितजी महाराज इतनी दूर आये। इनकार कर देता तो मुझे धरम रहता, बता !"

"ओहो, बहुत बनने लगा है—बाम्हन ना बैंगन।"

"अच्छा, कह ले ! बैंगन कह, कुम्हड़ा कह, जो कहना हो कह ! इससे क्या, तू इस जनम मे बाम्हन हो जायेगा ?"

"ब्राह्मण नही तो क्या, आदमी तो हूँ। या ब्राह्मण के पाँच हाथ, आठ पैर होते है ?"

"अरे आदमी तो सब है, पर बड़े-छोटे भी तो हैं, कानून-कायदा भी है। तू अपने पैसों मे बडा, होगा शुकुटी पण्डितजी मान्यता में बड़े है। उनके पैरों की धूल लेकर सिर लगाने से ही पुण्य होता है। ब्राह्मण की निन्दा न करना, शासतर से द्रोह होगा।"

"रख तेरे शासतर-द्रोह को, मछली तो दी नही, अच्छा-अच्छा...!"

"जा घडी-भर बाद आना, मछली पड़ेगी तो..."

"हूँ ! मैं तो चलता हूँ, अब आज और..."

"ओहो, मछली खाना छोड़ोगे। क्या वैष्णव बनोगे ?"

"अरे मछली खाना क्यो छोड़ूँगा ? और क्या कोई मछली पकड़ता ही नही ?"

"सुन, सुन अपर्ति" कुशिया समझा रहा था, "तू जानता-समझता आदमी होकर ऐसे चिढ जाता है ? मैं क्या कहता हूँ सो तो सुन, अरे..."

"अब क्या खाक सुनूँ, उसे देगा मछली, मुझे अकल !"

"तू तो निपट ज़िदखोर है। मानेगा नही, मैं क्या करूँ ?"

अपतिया आँख फेरकर चला गया। "ठीक है, ठीक है। एक ही माघ में तो शीत नहीं चला जाता।" ...इतने से ही कुशिया का चेहरा बदल गया, मानो नदी के पानी पर बादलों की छाया पड़ी हो। बोला, "क्या कहा ? मुझे आँख दिखाते हो ? लगता है कण्ट्राक्टर के पैसे सर पर सवार है जिससे पित्त चढा हुआ है। मुझे माघ दिखाते हो...कितने माघ देख चुका, तू क्या दिखायेगा।"

अपतिया कुछ नहीं बोला। चला आया, मगर भूल न सका।

ऐसी कितनी ही अनुभूतियाँ है जो उसके मन मे सुलग रही है, वह कोई बहाना खोज रहा था।

गाँव के समाज की ओर देखता। वह हट्टा-कट्टा है। जबरदस्त, अभाव-असुविधा और दारिद्र्य मे डूबे गाँव में मानो वह सचमुच एक 'माल' है। छाती पर हाथ फेरते हुए बाँहें उठाता। बीच रास्ते से चबूतरों की ओर देखता। गाँव की लडकियाँ उसे मैली नहीं लगती, वह उनमे अपना लगाव देखता। क़दम-कदम पर विसूरता। गाँव की लडकियाँ इतनी पास होकर भी इतनी दूर हैं उससे। सब अपने-अपने घेरे मे घूमती है निरापद बनी। जाति, श्रेणी, सबकी अपनी-अपनी है। परिचय उस सबको पिघला नहीं सकेगा। अनुपात के विचार से उसका मोल ही अपना स्थान दिखा देगा। उसमें से कोई भी वह अपतिया है, इसके अलावा और *कुछ नहीं समझेगी। वह भी वैसे ही देखता रहेगा, मन की बात होठ पर ले आया* कि उसका सिर साबुत नहीं रहेगा। किसी के लिए लचकीले पेड पर चढ अमरूद तोड़े है, आप न खा जामुन तोड़ लाया है। गाँव का बेटा है वह, जन्म से गाँव की बेटियों का मजूर है, दरकार पड़ी तो फरमाइश, वे उसके बल और साहस का कार्यो मे उपयोग करती हैं। किन्तु बस इतना ही, और अधिक नहीं।

उसकी छुपी श्रद्धा की सपन-कन्याएँ! गाल थिरकाते लडकियो द्वारा उसके हाथ की तोडी जामुन खाने के दृश्य को वह जी-भर देखता, और देखता रह जाता। उसके लाये केवड़ा-पखुड़ी एक-दो एक-दो जूड़े में खोंसकर वे अपने-अपने रास्ते चली जाती।

खाली हवा में थाल-भर वह मन के असुर को मन ही मन भूखा मारता। सार यह निकला कि मारे चेहरे पर कीलें उग आयी, जितना थूक लगाता मिटती ही नहीं। फिर अपने चेहरे को थिर पानी मे देखता तो चौक जाता, रूखा, मांसल, बडा गोल चेहरा!

अठारह मे व्याहने वाले ने शादी जाकर छब्बीसवें बरस में की। एक स्वतन्त्र मूर्ति लेकर उसकी अपनी सम्पद् बनकर जो लक्ष्मी उसके घर आयी—उसका था गोल चेहरा, दुहरी देह, मोटी-चौड़ी कमर, त्रिपुण्ड काली, चिपटी नाक। उसमे उसने सौन्दर्य देखा, गठन मे न सही, बल मे। सोचा—माँ होती। थोड़ा-सा रोया भी। गाँव के लोगो ने कहा, "कामवाली बहू है, उसके हाथ-पैर ही बता देते है।"

गाँव की लड़कियों ने ठट्ठा भी किया।

किसी ने प्रशंसा की, किसी ने उसका चेहरा हिलाकर याद दिलाया कि यह उसकी है, एकदम उसकी। अब वह रुई का फाहा नहीं रहा, गाँव में बसा एक गृहस्थ है।

अर्पात पधान के मन का अरमान नहीं मिटा, आग नहीं बुझी। वह नहीं भूला। अर्पात पधान मानो अब भी प्रतीक्षा कर रहा था।

किणेई ओझा के मन में हिंसा थी। अर्पात पधान के मन में भी। फिर भी दोनों एक दूसरे से भिन्न। और उसी तरह परस्पर से भिन्न होने पर भी गाँव के कई ऐसे लोग हैं, उनमें भी साआन्त वंश के प्रति हिंसा है।

ये दबे हुए लोग! इस गाँव के अहीरों के पूर्वजों के जमाने से, साआन्तों की पालकी ढोते-ढोते इनके कन्धों पर गाँठ पड़ गयी। युग ने उन्हें मुक्ति दी है। और कुछ न सही तो कलकत्ते में दूध बेच-बेच ही बड़े आदमी हो गये। इसी तरह की जाति के लोग। कोई गाँव में खेतिहर तो बाहर व्यापारी। उनके बाल-बच्चे भी कुछ-कुछ पढ़ने लगे। ढग के कपड़े-लत्ते पहनते, सलीक़े के घर में रहते भी हैं। बाबू-भेस—किसी का एकाधार तो है नहीं। घर की घरनी पहनने लगी साया-ब्लाउज, जार्जेट और भाँति-भाँति की साड़ी, हाथ में, नाक में टूम-छल्ला, पहले की तरह बेढगा नहीं, बारीक कारीगरी किया हुआ। साबुन, सुगन्धित तेल, ये सब यहाँ तो और भी ज्यादा है। बच्चों के हाफ-पैण्ट कमीज़ हो चुके हैं। बड़ों में चाय का अमल चढ़ता आ रहा है, दुकानों पर बन्दनवार की तरह जो कागज़ी पुड़िया टँगी हैं, ये लोग ही तो उन्हें ज्यादा ख़रीदते हैं, उनकी गली में साइकिलें भी दो-एक हो गयी, कम से कम एक पेट्रोमेक्स की रोशनी, कई बार ख़राब होने पर भी कभी-कभी जलती है। पुराण पढ़ा जाता है। टार्चलाइट तो अनेकों है, कभी किसी के गुहाल में तो कभी किसी की छान पर झक् से दिख जाती है टार्च की रोशनी। आदमी के मुँह पर सीधी रोशनी फेंककर वे रास्ता चलते हैं। और उस रोशनी में दिख जाता है—जो पहले थे बड़े आदमी, बाबू, ख़ानदानी, बस्ती के रास्ते पर उनमें से किसी का घर गिरता आ रहा है, हड्डियों के ढाँचे की तरह ख़ाली बाँस की खपच्चियाँ काढ़े झुका खड़ा है, किसी के घर की फटी दीवार से होकर दरवाज़े के अन्दर टार्च का प्रकाश चला जाता तो कोई गाली दे बैठता है, कोई चिल्ला उठता है, "अरे, कौन जा रहा है? ऐसे रोशनी फेंकनेवाला यह कौन है? किसको इतना रोब हो गया है?" रोशनीवाला अँधेरा कर चुपचाप बढ़ जाता, फिर रोशनी डालता।

शहर के लिए निकलने पर उनमें से भी अनेक युवक बाबू-भेस बनाकर जाते। महीन धुली हुई धोती, कठोर चौड़े कन्धों, गठीले बदन और ऊँची चौड़ी छाती पर फूल खिलने की तरह जालीदार गंजी, उसपर दूध की तरह सफ़ेद कपड़े का पंजाबी या चिकनी डोरिया की पूरी बाँहों की क़मीज, साफ़ बनायी गयी दाढ़ी, छोटे-बड़े दो भागों में बँटे ऊपर सँवारे गये तेल में तर लम्बे बाल, भंगिमा में स्वास्थ्य और बल एवं चढ़ते दामों के दिनों में अपने हाथ से कमायी गयी फ़सल का तेज। अपनी वृत्ति में स्वाधीन भाव से पेट पालनेवाले आदमी का आत्म-विश्वास—वह भी झलक उठता उस भंगिमा में। किसी के हाथ में होती सूटकेस, तो कोई थैला लटकाये होता। और फिर इनमें कइयों ने तो रेल-मोटर में सफ़र किया है, परदेश देखा है।

चलती दुनिया की खबर ये लोग ज्यादा रखते हैं, ज्यादा जानते हैं, और गाँव में ज्यादा हाँकते भी हैं। कलकत्ता, कालीमाटी, डुडुमा, हीराकुद, राउरकेला और जाने कहाँ-कहाँ की बातें!

बाबू लोग सुनते, और सिर हिलाते।

वे ही लोग, कोई खेतिहर, कोई केवट, ग्वाला, हलवाई, कुम्हार, लुहार और कितनी जातियाँ। देश में स्वाधीनता आ गयी है। गाँव के बाबू-भैया देख रहे हैं—आँखों के आगे पुराने जमाने के सामन्तपन का अधिकार, जमींदारी का राज, यहाँ तक कि बँटाईदारी में अपनी जमीन की फसल के बड़े भाग की मिलकियत कहीं उड़ गयी है। अब तो घर पर छावनी के लिए पुआल नहीं, दीवार लीपने को आदमी नहीं, नौकर-चाकरों का झुण्ड तो सपना हो गया। पुराना जुग जाकर नया जुग आया है कि बस खाली व्याकुलता, छटपटाहट!

सोया आदमी जागकर देखता है कि उसमें बल भर गया है, दुनिया में उसका नया मोल है। अपने बल को स्वयं पहचाना है कुछ-कुछ। और साथ-साथ उनकी नवप्राप्त दृष्टिभंगी के सामने पुराने जमाने के प्रतीक जैसे पुरानी संस्था के विद्रू-वर्ण अटपटे-से दिख रहे हैं। अधीर हो रहा है कि—ये फिर रह क्यों गये? कब जायेंगे? जा क्यों नहीं रहे?

ये बड़े-बड़े झूठे दावे, मुफ़्त के 'हम बड़े' के जीते-जागते कूड़े के ढेर। ये कब हटेंगे?

और तभी गाँव-गाँव में देखते हैं सामन्तपन जिनका नया नया है [illegible] लोग एवं धन चुके हुए सम्प्रदाय में कोई-कोई अपना आसन [illegible] बन रहे हैं गाँव के नेता। मौसेरे-चचेरे बने फिरते हैं। [illegible] सामने बुलाने आते हैं। पहले गाँव में टाउटर केवल [illegible] फँसाकर दो पैसा कमा लेते थे, अब ये गढ़ते हैं [illegible] पिटीसन लिखवाकर भिजवाते हैं, भिड़ा देते हैं [illegible]

प्रतिनिधि के रूप में सरकार से पैसा लाते हैं और लगाते हैं अपने काम में, एक जमीन दस काम में बन्धक दिखाकर रुपये लाकर चट कर जाते हैं। 'ला दूंगा', 'करवा दूंगा' आदि कहकर लोगो को गाँठ मे बाँधकर नेतागिरी करते हैं—घर भर रहे है। कण्टरोल का जमाना और वोटो की लड़ाई मे उन्हें तालीम मिल गयी, क्षमता की लडाई ने इनके लिए सुविधा कर दी, फिर और लोग भी तालीम पाकर इनके साथ निकल पड़े। कुछ चालाक और कुछ निकम्मे छोकरे भी उनके साथ घूम-फिर जान गये हैं कि नेतागिरी मे उनका भविष्य अच्छा है। बड़े-बड़े लोगो के नाम के साथ अपने कार्यक्रम को जोड, बड़ी-बड़ी बातें कह, लोगों की आशा या हिंसा को भड़काकर नये ढग के बिचौलिये बनकर लाभ उठा रहे हैं। गाँव मे नये जगे मेहनतकश लोगो को भी ये देख रहे हैं, उनके अभीष्ट और अपने बीच कुहरे की तरह उठ आयी इस नयी सस्था को देख रहे हैं, ये भी भले आदमी है, सामन्तपन का नया रूप...मुट्ठी भिच जाती है...अधीर हो उठता है। इनमे भी हिंसा है इस सामन्तकुल पर—आशा है—आग लगेगी!

वही पुरानी पानी की चोट खायी नदी-किनारे की जगह, समय के थपेड़े खाकर बाँकी-टेढी पैनी-भोथरी, युग-युग से लोगों के आने-जाने के दबाव से पक्की हो गयी! अँधेरे मध्ययुग के विश्वास पर उसकी भित्ति, तर्क को उसका एक ही उत्तर कि वह समय की परख पर खरी उतरी है। उस परख में कसे गये हैं—राजा-प्रजा का समाज, मन्दिर मे घण्टी की टन-टन, घर के बड़े-बूढ़ो का आदर-सम्मान, बहू-बेटियों का बरताव, लम्बी चोटी, गले मे माला, ब्राह्मण-वैष्णव को आदर, देव-देवी की पूजा। नये युग के प्रवाह को कहती—यह प्रलय के पूर्व की बाढ़ है। समता को कहती—बारह जात तेरह भाई, साम्य पर आक्षेप कर कहती—यह तो बस समाप्ति की सूचना है। सब होंगे एकाकार, न होगा वेदों का विचार, अपनी सस्था से अपने समाज के स्वार्थवश टुकडे-टुकड़े हो टूटकर नदी में बह जाने पर धर्म के नाम की दुहाई देती। कहती—धर्म गया! धर्म गया!

लोका नायक उसी सम्प्रदाय का है। उसके मगलाष्टक और पचांग के फन पर से लोगो का विश्वास यदि टूट गया तो उसके जीने का अर्थ टूट जायेगा। फिर तो वह गाँव का खेतिहर मात्र रह जायेगा। कोई विशिष्टता नहीं। खेतिहर के पास किसान के समकक्ष होना उसके लिए अशोभनीय बात है। वैसे ही हैं भुकुटी मिश्र, क्योकि वे धनी नही हुए, फिर भी उसी ठाकुरजी की पूजा और पोथी बाँचने मे लगे है। ये सब गाँव मे सामन्तपन के पुराने मन्त्री, सेनापति, नये युग के नये धनियों को देख डरकर एक तरफ हट जाते हैं। कहते—"छोडो इन लोगों की बात, 'मर्यादा' तो जानते नही।"

ये लोग सिन्धु चौधरी के पक्ष मे होंगे ही, लड़ने के लिए ख़ाली जीभ का बल,

वाद-विवाद का आसरा। उकसाते-उकसाते जो जोश मे आयेगा वही उनका वल बढायेगा।

जोश मे आनेवाले लोग भी कम नही। कई है। जिनका अपना कोई मतामत नही। बचपन से बडे होने तक एक समान चलना, गरीब देहाती घर से ऊपर नहीं उठे, ज्यादा गिरे भी नही, एकदम सीधी लकीर, कोई परिवर्तन नही। सोचने की जरूरत नही पड़ी। जो आया भाग्य को मान, कर्म का नाम लेकर आँख मूँदे चलते आये है। और बचपन से मन मे उस पुराने संस्कार के प्रति विश्वास, वड़े-छोटे की धारणा, जान-बूझकर याद न रखने पर भी मन के तल मे। परि-स्थिति में पड़कर ये सहज हो—

"मधिया भाई,

सब कथा कु होइ होइ।"

जो खीच सका ये उसी के झुण्ड के है, किन्तु सदा नही। इस मामले मे इनकी स्मरण-शक्ति ज्यादा तेज नही। अत जल्दी ही पक्ष बदल देते है। मामूली बात पर अड बैठते हैं। खीचने मे कोई तकलीफ नही, हुड़काना और भी सहज है। ये लोग राजनीतिक दल बनानेवालों की आशा-भूमि और हताशा की दलदल हैं। लोगों की गिनती के समय आमतौर पर ये लोग ही दोनों तरफ़ के लिए...'अपने गाँव के लोग है' कहे जाते है।

यहाँ अपर्ति पधान ने भी दल बनाया, लोका नायक ने भी दल खड़ा किया। इनके अलावा जितने थे, कुछ डरपोक, बूढे-बड़ेरे आदमी, जो कहा करते, "हमारा क्या जाता है?" वे दोनों दल के, जिसे देखते उसी के, दोनों पक्ष एक साथ देखते तो ये केवल देखनेवाले बन जाते। निरीह जनता!

पाशे से महाभारत की तरह, हठात् पाटेली गाँव में सुलग उठे दो मतवाद, लोका नायक और किणेई ओझा के कलह को केन्द्र मे रखकर, और उसके पीठ पीछे परायी बात, सिन्धु चौधरी के घर की बात।

साँझ होते न होते गाँव दो दलो मे बँट जाता।

सिन्धु चौधरी मेघ का-सा मुँह बनाये किनारे-किनारे अकेले घूम-फिरकर लौटे। घर पर स्त्री भी गरज रही है। दीप जलाने के बाद वे सदा की तरह भागवत पढने बैठे। ऐसा लगा मानो उसकी आवश्यकता थी, कम से कम ससार को भूला जा सकता है।

पीठ दिखाकर वह सब कुछ सह लेगा—रवि ने यही सोचा।

अतः जब नौकरी किये बिना ही वह एक अच्छे बेटे की तरह घर लौट आया है और पिता ने देखा—सामने उसका निकम्मा जीवन, उससे कुछ भी होगा नहीं, और जी भरकर कोसने लगे तो उसने तनिक भी ध्यान न दिया। रास्ते की थकान मिटाने के लिए रात-भर विश्राम किया, रुँधे-घुटे शहर की मोटरों का तेल और सड़कों की धूल मिली हवा की दमघोंट स्मृति को मन से उतार फेंकने के लिए दो दिन गाँव-गली मे घूम-फिरकर रवि फिर खेती के कामों में रम गया।

शहर से लौटने के साथ-साथ कपड़ों और सिर के बालों मे जैसे शहरी धूल लगकर मैली दिखती है वैसे ही उसके दिमाग मे कुछ धारणाएँ भी चिपकी है। महात्मा स्वर्गत अनादिदास की समाधि के चबूतरे के पास विशाल बरगद के नीचे—एकान्त जगह, उधर नदी दिखती, इधर लम्बा ऊसर, गाय-गोरू चरते, और कुछ काँटेदार झाड़ियाँ है। उस बरगद की छाया मे बैठकर रवि जूँ बीनने की तरह एक-एक कर नयी धारणाओं को सिर में से निकालकर देखने लगा।

चौकोर ज़मीन में ट्रैक्टर से खेती हो तो क्या बुरी है? मशीन से सब होता तो इतने लोगों की दरकार नही होती। बेचारे बैलों को चैन मिल जाता, आशीष देते। बुरा क्या है? और इतनी-इतनी ढेंकियों के बजाय ख़ास-ख़ास जगह पर एक-एक धानकल, वैसे ही तेलकल, गन्ने की कल, सब कल बैठा देते...। हर साल घर पर छप्पर डालने की क्या आवश्यकता है, एक बार बस एजबेस्टस की छत। फिर छुट्टी। पुआल का फिर क्या काम? गाय खायेंगी, दूध देंगी। सहकारिता समिति गढने पर मशीनों की दुनिया सहज ही गढी जा सकेगी। यन्त्र भी कह-कहकर दे रहे हैं, सस्ते और सुभीते से।

उसने अनादिदास के चेहरे का अनुमान लगाया। देखा नहीं है उन्हे, सुना है उनके बारे मे। खूब लम्बे आदमी, सफ़ेद जटा-दाढी, सौ वर्ष के बूढे, जात के चमार थे। लोग महात्मा मानते थे।

"अनादिदास, ट्रैक्टर-युग का अनुमान कर पाते हो? सब मशीन से, सब कुछ यन्त्र से, अब तो शहर में कृत्रिम प्रजनन-प्रणाली से गायें प्रजनन करती हैं। और कुछ दिनों बाद आदमी भी, पचास वर्ष बाद जन्म लो हे, अनादिदास—कृत्रिम प्रजनन-प्रणाली से।"

मन ही मन मानो अनादिदास का जवाब सुन रहा है—"ट्रैक्टर ज़मीन जोतेंगे तो बैल करेंगे क्या? किसी का वश बचायेंगे या उन्हें कोई खा डालेगा? लोगों को मजूरी कहाँ से मिलेगी? धानकूटनियाँ क्या करेंगी? क्या करेंगे, कहाँ जायेंगे ये वृत्तिवाले लोग?"

"लग जायेंगे सब कल-कारखानों में, क्यों अनादिदास, साइरन बजा, दौड़ेंगे

काम पर। विराट्-विराट् कल-कारखाने, एक साथ सब मशीन मे लगेंगे, चीजें पैदा करेंगे, वहीं पायेंगे एकता, समानता, छाती से छाती, हाथ से हाथ। जजाल नही—"

कभी न देखा कल्पना से गडा चेहरा लुंज हो उठता है।

"क्या ? कृत्रिम प्रजनन-प्रणाली ! मानव जीवन के बदले गाय-बैलों का झुण्ड, भागवत नहीं मशीन की सीटी, गाँव की हवा के बदले शहर की घनी धूल, कोयले का चूरा, तेल की गन्ध, छाती में तपेदिक, मन में रुँधा पराहत आकाक्षाओ का जहर। मशीन से चीजें पैदा करो तो कच्चे माल के लिए नये देश, खरीदार जुटाने के लिए नये देश, और फिर युद्ध। और युद्ध भी कैसा ? एक को एक मल्ल मारे सो नहीं, शर से बींधना नही। मानवरहित यन्त्र अकेला उड जायेगा शत्रु के देश को भस्म करने, रास्ते मे विगड गया तो खिसककर गिर पड़ेगा और ध्वश कर देगा अपने ही देश को। या फिर जिनका इस युद्ध से कोई मतलब नहीं, उन निरपराध लोगों को। अतः जायेगा ध्वंस का अस्त्र, आयेगा ध्वस का अस्त्र, पटाखे-पटाखे टकराकर मानव संसार ध्वस होगा, और एक बार फिर वही कुरुक्षेत्र का ध्वंस ! रे बाबा ! फिर युग उलटेगा, फिर चल पड़ेगा वही सत्य-द्वापर-त्रेता-कलि ! होगा, बेटे होगा, सिद्ध पुरुष लिख गये है। कवि करवाता है। आदमी का वश नहीं, सब कृत्रिम हो जायेगा सूखकर झड़ने से पहले ही।"

"सब यदि ध्वंस होगा, तब लोग शान्ति और सृष्टि की बात क्यों सोचते है, अनादिदास ? तब मेरे मन में यह उत्साह क्यों ? क्यों इन यन्त्रो के कोलाहल के बीच सारी दुनिया में सुनाई पड रहा है—शान्ति, शान्ति—हम शान्ति चाहते हैं !"

अँधेरे में प्रकाश हलचल मचाता है बाबा, कलि के पेट मे सत्ययुग काँय-काँय कर पुकार रहा है। यह यन्त्र, यह कृत्रिम है, यह चकाचौंध कहीं उड़ जायेगी। आनन्द आयेगा—धरती हँसेगी।

शान्ति से सिर अवनत हो गया। अलसाकर देखा, दूर-दूर तक, और उसके साथ उस नये चेहरे को। छवि—जिसने उसकी चेतना में अपना स्थान बना लिया हैं, अपने आपको खोलकर देखता तो, पहले ही वह नजर आती !

आशा और उत्साह की द्योतक है मानो वह। उसी के पास अपने मन में गडी गयी अनादिदास की कल्पित वाणी मेल खा गयी। दोनों उसके हृदय के ही हैं।

कुछ समय बाद सिर उठाकर देखा। सामने बरगद। उस ओर गायें चर रही हैं। उनके उधर खेत।

रवि ने सोचा, इसी रास्ते चले गये है, रण बाँकुरों के दल। छाती में दम था। जलायेंगे, काटेंगे, जय कहेंगे, पकड़ेंगे। धरती कँपाते, धूल उड़ाते चले गये

चतुरंग सैन्य लेकर। कहाँ है उनका चिह्न ? गये कहाँ ? जैसे धूप को अंधेरी करते
टिड्डी दल उड़ जाते हैं। फिर आकाश जैसा का तैसा। सारी दुनिया युद्ध-
क्षेत्र, कहीं अनाज के खेत वन गये, योद्धाओं के हाड़ की खाद वन गयी। वैसे ही
जायेंगे, चाहे जितने समूह जायें, खाँ-खाँ खेत में खप जायेंगे। आकाश के किस
कोने में मिट जायेंगे कतार के कतार जहाज, धरती पर बम-वर्षा। फिर मेघ
घिरेंगे, फिर वाढ़ आयेगी, फिर धरती हँसेगी, हँसती आयी है सदा से।

मझमाघ। शीत गया नहीं है, उत्तरा पवन अब भी कोमल काँटे चुभा देता
है, किन्तु इस बीच याद आता है, सर्दी भी जाने को है। खाँय-खाँय सूखे खेत को
देखने पर याद आता है—यहाँ फिर हरे-भरे धान के पौधे कीचड़ में लहलहायेंगे
और वर्षा की बौछार पड़ेगी खूब। वर्ष घूम जायेगा। उत्तर पवन निस्तेज होकर
थमा जाता है, जीवन। चुके बूढ़े आदमी के अंग की तरह, देह को छूती है दक्षिण
पवन की सनसनी। देह को सिहरा देती है।

यही छुपा वसन्त एक दिन बाहर खिलेगा, शीत चित हो जायेगा, मन्द
आलस्य को झंझा में भस्म कर वह लायेगा सर्जन के लिए झड़-वर्षा, यही उसका
परिचय है।

रास्ता काटकर धोबन रूपेई की माँ के घर की खुली बाड़ के पास वह आँ
किये पालिधी के गाछ की ओर देखता खड़ा रह गया। एक ताजा कली के साथ
वड़ा-सा एक लाल-सुर्ख फूल था। उसे लगा, सब खिलेंगे। वह देख पा रहा है—
उस बिना पत्तों की सफेद ठूँठ डाल पर रक्त की तरह लाल-लाल पालिधी फूलों
की रोशनी लिपट जायेगी। सारे फूल खिल जायेंगे।

किनारे के पास कालिया साहू की दुकान। दिन छिपा कि भीड़ छँट गयी।
अब यह साँझ भी हो आयी। फिर भी प्रतीक्षा में कालिया साहू दुकान फैलाये
बैठा है।

थाक से चिलम निकाली। हथेली पर रगड़-रगड़कर गाँजे की कली को
मसला। चिलम में भर, नारियल की जट को गोल वना चिलम पर दवाकर आग
पकड़ायी, हाथ जोड़े ठाकुरजी को, और एकदम खींचा कश कसकर, नाक-मुँह
बन्द कर छाती में भर ली अच्छी तरह। फिर खाँसा।

कालिया साहू वर्ण में गोरा है, पतला, सूखा ऊँचा आदमी, सिर पर खिचड़ी
बाल, कपाल पर लम्बी कली, आँखें सदा गुलाबी।

दम खींचने पर लगा, इस चलती दुनिया को एक भद्दी-सी गाली दी जाये।
ज़माना खराब है, वर्षा कम हुई, फ़सल आगे से आधी, खाने को लोग कीड़े-मकोड़ों

की तरह कुलबुलाते हैं, चेहरे टिड्डी की तरह, मौसम भी बेठीक, सरदियों में गरम, उसे गरमी जो लग रही है। सब एक दूसरे के दुश्मन है, छोटे-बड़े का कोई विचार ही नही रहा। धरती पर चैन नही, गाँव मे आदमी कितना हैरान होता है। दिन भले नही रहे। क्यो ? किसके पाप से ?

सामने भगिया बाउरी।

"क्यों रे, तुम्हे क्या चाहिए ?"

"लूण दो पैसे का, और पैसे की मिरच।"

"मिरच भी ख़रीदनी ही पडी, बाडी मे पौध लगाने की इच्छा नही हुई ! मनुष्यता गयी। पैसे-भर की कितनी मिरच आयेगी? समय ख़राब आ पडा है। चारों ओर अन्याय, अनीति। अबकी महामारी पड़ेगी। जायेगे सब एक-एक कर।"

चल पड़ी भगिया के साथ चर्चा। दोनों समवयस्क, पचास के आसपास। बाउरी बस्ती में खजडी की चोट के साथ-साथ धरम-चरचा भी हुआ करती है। आगत भविष्य की बातें उठती हैं।

किनारे पर साइकल की घण्टी ट्री-ट्री बज उठी, आ पहुँचा चन्द्रपुर का सत्तार मियाँ। शहर से लौटा है। बोला, "भई, बीड़ी खतम हो गयी।"

बीड़ी का बण्डल थमाकर कालिया साहू ने कहा, "बैठो तो सही।"

सत्तार मियां बैठ नही सकेगा। दो-चार बाते खड़ा-खडा ही करके चला गया।

कालिया साहू ने कहा, "देखो, सदा हडबड़ी रहती है इसको। ख़ूब घर-द्वार कर रहा है। बग़ीचा-बाड़ी-खेती, कितना कुछ ! अपने गाँववाले तो बस, बैठे गप्प हाँकेंगे।"

"सच कहते हो।"

दो-चार ग्राहक आ पहुँचे। कल की तरह हाथ चलने लगा। चले गये। अकेली खड़ी है राधी कण्डरूमी।

"मेरी बात नही समझी तुमने।"

"कौन-सी बात ?"

"चावल आध सेर उधारी दे देते, पैसे कल दे जाती।"

"कहा तो, नही-नही होगा।"

"नही कहने से कैसे चलेगा, सब भूखे रहेंगे ?"

"उसके लिए मैं क्या करूँ ?"

राधी हटी नही। ख़ूब चेंटू आदमी है। वह सोच रही थी। इसी तरह अडी रही तो दे देगा वह, चाहे देर भले ही कर दे। तभी आ पहुँचा जोगी पधान। उसे सौदा चाहिए। कालिया साहू ने सौदा तौल दिया। जोगी ने एक कहानी सुनानी

शुरू की, "सुनो तो साहू ! बड़े लोगों की बात न्यारी है भाई, बड़ों की करतूत भी तो देखो। अपने रवि बाबू, अरे वह वट महान्ती का बेटा !"

"क्या हुआ ?"

जोगी पधान बैठ गया, "बस पूछो मत। हाट बैठी है।"

जोगी पधान ने कानों पर होते हुए सिर पर लपेट रखा गमछा उतारा, अपनी मोटी-मोटी मूँछों को हिलाते-हिलाते सिर इधर-उधर घुमाते हुए अपनी बात कहने लगा, "पाटेली गाँव के सिन्धु चौधरी का घर, जानते हो, कितना बड़ा था ? अब उजड़ गया। उनकी एक ही तो लड़की ! नदी के किनारे घर। ये बाबू शहर जाने को कहकर वहाँ जाते, जाने कैसे बिलाई को दूध मिलनेवाली बात की तरह भाव-न्याव हो गया। चली दुख-सुख की बातें, गुपचुप मे ही। कहते हैं कि वचन का देन-लेन भी हो गया। अरे बाबू, सबर करते। हाथ मे दो हाथ होते। सो तो नही, जिसे कहते है बस काला बजार। कहते है सीखा-सीखी हो रहे थे, घर छोड परदेस जाने की बातें जमा रहे थे। पर इधर वट बूढ़ा, जानते ही हो, मक्खीचूस है। पैसा कहाँ; और उधर सिन्धु चौधरी तो तलवार की धार। सुन कर रखते, क्या; अरे हाथी मरे भी तो लाख का। कोई कम होता है, तुम्ही बताओ तो सही—"

"राम-राम कितना अनाचार।" कालिया साहू ने कहा, "हा, जमाना सब कुछ कराता है।"

"तूने सुना ही कहाँ ? जरा धीर तो रख। बात प्रकट हुई—"

"किसने देखा ?"

"उससे तुम्हें-हमें क्या मिलेगा ? अरे खाली चिलम है या उसमें कुछ है भी ?"

"देता हूँ, ठहरो। तो क्या हुआ फिर ? ये तो भारत पोथी मे अरजुन-सुभदरा वाली बात।"

"बात खुली तो लोगों ने छी-छा किया। और एक दल चौधरी की तरफ़ वालो ने कहा—'यह सफ़ेद झूठ है, गाँव मे पहले से ही बिगडा-बिगड़ी थी, आज-कल किस गाँव मे नही ? बस, इस बात को लेकर दो दल फट गये। कितनी ही दुनिया-भर की अडचनें याद आयी, कितने गड़े मुरदे उखाड़े गये। कल किनारे पर दोनों दल लाठी-बल्लम ले आमने-सामने जम गये। लाठी ठोंक-ठोककर गाली-गलौज कर रहे थे। आस्तीन चढ़ा, जाँघ पर थप्पी मार, मूँछे ऐंठकर ऐसे हो रहे थे, कि देखते ही आदमी डर जाये। मैं तो आ ही नही सका, काठ हो गया। हो जाती मार-काट, पर तभी गोबरपाडा गाँव के दस-पन्द्रह लोग एक साथ आ गये। बीच-बचाव किया, तब जाकर दोनो दल पीछे हटे। नही तो बात चुकता हो जाती। क्या हुआ फिर—पूछा तो पता चला, कुछ ऐसा-वैसा ही कर-करा दिया।"

"हाँ-हाँ, अपना क्या जाता है ! जो जैसा करेगा, वैसा ही भोगेगा। अपने को उसकी चरचा करने से क्या लाभ ?"

"लाभ यही होगा कि जो कहेगा उसका महत जायेगा।"

जोगी पधान चला गया। कालिया साहू खड़ा हो गया। अब वह किवाड़ बन्द करेगा। राधी ने खड़े होकर कहा, "देगा नहीं ? हम क्या भूखों मरेंगे ?"

"अच्छा, ले ले।" कालिया साहू ने कहा, "और एक बात। जोगी पधान ने जो कुछ मेरे आगे कहा, सब तो सुना, कहीं और जगह बक न देना।"

"मुझे चावल सेर-भर दे, मैं जाऊँ। जोगी पधान ने तुम्हें क्या कहा सो तुम जानो, मुझे क्या मालूम ?"

"आध सेर के लिए कहती थी, अब सेर कहने लगी !"

"नहीं, सेर-भर दे दो साहू। कल पैसा ला दूँगी...कल छोरे का बाप आयेगा तो देगा नहीं, बकाया रखेगा क्या ?"

"अच्छा, ले, पर कहीं कहना नहीं—"

"आँख फूटे अगर कुछ भी मुझे मालूम हो, मैं किसे क्या कहूँगी ? ला पल्ले में डाल दे।"

कण्डरूमी राधी बई मलिक की काकी है। और बई है बचपन से रवि का चेला। लँगोटिया यार-साथी।

बई ने पहले तो काकी से ढेर सारा झगड़ा किया। तकरार की। काकी ने समझाया, तू भकुआ ही हुआ, कोई बात तेरे मन को भाती है, पहले यह बता, सच-झूठ तो भगवान् जानें, हम-तुम क्या जानेंगे ? गयी-आयी, जो सुना सो बता दिया। मुझपर क्यों चिढ़ रहा है।"

बई ने कहा, "ये सब किसी घरफोड़ू ने जोड़-तोड़कर कहा है। सब झूठ।"

"तेरी जीभ फले-फूले।"

"अपने बाबू क्या ऐसे हुए हैं ? यह सब किसी ने गढी है। कोई कुछ करे, तू क्यों नाचती है ? उनके आगे न कहना। अरे बाप रे !"

"अपने बाबू ऐसे कभी नहीं हो सकते। पर इस बात का भेद तो लगाना ही पड़ेगा।"

रात पहर हो गयी। काकी चूल्हा जलाये भात राँध रही है, काका निधि मलिक थाने की पारी से आया है। चबूतरे पर नारियल के पत्ते जलाकर हाथ सेंक रहा है। उसे घेरकर बैठे हैं घर-भर के लोग।

निधि मलिक चुप बैठा था। कहने लगा, "मैंने भी सुना है, पाटेली गाँव में झगड़ा चल रहा है। उस गाँव का चौकीदार कह रहा था। दो दल हो गये। उनके पहले से ही मनमुटाव था, अब जोर पकड़ गया। झगडा करना होता है तब लोग झूठ-मूठ [हो कोई बात बनाकर लगा देते हैं। लोगों की आदत ही ऐसी

होती है रे बाबू ! मारने पर भी निन्दक पीछा नहीं छोड़ते ।"
बई मलिक ने फैसला किया, जोगी पधान ही से पूछताछ करेगा।

एकान्त में रवि अपने अन्दर की अनुभूति में डूबा था। वही चेहरा—भूल नहीं पाता वह ! उसको अनेक जगहों और अनेक अवस्थाओं में कल्पना कर उलूल-जुलूल खेल खेलता है। मैदान के बीच वही तो बैठी है। पोखरी की सीढ़ी पर सीढ़ी वही तो चढ़ती आ रही है। महादेव के पास चम्पा के नीचे वही तो खड़ी है। गहन मन में आँख-मिचौनी चल रही है, बाहर कुछ नहीं।

उसी के समतुल्य हो जीवन का अनुभव किया जा सकता है। आती है आशा। उत्साह दिखाने में मातेगा नहीं। इन्द्रजाल में फँसेगा नहीं। काम करेगा, सरल, सहज, सुन्दर जीवन की कल्पना, स्नेह-ममतामय आदमी का संसार। वहाँ कोई हिंसा नहीं, दान नहीं, भय नहीं। बस, केवल शान्ति और मंगल। ऐसा कुछ गढ़ा नहीं जा सकता ?

वही सिर्फ़ एक दिन देखा हुआ चेहरा, हँसता है। रवि को विश्वास आ जाता है।

बई मलिक आकर ख़बर कह गया है।

चौंककर देखा रवि ने। अचानक लगा, जैसे फूल सचमुच जलकर राख हो गया है।

क्यों है यह अभियोग ? किसका क्या कसूर किया है उसने ? मन की अस्थिरता थमी, कि उसने अपने आप से पूछा। आसानी से वह जवाब नहीं दे पाया, अनुभव हो रहा था, मन में अनजान ममता की जड़ें कहीं गहरे पैठ गयी हैं, बाहर का दारुण आघात ठोक-ठोककर उसकी बात को याद करा देता है—उसने छवि को चाहा है।

वह किसी से कुछ नहीं माँगता, कुछ नहीं चाहता। उसने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं। फिर भी एक साथ वह भरा जा रहा है लाज से, सकोच से। मन कहता है—जा, चला जा।

अकेले इधर-उधर होते हुए अँधेरा घिर आया। कितने सुन्दर गाँव को वह घूम-घूमकर नयी आँखों से देख रहा था। निश्चिन्त, बेधड़क। न परीक्षा न नौकरी, कोई हड़बड़ की जरूरत नहीं।

अचानक सब बदल गया। चिन्ता का वेग पैरों को छू गया है। वह ऊबड़-खाबड़ में ही चल पड़ा।

पिता अब कुछ नही कहते। माँ भी कुछ नही बोलती। फिर भी लगता मानो उसे कहने के लिए उनके पास ढेरों नयी बातें है।

वह उन लोगों से भागने लगा है। खेती के काम-धाम मे ही लगा रहता। काम भी वेशुमार हैं। खरीफ़ का धान अमल होने के बाद लाकर बडे गोदाम मे सहेजकर रखा गया। साथ-साथ खेत मे मूँग बोये गये। उधर आलू के खेत मे पाल ऊँची करनी है, ढावे मे रहँट से पानी पटाना है। इधर गन्ना लगाना तो उधर काटना, गन्ने को अमल करना, गुड़ राँधना, कछार मे सब्जी लगाना है। सब जगह निगाह चाहिए। निगाह कम पडते ही टोकरी-टोकरी बैंगन गायब हो जायेंगे। इसके अलावा नयी बाडी बनाना, जोहड की जमीन पर कुछ घेरा डालने की भी बहुत दिनो से इच्छा थी।

हलवाले है। इसके अलावा बँटाईदार रैयत भी है। रवि अपने मन मुताबिक खेती-बाडी मे हाथ बँटाना पसन्द करता है। वह रहता तो काम करनेवालो को भी अच्छा लगता। उसकी बातों को केवल सुनते ही नही अन्तर मे समा लेते है। इसके अलावा वह मन देखकर ज़रा-ज़रा-सी सुविधा भी कर देता, उन्हें बहुत ख़ुशी होती। कोई कुछ घर ले जायेगा, कोई तनिक छुट्टी लेकर अपना कुछ काम कर आयेगा। वह मना नही करता, इसके अलावा कभी-कभार पावला-धेला भी मिल जाता है माँगे से। काम ढीला नही पड़ता, कभी समय-वेसमय यदि कोई गमछा सिर के नीचे दबा पेड की छाया देख तनिक झपकी लेने लगता, तो कोई दूसरा चेतावनी देता हुआ टोक देता—"छि: !"

रवि उन्हें नयी-नयी बातें बताता। वह बताता कि परिश्रम करने पर कोई किसी का एक दाना नही मार सकता। काम करने पर खाने का अधिकार है। किसान का मान सबसे बडा है। वह सबका जीवन रखता है। स्वयं भी वह जब परिश्रम की मूर्ति बन लोगों के साथ मिल जाता, तो वे उसे अपना मान लेते हैं; उसका ज्ञान उसका उत्साह लगता जैसे उनका अपना है।

उसके रहने का प्रभाव गाँव पर भी पडा है। किस जमाने से पुती पडी थी कीचड में गाँव के किनारे की वह पोखर। जहा अनादिदास को समाधि मिली—उससे कुछ हटकर, वडे वरगद के उस ओर। जन साधारण की पोखर है, अत. उसकी खुदाई किसी का व्यक्तिगत काम नही। किन्तु उस पोखर के बारे में लोगों के बीच अनेक किंवदन्तियाँ है। कहते है, सिद्ध अनादिदास उस पोखर के किनारे जाप किया करते थे। सारे पद्म जल जाने पर भी, कहते है, सीढियों के पास, चाहे एक ही क्यों न हो, पद्म अवश्य खिला मिलता। अनादि गोसाईं की महिमा

के वल से कहते हैं सारा पोखर का पानी दूध में बदल गया था। फिर किसी दिन हलदी का पानी बन गया। उस पोखर का पानी पीने से रोग ठीक हो जाता। और कितनी ही अलौकिक कहानियाँ हैं, किन्तु अब उस पोखर मे पानी नही है।

लोग लगाकर पोखर की खुदाई शुरू की रवि ने, कुछ खड़े देखते रहे। कहते, अच्छा काम है। रवि को स्वय खोदते देख कुछ और लोग भी शामिल हो गये। सोचते, यह भी एक मज़े का काम है। प्राथमिक स्कूल के युवा शिक्षक भी बच्चों को साथ लेकर आ पहुँचे। दो दिन आने के बाद फिर नहीं आये। किन्तु लोगों ने देखा, रवि खाली पोखर ही नही खुदा रहा, जितना कोचड़ निककलता है सारा का सारा अपनी नारियल की बाड़ी में नारियलों के नीचे जमा कर रहा है। लोगों ने कहा, "यह चीज खोजो तो नही मिलेगी, कौन-सा विलायती खाद है जो इसका मुकाबला करेगा? नारियल की जड़ में दो चाहे नीबू मे, फलों से लद जायेगा।" सात दिन तक एक मजूर लगा और स्वयं मेहनत कर कीचड ले जाते देख लोगों मे बतकही भी हुई। वे चेते, लुभाये। बात फैली —खाली पक का ही बल नही, सिद्ध पोखर की भी तो आश्चर्यजनक शक्ति होगी इस पक मे। इसके बाद गाँव के लोग कीचड़ खोद लेने के लिए उमड़ पड़े। शायद पकीले पानी से मछली मारने के लिए भी इतनी भीड़ नही जमती।

महोत्सव करने की तरह अपने आप होने लगा पोखर की खुदाई का काम। मानो दो सौ बरस की नीद क्षण-भर में अपने आप टूट गयी। समवेत शक्ति पर आत्मविश्वास लौट आया। इसके बाद शुरू हो गया—भागवत-घर को नया कर करीने से खडा करने का काम। उसमें भी अपार उत्साह।

काम पर काम। फ़ुरसत ही नहीं मिलती। पिता के साथ बहुत कम भेंट होती है, पर उसमें भी उसे कोई खास उत्साह नही दिखता। वे बात कहते-कहते रुक जाया करते। कभी-कभी उसकी ओर ताकते, मानो नया-नया देख रहे हो।

माँ उलटे और अधिक लाड करती। जतन से बना-पकाकर बैठी बाट जोहती रहती, भूखी ही। आते ही चाव से खिलाती। कहती, "झूठे ही राज-भर का बोझ उठाये फिरता है तू? खाकर मुँह धोना तक सीखा नही और अब तू मेहनत कर कितना काला पड़ गया! अपना तो खयाल रख!"

माँ और कहती, "तुझे किस बात की चिन्ता है, बता तो? खाने बैठे हो पर मन कही और जगह है। मर्द हो, किस लिए परवा करते हो। जो मन में आये वही करो।"

पिता का व्यवहार कभी-कभी रूखा-सा लगता। औरों पर बिगड़ जाते। उस दिन शनिवार था। डाक की पाली का दिन। डाकिया दोपहर बाद चिट्ठी

दे गया। पढ़कर वट महान्ती उठे तो सामने रवि। माँ पर गुस्सा उतारते हुए कहने लगे, "अब बुढ़ापे में रवि मुझे बुद्धि सिखायेगा? हम उल्लू है और वह सयाना? ठीक है, उसकी अक्कल उसके पास ही रहने दो। बेटा जना था ना, लो—" चिट्ठी की चिन्दी-चिन्दी कर माँ पर फेंक दी।

क्या था उसमें?—रवि ने पूछने का साहस नही किया।

सन्देह बढ़ रहा था।

घर के पश्चिम की ओर थोडी दूर में एक बगीचा लगाने की चेष्टा हो रही है। बीच में छोटी पोखरी; बगीचे को सीचने के लिए खोदी गयी थी। काफ़ी मछलियाँ हैं उसमे। पोखर की पाल पर नारियल के पेड लगे है, अभी पोरसा-परोसा ऊँचे हो गये हैं, गोल फुनगियाँ फैली हैं। उसके चारों ओर नाना जाति के कलमी आम, चीकू, अमरूद, दाड़िम, नीबू, कटहल, करौंदा, कमरगा, आँवला आदि कितने पेड़। कोई सिर छूता-सा, तो कोई और अधिक ऊँचा। वैसे ही पोखरी के चारों कोनों मे चार चम्पा के पेड़, सीढियों के पास एक तरफ़ बकुल का झाड़, दूसरी ओर नागेश्वर। रवि के विचारों और कोशिशों से बगीची बढ उठी है। बच्चों के खिलौने ख़रीदने की तरह वह ख़रीदता पौधे। लाकर लगाता। चारों ओर बाड़ है। बाहर रास्ते के किनारे पुआल का ढेर।

उस दिन दोपहर ढल गयी थी। अकेला रवि पेडों के बीच घूम रहा था। देख रहा था।

पोखरी पर धूप गिर रही थी। सरसराती छोटी-छोटी मछलियाँ पानी में खेल रही हैं। असंख्य। जगह-जगह बड़ी मछली उठकर धीरे से गोता लगा जाती है। एक छोटा-सा कछुआ गरदन टेके छपछपाता-सा घूम रहा है पोखरी के चारों ओर। उसका घूमना ख़त्म ही नही होता। पानी मे नारियल की फुन-गियों की छाया झिलमिला रही है।

रास्ते के उधर से आवाज़ और हँसी सुनाई दी। रवि ने देखा, सेवती और उसकी माँ दोनों पुआल का ढेर लगा रही है। मजूर हैं दोनो। बांस पर लटकी हण्डी और उसमें लिपटी अधमरी लता की तरह दिखती है सेवती की माँ।

सेवती की माँ ने ऊँचे जबड़े पर काली हँसी हँसते हुए कहा, "अपने बाबू का ब्याह हो रहा है। अरे सेवती, इत्ते बडे-बड़े काकरा पिटऊ खायेगी, घी की मिठाइयों से भर जायेगा घर, कितना कुछ होगा कोई क्या खायेगा? खाते-खाते पेट फट जायेगा।"

माँ के पास झुककर पुआल उठा रही थी सेवती। अट्ठारह-उन्नीस की होगी। माँ की बात सुन लोहे की पत्ती की तरह उछल पड़ी। हँसते-हँसते, झूमते-झूमते थिर हो गयी। पान का पीक फेंकती बोली, "सच है, माँ?"

"सच नही तो क्या झूठ कह रही हूँ? क्यो, तेरी आँखों को कुछ दिखता भी

है ? अपने छोटे बाबू की उमर ब्याह के लायक नहीं हुई क्या ? बाबू सुनते हो मेरी बात ! जोतसी ने इसके बापू को बताया था कि यह बच्ची मामूली नहीं, यह बड़ी आँखवाली होगी, बड़े आदमी का आसरा पायेगी। बापू तो लाड़-चाव कर भगवान् को प्यारा हुआ, अब इसे ले जाकर कहाँ बिठाऊँ, मेरे तो सिर का दरद है यह !"

सेवती ने कहा, "अरी माँ, देख तो, वहाँ कितने छोटे-से नारियल के पेड़ में भी फूल आ गये ! मैं देख आऊँ ?"

"जा, तुझे मना कौन करे ?" माँ ने कहा, "छोटे बाबू, ये जो सुन्दर बगीची लगायी, यहाँ छोटा-सा बगीची-घर और खड़ा करो, बहुत जँचेगा।" फिर बोली, "देखो तो बाबू ! धोती नहीं, यह अवस्था है। छोकरी को पहनाने के लिए टुकड़ा भी नहीं, दस जगह से टाँके दे चुकी, अब कैसे ढाँपें ? हमें एक-एक साड़ी दिलाना बाबू, वरना क्या पहनकर नयी बहू देखने जायेंगी ?"

अब तक रवि चुप था। अन्दर एक अजीब-सी अनुभूति हो रही थी। अचानक चौंकता-सा बोला, "क्या बक रही हो सेवती की माँ ? किसकी शादी ? मैं तो ब्याह करने से रहा—"

"सच ! ऐसी बात ! ब्याह नहीं करोगे ? हमारे भोज-साड़ी से डर गये ? इसके लिए इतनी बात कहते हो ?"

सेवती हँस पड़ी। रवि को सब मानो बिच्छी की तरह चुभ रहा था, "साड़ी चाहिए, जाओ माँ से कहो, माँग लो, मुझे यह सब कहने से क्या होगा ?" खीझते हुए उसने कहा, "जाओ काम करो, नहीं तो जिधर जाना हो जाओ। मुझे यह सब फ़ालतू बातें कहने से क्या लाभ ?"

"उई माँ, जाती हूँ !" सेवती की माँ ने कहा, "मेरे रहते छोटे बाबू चिढ़ उठते हैं—" वह दूर हट गयी। सेवती मानो कुछ चाहती हो, उस ढग से हिलती-डुलती रही, सिर झुकाये खड़ी रही, ऊपर सिर उठाकर देखा, तब तक रवि बगीचे की ओट में दूर चला जा रहा था। सेवती धीरे-धीरे माँ की ओर चली आयी।

रवि चला गया। दूर-दूर पर लोग हैं। पास में कोई नहीं। चुनचुनाहट-सी हो रही है।

तावीज छूकर मन में हिम्मत भर लेने की तरह उसने छवि का चेहरा याद किया। आशा और विश्वास से मन मजबूत हो गया।

संसार में ये दिन भी नहीं रहेंगे !—रवि सोचने लगा। प्रशान्त-दयार्द्र दृष्टि से चारों ओर देख हिम्मत के साथ चल पड़ा। वीर पुरुष—उसे लग रहा था, जैसे वह कहीं कुछ जय कर आया है !

रवि देख रहा है—भैया की चिट्ठी फाड़कर फेंकनेवाले दिन से पिता में हुए

परिवर्तन को। इन दोनों बातों मे कुछ सम्बन्ध है। पर भाई ने पिता को क्या लिखा था ?

कौतूहल मानो वही भटक जाता। और आगे बढ नही पाता। भाई की बात याद करने पर उसे लगता जैसे जन्म से ही उससे उनका सम्बन्ध कुछ अन्यथा है। उनके साथ सम्बन्ध मात्र इतिहासजनित है। दोनों एक माँ-बाप की सन्तान हैं—जैसे सब परम-पिता परमात्मा की सन्तान हैं, बस वैसे ही। और इतना कि भाई कहने पर कुछ भय, कुछ रोक-टोक, मन कुछ शंकित-सा सहम जाता।

अभाव पूरा करती अपनी कल्पना—वह भाई है!

भौजी! उनका भद्र, अति मधुर, पराया बरताव यह बता देता—तुम दो दिन के लिए आये हो, बस ठीक, घर की बातों में डूबने नही आये, मेहमान बनकर आये हो, वह मेहमान है।

बैठो मेहमान, सब ठीक है तो? कैसे चलता है?

तुम दांत दिखाकर कहोगे—हाँ, चलता है, ठीक ही।

भौजी अनादर नही करती, पर लौटते समय लगता, सब खाली हो गया। रवि खुद से पूछता—कहाँ गये थे? क्या लाये?

बच्चे भी वैसे ही, कितने सुन्दर, अवाक् होकर देखते। शहरी तौर-तरीके-बाल-बच्चे, सारे ढग ठीक, गँवई बच्चों की तरह बिलकुल नही, मानो कोई नया जन्तु हो। और फिर बच्चे दौड़ जाते अपने धन्धे में, सब शहर चले जाते है।

जितनी बार सोचता, लगता मानो कुछ अनकही बातें रह गयी हैं—ये तुम्हारे काका है बच्चो, घर बन्धमूल में है, नमस्कार करो! अनकही बात व्यवहार और परिस्थिति मे अपना रूप प्रकट कर मिल जाती। और रवि गाँव लौट आता।

बट महान्ती।

कानों से टकराती हैं पाटेली गाँव की हो-हल्ला की बातें, और उसमें लिपटा-उलझा एक नाम—रवि!

पहले-पहल जिस दिन सुना, उन्हे लगा, उनका सब कुछ ढह गया, वे बेसहारा हो गये है। एक प्रतिहिंसा-सी मन मे भभक उठी—पाटेली गाँव जाये भाड़ मे। लगा, मानो रवि के भेस मे कोई खुफिया दुश्मन हो जो बट महान्ती के खानदानी नाम को अपमानित करने की जुर्रत कर रहा है। वही नाम, वही अहम्। उसे ही लोगों की आँखों के आगे गढकर ऊँचा करने में एक जनम लग

गया। तब लगा जैसे उस हो-हल्ले की आँच धीमी पड गयी है और वे रवि और अपने आप को अलग कर देख नही सके, जैसे वह आवाज़ उन्ही के नाम से उठायी गयी थी।

मन ने कहा—असम्भव है यह सब।

आज देह पर बुढ़ापा छा रहा है, परमार्थ घिर रहा है, रुचि में रूढ़ि और शालीनता। अमरकोष और व्याकरण पर चर्चा करने को मन करता है। पढ़ने मे वही रुचता है जिसका अर्थ सहज ही समझ में नही आये। पसीना निकल आता, दांत भिंच जाते। अग-प्रत्यग हलके नही लगते, हाथ थपथपा देने से लगता जैसे किसी ने दससेरा धर दिया हो। बिस्तर पर पड़ने से भी लगता मानो कोई एक काम पूरा हो गया, बैल खोलकर किसी बोझाई की हुई गाडी को झुकाकर रखा गया। आज सांस छोडने से धूल उडती, गले के धड़धड़ाने पर केन्देरा बजता। देह उठना भी नही चाहती।

अतः मन ने कहा—यह असम्भव है!

किन्तु देहातीत जो चैतन्य है जो ठोस तराज़ू के माप पर नही आता, उसमें बिखरी-टूटी स्वप्न की अनुभूतियाँ तैरती चली जाती हैं, वे सब स्त्री की है। सब पहेली-सी लगती...आगे कौन, पीछे कौन? बुढापे के लिए जो क्षोभ है वह भी झूठा, खाली ऐहिक अनुशोचना। झूठी माया है। वट महान्ती इसी तरह परमार्थ की बातें सोचा करते।

शास्त्र-चर्चा के दौरान कभी अगर ज़रूरत हो गयी उधार दिये रुपयों के लिए कसकर ब्याज वसूलने की या कड़ा-कड़ी हिसाब लगा खेत के पुआल या ताड़ के पत्ते या अमराई के झरे पत्ते दूसरों से वसूल करने की, तो उसे गृह-धर्म कहकर चला लेंगे। आदमी कृष्ण नाम जपे तो क्या भात खाने की थाली के पास नहीं बैठे? तब जो करो, मन ही मन 'गोविंदाय नमस्तु' कह दो, बस सब पुण्य, सब पवित्र है!

पर कुछ बातें हैं जिनके बारे मे वे मन ही मन गोविन्द से आँखमिचौनी खेलते है। क्योकि वे बातें सब गोविन्द को समर्पित करने योग्य नहीं होती। वह तो घट-धर्म ठहरा, देह-धर्म। इस देह को किसने गढ़ा है? उस गोविन्द ने ही तो? उस घट-धर्म मे अतीत के वे चित्र रक्त मे फैल जाते।

कुछ नही तो भी याद मे ऊष्मा पैदा हो आती है, उसे चाहे गरम न कहे। देह मे वह ऊष्मा भरना ही अच्छा लगता।

वे सब एकदम गोपनीय बातें ठहरी—

एक-एक नाम, नाम के साथ एक-एक कोई ऐन्द्रिय अनुभूति और एक छाया, एक छिलका।

ढेरों अँधेरा एक तीखी मल्लिका की सुगन्ध बिखेरता, पहुँच जाता बाड़ी के

किसी कोने में। उस ओर टूटी बाड़, फिर उधर बाड़ी, उधर किसी के घर की बाड़ी के किवाड़। सब दिखता, अनुमान से कह दो, बाड़ी के किवाड़ बन्द हैं, इधर सांकल चढ़ी है। रात घनी, अँधेरी, तेज हवा में सांय-सांय करती रात। फिर भी इस दक्खिनी हवा के नीचे-नीचे कितनी उचाट उमस है, देह पसीना-पसीना हो उठती है, छाती पर पड़ रही है चिवड़ा कूटने की चोट। एक लय से कोने में घने जमे अन्धकार की ओर। अबकी लाठी के सिरे पर चूना पुती हाण्डी सिर उठायेगी क्या? थर्रा रही है सफेद हण्डिया और उसके साथ पहचानी-सी झनझनाहट। और प्रतीक्षा नहीं। पास जाते-जाते मानो जूही की तीखी सुगन्ध घनी होकर घेर रही है चारों ओर से। अँधेरे में छलांग लगाकर चेतना लुप्त। एक नया स्वप्न, मानो अपने आप एक सनसनाता तूफान खाली वेग और बल, और फिर अवसर दिये बिना लगातार चमकती बिजली, बाद मे सारी इन्द्रियों को स्तब्ध-विस्मित कर देती तेज गड़गड़ाहट के साथ अचानक आँख खुलने से पहले ही मूसलाधार वर्षा, तूफान और नहीं है। विराट् अवसाद में मेघों को उलीचकर आकाश ने आँखें मीच ली हैं। अँधेरा, खाली अँधेरा।

समय की चेतना लौट आयी है। मेघों की बौछार ख़तम हो चुकी है। भीगे, भीगे, भीगे, चारों ओर भीगा-गीला। भीगी माटी का सौरभ। उसमे हलदी की महक, चोया और चन्दन की। एकदम निभृत और निविड़, अत्यन्त सूक्ष्म लग रही है, क्रमशः लौटती आ रही है जुही की महक; जाते समय कितनी तीखी लग रही है।

मल्ली की महक याद करा देती है। घटनाएँ धुंधली लगती हैं और अधिक अस्पष्ट हो अँधेरे मे बिखर जाती है और उनके नाम तक विस्मृत हो जाते हैं।

सच, एक दिन था, जब वह भी उज्ज्वल था। अब और नहीं है।

जहां इतनी घनिष्ठता है...खून के साथ खून का मेल है, मन के साथ मन का लगाव है, वहां क्यों रूप की सारी मूर्तियों को बनाकर, जी भरकर देखने के लिए सहेजकर रखा नहीं जा सकता? व्यस्त होकर इधर-उधर ढूंढने से अंगों के टुकड़े हाथ लगते हैं, और उन्ही टुकड़ों को देख समूचे मनुष्य को देखने की तरह लगता है। तीज के चांद को देखने से जैसे उसके साथ सटी हुई, अँधेरे आकाश मे सहमी गोल खाली जगह आंखों में नहीं पड़ती सब मिलकर मानो पूर्ण चन्द्र के अस्तित्व को जताते हैं...*अब सिर्फ अंग नहीं हैं—समूचा आदमी है...सिर्फ़* लिपे-उभरे का अन्तर है।

इसलिए सब याद आ रहे हैं।

एक प्रौढ विचार से भी अपने को माफ किया जा सकता है...एक चुपचाप बांकी मुसकान से—और मन ही मन कहा जा सकता है...कुंआरा समय बेलगाम होता है...ख़ून गरम और मन मे अज्ञानता होती है...ईर्ष्या न जागे तो सबको

माफ़ किया जाता है ।

रवि को भी ।

किन्तु क्षमा का विचार उठता केवल बात को जरा दूर से देखने पर; जबतक कर्तव्य पूरा करने का प्रश्न नही उठता तभी तक; स्वय काम करने का दायित्व आने पर एक ही फूंक में मानो सारी कोमल स्मृतियों से बुनी भावनाओं की दुनिया उड़ जाती, फिर नयी दुनिया में नया रूप । रवि उनसे शकित-सा रहता। सोचता, उमर बढ़ने पर आदमी ऐसे ही काठ-सा हो जाया करता है, दया-धरम की बाते केवल जबान पर होती है, रामनामी ऊपर-ऊपर, अन्दर नही ।

रवि वार्द्धक्य को दांत कटकटाती, हाड़ कँपाती जाड़े की रात की तरह देखता । सोचता, वह बूढा नही होगा, वरन् उससे पहले ही कूच कर देगा, यह जीवित मरण उसे नही चाहिए, लोगो से भयभीत थरथर कांपती हुई मानवता उसे नही चाहिए । बस जरा सा सादा स्नेह, सरल विश्वास मालूली-सा, आदमी को आदमी समझें, लोग भी उसे आदमी के रूप मे ही स्वीकारें, और अधिक क्या चाहिए ?

फिर भी काया कांप-कांपकर उसी जाड़े की रात को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती । वही पिता, वही समाज, सनातन, अचल चलन । वे लोग उसका गला घोंट देंगे, ईर्ष्या या क्रोध मे नहीं, केवल स्नेह से । पवित्र स्नेह से उसकी छाती पर पत्थर लाद हथौड़ा पीटेंगे । उपाय दीखता नही । यदि इस जरा-से बोझ को फेंक देने के लिए अपने अन्दर आह्वान सुनने लगता तो और भी डर पैदा हो जाता । स्नेह के मकडी-जाले को तलवार की वार से झटके से काट डालना सचमुच कितना असम्भव है ! साहस खो जाता ।

तो भी अपने भीतर से बाहर फुहारे की तरह चारो ओर छिड़क पड़ता—आशा का झरना । बाहर उसी फुहारे से इन्द्रधनुप बनता, छवि का चेहरा खिल जाता ।

उसी दिन छाया ढल आयी थी । रवि जल्दबाजी मे निकल रहा था अहीरों की वस्ती की ओर जाने के लिए । अहीरों की वस्ती की उन्नति की बात चल रही थी । बस्ती को कम से कम साफ़ तो रखना पड़ेगा ताकि ठीक दरवाज़े के आगे ही गोवर की गन्दगी न हो, बल्कि एक तरफ कुछ हटाकर खाद के लिए उनकी कुरी की जा सकेगी । सबकी राय लेकर इकट्ठा कर यही से शुरुआत की जा सकती है, फिर और कई बातें हैं, मिलकर सब सुख-सुविधा से चल सकें—वह देख पा रहा है । केवल बस्तियों मे ही नही, सब जगह कुछ न कुछ उन्नति करने के लिए काम पड़ा है ।

वाहर निकलते समय देखा, पिता की कोठरी की तरफ़ से कोई अपरिचित बढ़ा आ रहा है, लम्बा आदमी, सफ़ेद सिर, माथे पर सफ़ेद तिलक, सफ़ेद

बरौनियाँ, चौड़े-चौड़े कानों पर सफ़ेद-भूरे रोंये, सफेद जगल-सी भरी छाती। सफ़ेद धोती, चिकने काले कन्धे से झूल रही है सफ़ेद चादर, काँख मे दबाये है लाल कपडे का बसना। चेहरे और भगिमा में विशिष्टता है। दूर ही दूर से लोग उनकी ओर देख रहे है। पलकों को टिमटिमाते हुए बूढे ने रवि की ओर देख नमस्कार किया। अपना परिचय देते हुए कहने लगा, "जी मेरा नाम लोकनाथ नायक। हमारा घर है पाटेली गाँव मे, वहाँ के चौधरी घराने का जोतपी हूँ। चौधरीजी ने एक काम से भेजा था, सो आया था।"

रवि के मुँह से निकला—"ओह !"

लोकनाथ नायक कहने लगे, "आप पाटेली गाँव पधारे थे, सुना था। चौधरियों की हवेली अब टूट गयी है। क्या करें, कालस्य कुटिला गति.। नही तो एक दिन था जब वह घर...इस इलाक़े मे कहाँ था वैसा घर ! इतने बडे खानदानी, साक्षात् राजा का ही घर समझो। चाहे सब चला जाये, पर उस घर मे आज भी मानवता है। सिन्धु चौधरी साक्षात् साधु पुरुष है ! कितने महान्, कितने उदार, देखते ही श्रद्धा हो जायेगी। आपकी तरह ही ऊँचे पढे-लिखे उन्नत-उदार हृदयवाले। सत्पुरुष ही उन्हें पहचानेंगे, नही तो कौन उन्हे पहचनेगा ? आपके गुणों को कौन नही जनता ? सब पढाई करते है नौकरी के लिए, आप विद्वान् होकर भी नौकरी के बदले देश-सेवा करेंगे। हाँ, भगवान् आप लोगों को कुशल-मंगल से रखें, आप लोगों का सुख-आनन्द देख, यश सुनते-सुनते यह जीव चला जाये, आपको भगवान् दीर्घायु करें।" बूढ़े ने हाथ उठाकर अशीर्वाद दिया।

मानो कोष्ठक के बीच रह गयी है कई अनकही बातें, रवि ने उन्हे पढ लिया हो। वह गम्भीर हो सिर झुकाये खड़ा रहा, लाज से चेहरा लाल हो रहा था। लगा जैसे उसके कानों में कोई नयी बात पडी है।

उसने पूछा, "पिता कहाँ है ?"

रवि ने हाथ दिखाकर कोठरी की ओर सकेत कर दिया। कहा, "जाइए, वही भेंट हो जायेगी।"

रवि तेजी से चला गया। किन्तु अहीर बस्ती की ओर जा न सका। मन घूमने लगा उस आदमी के पीछे-पीछे। सोचने लगा,और तनिक ठहरकर चला जाये तो ठीक रहेगा। घर के पास ही काम हो रहा है, देखरेख के लिए जाने की इच्छा हो गयी। फिर मन किया, थोड़ा पानी ही पीया जाये। घर के अन्दर गया। उसके सूखे चेहरे को देखकर माँ ने कहा, "खा-पीकर जरा विश्राम नही किया रे जब देखो बस काम-काम ! लिखाई-पढाई नही तो घूमता-फिरता बस। काम...*क्या इसी के लिए तू घर पर रह रहा है ?*"

"बैठकबाजी करनेवालों का भी एक गुट है, साआन्ताणी, ये अपने बाबू वैसों

मे नही है।" बाड़ी की ओर से सेवती की माँ ने आवाज दी।

"तेरी ही आँखों को मेरा बेटा बड़ा कामकाजवाला दिखता है," रवि की माँ ने कहा, "जा, तू अपना काम कर। बातून मत बन। बेटे ने खाकर मुँह धोना तक सीखा नही—यह काम करेगा ! आदमी होगा, घर करेगा, क्या बात कही तूने...जा-जा, काम कर।"

रवि बाड़ी की ओर से निकल गया। टोकरी लिये आड़े खड़ी है सेवती की माँ। पीछे पल्लू मुँह में खोसे सिमटी हुई सेवती। नीचे की बाड़ी में गड्ढे भरे जा रहे है, समान किया जा रहा है, कुछ दूर जगा बाउरी पुरानी खाद की कुरी हटाकर माटी निकाल रहा है, माँ-बेटी लाकर गड्ढों में डाल रही है।

सेवती की माँ ने कहा, "बाबू आये तभी न इतने काम लगा दिये, वतना कौन यहाँ इतने काम कराता था।"

रवि ने कहा, "अच्छी तरह मन लगाकर काम कर।"

सेवती की माँ ने कहा, "नामक खाया है, जीव बचाते हो बाबू, काम क्यो नही करेगी ?' फिर स्वर झुकाकर कहा, "बाबू, धोती माँगी थी, हुक्म किया ?"

"जाकर माँ से क्यों नही कहती ?"

"हमारे कहे क्या होगा बाबू ? आप ही दया करो, तब न होगा।" फिर बात घुमाकर कहने लगी, "बाबू, जिस बस्ती मे आपके पैर पड़ते हैं, वही हँस उठती है। लोगों को समझा-बुझाकर कितने झोंपड़े ठीक करवाये, खुले घरो पर छान बँधवा दी, हमरी बस्ती मे भी आपके कभी पैर पड़ते, हमारी टूटी झोंपड़ी देखने।"

"मै जाकर क्या करूँगा, तुम कहती क्यो नही लोगों मे ?"

"हमारी बात कौन सुनेगा ? सब तो मुलिया-मजूरे ठहरे ! काम रोककर कौन आयेगा हमारी झोपड़ी खड़ी करने ?"

"अच्छा-अच्छा, देखेंगे कभी, जा काम कर।"

सेवती की माँ जगुआ के पास माटी उठाने चली गयी। सेवती अलसायी-अलसायी-सी पैरों से मिट्टी फैला रही है। अचानक उसने तिरछे देखा और हँस पड़ी, जाते-जाते रवि का ध्यान उधर चला गया और उसके मन मे भर गयी अशान्त अपविनता और फिर देह क्रोध से भभक उठा।

तेजी से जाते-जाते मानो सामने कोई काली छाया चमककर फिर भसम हो गयी हो। चली गयी सेवती और सेवती की माँ, और उनकी असहायता के प्रति उसकी सहानुभूति, मन के किवाड बन्द हो गये।

काम देखा, और फिर एकदम सीधा बाहर। कोठरी के दरवाजे के पास बही बूढ़ा वापस जाने के लिए मुड रहा है। पीछे से सुनाई पड रही है पिता की गरज-तरज। बूढ़ा ऊँची आवाज में जवाब दे रहा है उसके स्वर में अपमानित

व्यक्ति का दुःख झलक जाता है। बातों से जैसे लौ उठ रही है। रवि रुक गया।

बूढ़ा कह रहा है, "वे भी कोई पैरों मे गिरते नही फिर रहे। वैसे बेटा-बेटी होने पर यह सब करने की आवश्यकता पडती ही है, इसलिए भेजा था। आपके द्वार पर आया। ठीक है। मैं यही कह दूंगा, मेरा क्या जाता है? पर देखिए, बात रह जाती है जुगों के लिए। बस।"

"अच्छा, आप जाओ भले आदमी, विदा होओ ! बात जुग-जुग के लिए रखनी और करनी हो, तो वहाँ सामने के दरवाज़े से आना, बाडी के रास्ते से घुसने की चेष्टा न करना !"

"ठीक है, ठीक है, कहूँगा-कहूँगा। सामने का रास्ता, पिछवाड़े का रास्ता—ये आप आज उन्हे समझायेंगे? सामने के रास्ते पर भातों का ढेर लगाते-लगाते तो वे फक्कड़ हो गये और जिन्होने चुगा, पाटेली बाँध बाड़ी के रास्ते से घर भरा, वे आज बन गये बड़े आदमी ! कितने ही बड़े लोग देखे है, हुज़ूर ! आपकी दया से उमर रही तो और भी देखेंगे।"

"अच्छा, अच्छा, रहने दें, रहने दें, जोतसी जी, हमारी सात पुश्त का उद्धार हो जाता। नही हुआ, न सही।"

रवि ने दूर से देखा, पिता घर से निकलकर खड़ाऊँ ठक-ठक करते एकदम सीधे चले गये मन्दिर की ओर। और उनके बिलकुल विपरीत दिशा की ओर चला गया वह बूढ़ा। लोग देखते रहे, किसी ओर नजर नही फेरी उसने।

रवि के मन मे मानो अँधेरा उतर आया। अँधेरे में भाँति-भाँति के टूटे-फूटे शब्द और हलचल। धीरे-धीरे मानो कोई तूफ़ान घिरा आ रहा है। अपने को सँभालने की चेष्टा करते-करते वह अपने कार्यक्रम के अनुसार अहीर-बस्ती की तरफ चल पडा।

साफ़ दिख रही है—दूर खड़ी है छवि ! वहाँ अंधेरा नही, प्रकाश है !

काम पूरा हुआ, साँझ ढल गयी, कितनी बातें उसने कही, कितनी सुनी—समस्या और उद्यम की अटूट कहानी।

किन्तु मन नही माना। हृदय में ख़ाली-ख़ाली-सा लगा रहा, मन में वैसा ही अँधेरा। सोचा, वह ठाकुरजी के दर्शनों को जायेगा, उसे शान्ति चाहिए।

पहली पहर का अँधेरा। सिहराती हुई मन्द हवा। रवि घेरे के दरवाज़े के पास रुक गया। आडे बकुल का तना है, सारे दरवाज़े को पार कर दृष्टि अन्दर चली जाती है। सामने काले पत्थर की गोपालजी की मूर्ति, जीवन के देवता, हाथ

मे वंशी धारण किये हैं। अँधेरे में छिप, प्रकाश की ओर देख रहा है रवि—विह्वल होकर। अन्दर इतनी दीपावली के प्रकाश में झलमलाता है वही प्रेम का देवता, नीली धूप के धुएँ में वे तैर रहे हैं। अभी स्पष्ट, तो दूसरे क्षण अस्पष्ट। आरती हो रही है, घण्टा, ढोल बज रहा है। लोग घेरे हैं, चरणामृत ले-लेकर लौट रहे है। रवि मुग्ध भाव से देखता रहा। सोचने लगा, कितने ही इस दृश्य को देखते-देखते खो गये !

महाकाल के समुद्र मे अपनी चेतना खोकर वह मन का उद्वेग भूल गया। काफ़ी समय बीत गया। गहरी सांस छोड़ वह कूल तक लौट आया। फिर अपनी चेतना में लौटा—वह है, उसी का नाम व्यक्ति है, चलता नाम रवि। वह स्वय।

सचेत होकर सोचने लगा—सामने यह चिर आनन्द का रूपक; यौवन, जीवन और कल्याण की वंशी की वाणी मे अभय और मुक्ति का सन्देश है।

पर आदमी भावनाओं में आगे बढकर भी कार्य के क्षेत्र में पीछे की ओर हटा है—असत् अविचार, निष्ठुरता और स्वार्थ में लोट-पोट होता कीचड में पड़ा देख रहा है आकाश के तारो को। अपवित्र घट के कलकित हाथों से देवता पर फूल चढ़ा रहा है, लूट और छलावे के धन से वहाँ भर रहा है अलकार; मन्दिर खड़े कर रहा है, पोखरे खुदवा रहा है। वंशी के स्वप्न के बहाने पशुगर्जन सुन रास्ते पर चला जा रहा है, आदर्श का भेस पहनकर मोह और स्वार्थ का समाज गढ रहा है। सब जगह ब्रह्म, सब एक हैं—चीखते हुए भी घर-ससार करते आये हैं, ठगा है, लूटा है, भेद, ईर्ष्या, हिंसा का ईंधन जुटाया है। भद्रता, सामाजिक कर्तव्य आदि कितने ही नाम देकर अपने चारो ओर दीवारें खडी की हैं। इस चलन के अनुसार चलने से जीवन एक विनय से भरी सीधी पगडण्डी है। वह भी होगा भद्र गृहस्थ, शान्त, सरल और सुरक्षित।

अँधेरे मे रुक-रुककर झिलमिलाती ठाकुरजी की मूर्ति की ओर देखकर रवि सोचने लगा—वह देखो, वह अबाध्य है, दुर्विनीत और विप्लवी है।

जितनी बार जन-समाज चैन से ऊँघने लगा है, बन्धन की सांकल को आभूषण मान लिया गया है, स्वार्थ और सुविधा का आश्रय लेकर निरापद रहने के लिए सांकल में बांध-बांधकर समाज गढ़ा गया है। तभी बजी है वह वंशी ! मोह टूटा है, सस्कार छिन्न-भिन्न हुआ है, गति-विचित्रता और मुक्ति का रास्ता खुलकर विकास हुआ है।

आदमी जी सका है वह अबाध्य बन सका इसीलिए।

मन ही मन ठाकुरजी के साथ उसकी बात पूरी हो गयी। वह आशीर्वाद पा चुका था। लम्बा प्रणाम कर वह अपनी चेतना मे तैरता-तैरता लौट गया।

लम्बा नारियल का पेड़ मुड़कर खड़ा है डीह को ढाँपे। उसकी उमर पूरी हो आयी। बिलकुल बूढे आदमी की तरह। सारी देह पर कितने ही धूप से जलने के और पानी के दाग, जीवन-भर का उसका अवदान केवल पथराये डाभ है। बीच में ही सूखकर झड पड़ते, कभी अगर फलते भी तो होते भूत खाये।

फिर भी उसका अपना प्रयोजन पूरा नही हुआ। वह जिन्दा है। उसे दृष्टि मे रखकर कोई भी बात सोचे, उसकी भावना की पृष्ठभूमि में बस एक ही रूप रह जाता है।

बड़े-बड़े काले भौरे उसकी देह में खोह बनाकर रह चुके है। कितने कीडे है, दीमक, साँप; और देखते ही देखते माघ जाकर फागुन घुस आया, बया घोंसला कर बैठा है। दक्खिनी हवा में बया का घोंसला काँप उठता है, बार-बार, पर इससे बया का क्या बिगड़ता है, हवा में घोंसला झूमता रहे!

धूप ढलने की बेला। उसी नारियल की ओर मुंह किये, पाटेली गाँव मे छवि अवाक्-सी कुछ घडी खड़ी रहती, अपने आप गहरी साँस निकल जाती। वह जान-बूझकर नारियल की बात नही सोचती, किन्तु वहाँ छाया ढलते समय वैसे खड़े होने पर पुरानी बात मानो लौट आती है। लौटकर फिर चली जाती, खो जाती।

दूर से गुरिया की माँ उसकी यह अवस्था देखती। छवि का सूखा-मुरझाया चेहरा देख, उसकी तेज साँस का अनुमान कर लेती। धीरे-धीरे मन मे कहती, "लो मरो, जवान लडकी के लिए भगवान् ने इतना सारा झझट रखा है। लड़की तो गोखर साँप होती है, उसकी साँस ने जिसे छुआ, वह क्या बचेगा? धरम क्या नहीं रहा?"

छवि की दृष्टि के आगे तैर जाता—गौरैयों का हँसना, हिलने-डुलने और लोट-पोट होते खीचा-तानी करते जाना, चोंच में तिनका दबाये घोंसला बना अण्डे देने के लिए कौवे का उड जाना, आकाश-भर में लगी है चीलों की पैंतरेबाजी। एक के पीछे दूसरी दौड़ रही है।

ऐसे ही उस दिन भी यही समय था। यही दिन ढले की धूप। रवि आया था। और फिर नही आया। उस दिन से आज के बीच कितनी बार यही समय बीत गया है। तब से आज तक कितना परिवर्तन हुआ। कछार में फूल खिले, पौधों मे अब तरबूज लोट रहे है। धान खलिहान मे सहेजकर रखने के दिन है। हवा की ओर छाज में धान उठाकर हवा में छिलके उड़ाना—यह सारे साधारण दृश्य है। धान चुगने के लिए समूह के समूह कबूतर गाँव में उड़ आते है।

शिवरात्रि पास आ गयी। छवि भी जायेगी मेला देखने। यह है दोल-पूनम मेला, पालकी-मेला।

•

रात-रात-भर खलिहान में गाने की गूंज, धान उसनते-उसनते शरीर में गरमी। चिवड़ा कूटने के शब्द के साथ लम्बी रात बीत जाती है, दिन की शुरु-आत हो जाती है।

शीत जाने-जाने को है। केवल भोर में ही ठण्ड कुछ अधिक रहती है। बगीचे में आम, चने जितने थे, इतने बड़े हो आये। झाड़ने पर घर-घर में अचार-खटाई। अबकी मूली का काजी पानी।

तब से आज तक इतनी नयी बातें, इतना परिवर्तन!

बांके नारियल पर सुनहली धूप मानो छलांग मारती ऊपर ही ऊपर चढ़ती चली जाती है, निश्चिह्न होने तक, नीचे गाछ की छाया और भी लम्बी हो जाती। उसके जीवन में नयी कहानी न बन पायी।

अचानक मानो उसका अत्यन्त सनेही अपना पुराना गांव बाढ़ के पानी की तरह फेनिल हो उठा है। अत्यन्त हिंस्र है उसकी चाल, उसका वेग अस्थिर और उत्कट है, किसी को कहीं से खींचकर कहीं पटकता है।

समाज विप्लव हो गया है। छोड़कर जाने का कोई उपाय ही नहीं। रहने से शान्ति नहीं, मुक्ति नहीं।

उस दिन दोपहर बाद, घर के पिछवाड़े में किनारे पर दो दल हुए और फिर मारपीट-फ़ौजदारी के पूर्ण लक्षण दिखे। कोई जब गरजता—"आ देखें क्या करेगा?" और पांयचे टांग, आस्तीन चढ़ाकर तैयार होने लगता तो अपने दल के लोग "हां-हां" कर थाम लेते। थमे आदमी का वीरत्व जैसे उबलने लगता और वह पुनः गुर्राता "मुझे छोड़ दो, मुझे छोड़ दो।" छवि की मां थर्रा उठी थी। सचमुच आशंका घिर आयी थी—घर का यह टुकड़ा रहेगा तो? गुरु आकर कह गया था—"मार-पीट के लिए छान की बल्लियां खींच रहे हैं लोग।"

"हैं, ऐ, गुरु की मां, क्या करें? क्या होगा?"

"फ़ालतू डर रही हो काकी!" बल्ली की तरह सूखी गुरु की मां ने सान्त्वना दी—"भूंकता कूकर काटता नहीं।"

"नहीं रे, तू क्या कहती है? घड़ी-घड़ी में आग की तरह यह कलह सुलग रहा है। देखती हो, सिर में पित्त उठा है, पागल कुत्ते हैं, आदमी नहीं। किस जुग की कौन-कौन-सी बातें उलीची जा रही हैं, देखो तो!"

किनारे पर से कोई चिल्लाया, "कहां गये सिन्धु चौधरी, बाहर तो बहुत बढ़-

बढ़कर बोलते थे—ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, और सिपाही देख सो पड़ेंगे ! निकल आ रे बीर पुरुष ! निकलते क्यों नही, लुगाई के घाघरे से बाहर ?"

फिर दोनों दलों के बीच लड़ाई-झगडे की हो-हा।

बातें छवि की माँ की छाती में छुरी की तरह चुभ गयी, "अरे ओ गुरु की माँ, मुझे थाम तो !"

छवि ने थरथराते पूछा, "क्या हुआ माँ ?"

गुरु की माँ ने कहा, "तुम इन मदकचियों की बातें क्यों सुनती हो काकी ! हमने किसके मुंह में आग लगायी है जो कोई हमारा कुछ करेगा ? चुप-चाप बैठो।"

छवि की माँ हाँफती-काँपती चुप हुई।

घर पर सिन्धु न थे। बाहर से आकर जैसे ही उन्होंने कहा, "लड़-झगड़कर मरेंगे ये लोग, जाऊँ देख आऊँ"—वैसे ही उनका एक हाथ छवि की माँ ने पकडा और दूसरे हाथ को पकड़े छवि लटक-सी गयी और कहा, "नही, नही, तुम उस जगह न जाना, मरखहे पागल हो गये है।"

"मरखहे !" सिन्धु ने कहा, "कौन हैं मरखहे ? गाँव के ये क्षर्पतिया, गन्धिया, शुकुटी, हाडिया, ये फिर मारनेवाले कब से हुए ? ठहर, मैं आया।"

"तुम्हे मेरी सौगन्ध, तुम गये तो मैं सिर पीट-पीटकर मर जाऊँगी !" छवि की माँ ने कहा, "मेरी इतनी-सी बात मान लो, तुम न जाओ !"

कुछ देर में सभी योद्धा गाली-गलौज करते दो दलों में बँटकर चले गये। आवाज दूर होती गयी। छवि की माँ अचानक आवली-बावली हो उठी और एक स्वर में गालियाँ बकने लगी, "सब मर जायें। हे भगवान्, तुरई फूल की तरह साँझ को खिलें तो सुबह तक न रहें ये। हे भगवान् !"

सिन्धु बैठे तम्बाकू पीस रहे थे—"छि: छि:, यह क्या कह रही हो ?"

गुरु की माँ समझाने लगी। सब चुप हो गये।

छवि की माँ ने कहा, "माँ, ये क्या हो रहा है, इस गाँव के लोगो को ? ठीक जैसे 'सात भाइया बड़ा बन्दर'। पुलिस में कहकर इन सबों को ठीक क्यों नही करा देते, गाँव का चौकीदार क्या सो रहा है ?"

"अपनी पुलिस अपनी बनकर रहे, तब न ससार चलता है, फिर गाँव में कही चोरी-डकैती हो—तभी तो पुलिस बुलायी जाती है। सारा देश यदि इस तरह हो-हो कर उठे, तो कोई क्या करेगा ?"

एक बार झगड़ा शुरू हो गया तो सारा गाँव टुकड़े-टुकड़े होकर छिन्न-भिन्न !

गया। चेहरे पर हलदी-तेल का लेप अचानक पुंछ गया है, और नीचे साफ़-साफ़ नज़र आ रहे हैं—युगों की दरार और गड्ढे, उमर की लकीरें, पुराने रोग के चिह्न !

उस दिन लोका नायक के दल और किणेई ओझा के दल के बीच मरने-मारने के लिए भाला बाँधकर आमने-सामने खड़े होने के बाद कई बार दोनों दलों में इसी तरह की मुठभेड़ हो चुकी है, ठीक रामलीला के अभिनय जैसी। उस दिन के बाद कितने नये-नये कारण निकल आये। मूल कारण जैसे कहीं दब गया।

सिन्धु चौधरी की चटशाला टूट गयी। किन्तु सिन्धु चौधरी को गाँव से भगाना सम्भव नही हो सका। दोनों दलों के झगड़े में सिन्धु चौधरी रह गये कहीं एक ओर। झगड़े के समय नाम चौधरियों का आता। वैसे वे नितान्त निरीह हैं। न जीभ, न बल। लेंद-फंद के लिए बढ़-चढ़कर गाली-गलौज करने या चिढ़ाने, ऊँच-नीच करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं वे। विपक्षवाले पहले उन्हें मानते थे। अब और नही मानते। प्रणाम नही करते, बात-चीत नही करते। अर्पति प्रधान ने यह बात मागुणी बेहरा को समझा दी थी।

"माखी मारे हाथ गन्दा होय। उसका क्या जाता है ?...पहनता है फटा-चिथड़ा, खाता है बासी पखाल-भात, नही तो मूड़ी, नहीं तो कुल्थी का सत्तू। बाहर दिखावे-भर को जो नाम की इज्जत थी कि हाँ भाई, फ़लाँ घराना है, या अमुक परिवार है, वह भी अब उड़ गयी। बात कहने से तो उत्तर नही देगा।"

पास-पड़ोस मे अपने-पराये सुख-दुख में सभी साथ रहते थे। सुबह उठते ही इसके चूल्हे से वह, उसके चूल्हे से यह, आग माँग लाते। लूण, या पान के पत्ते न रहे तो माँग लाते। कभी चौलाई के चार पौधे उखाड़ लाते, कभी सहजन की फली उतरी तो दो पड़ोसी को दे आ। बहू के घर से सौगात आयी है—पहले बस्ती मे बाँटो। और नित साग-तरकारी का लेन-देन। मिठाई-विठाई की भेजा-भेजी तो चलती ही थी। इतने सूत्रों से गाँव का आदमी आपस में गुँथा-गुँथा था। जाति वरण को पीछे छोड़ अत्यन्त अपनापन बरतते हुए बोताते-बतियाते ! काका-दादा, बुआ, काकी, मौसी, मामूँ—!

किन्तु हठात् दिखाई पड़ता है—खेत से या दुकान से कोई लौटता है तो चेहरा हाण्डी की तरह; घर पहुँचते ही पैर पटकता, हाथ कही तो पैर कही, मुँह से कड़कती बोली। अचानक उसे पास-पड़ोस गन्धाता लग रहा है। उस घर की ओर आँख उठती है तो लगता कोई काँटा चुभ गया; स्त्री को बुलाकर उपदेश देता—"सुनो तो, देखो ख़बरदार, किसी ने उनके घर मे पाँव भी रखा तो, उसे अपने घर मे क़दम भी न रखने दिया जायेगा।" बच्चों को कठोर निर्देश—"ओ धूलिया ! ओ साबी ! सदा जाकर तुम लोग उनकी बस्ती में खेलते हो—उनके बच्चों के साथ।

अब आगे कभी देखा तो एक-एक का मुँह तोड़ दूँगा, और देखो, उनके घर की विल्ली अपने यहाँ आती है, हाण्डी में मुँह लगा देती है, लोग अपने-अपने जानवर को सँभालें। वह बिल्ली इधर आये कि उसकी टाँग तोड दो। साबी उस बिल्ली को सदा वगल मे दबाये रहती है, फिर कभी देखा तो तेरी टाँग तोड़ दूँगा।"

और फल पकता जा रहा है। कलह के लिए रोज नये-नये कारणो के बीज पैदा हो रहे हैं। गोविन्द ओझा को मानो धर्मदण्ड मिल जाता है। रातों-रात वाडी का एक हिस्सा टूटकर अपने-आप निश्चिह्न। अब किसी की छान टूटकर किसी का धान उसना जाता है तो किसी का धान का ढेर दूसरे किसी की गायों का कलेवा बन जाता है।

और कुछ नही तो कछार मे, खेत मे या बाड़ी मे गायें हाँक देने से ही जैसे जी की बात पूरी होती। गोमाता वध्य नही, पकड़ने या बाँधने की चेष्टा करें तो वह बहुत तेज़ है। काँजी-घर यहाँ से तीन कोस।

एक दिन अचानक देखा गया कि धनुआँ केवट की बकरी अदृश्य। धनुआँ है लोका नायक की तरफ़ का आदमी। बेचारा खोजते-खोजते हैरान। ठीक उसी रात अपति पधान की ओर से बटेश्वर के शिवाले के मैदान मे भोज हो रहा था, जागरण वगैरह कुछ दिन पहले से चल रहा था, और भोज मे बड़े आनन्द से मांस-भात।

अगणिराय आगे बढ़कर जनता की भलाई के विचार से धनुआँ की बकरी खोजने मे जुट पडे। खोजते-खोजते बटेश्वर के मैदान के पास केवड़े की वाड़ के घेरे मे उजड़े झोंपड़े के पास, पहले जहाँ बाबाजी की धूनी कोठरी थी, वही झटका होने के सारे चिह्न मिले, किन्तु दिन बीत गया था। बहुत खोज-खबर के बाद दो सीग मिले। धनुआँ केवट को वहाँ बुलाकर, क्या कुछ हुआ होगा उसका साभिनय एक ओजस्वी भाषा में वर्णन कर दिया। धनुआँ ने मानो दिव्यदृष्टि से अपनी बकरी का अन्तिम दृश्य देख लिया, और विश्वास कर लिया कि ये सीग उसी के हैं, और किसी के नही। ये उसकी अपनी बकरी के सीग है। उसे पक्का विश्वास हो गया—उसी की बकरी ने भोज-भाँग की शोभा बढायी है!

किन्तु जितना भी उकसाया, सहारा दिया धनुआँ को, वह मुक़दमे के लिए राज़ी हुआ ही नही। अगणिराय की चेष्टा विफल हो गयी। सब वण्टाधार किया सिन्धु चौधरी ने। उन्ही की बात को अनपढ ठेंठ गँवार धनुआँ ने उन पढ़े-लिखे अगणिराय के सामने अपनी मोटी बुद्धि से समझाया—"गयी तो गयी। एक बकरी ही तो गयी। अगणिराय, मुकदमा ठोंकने पर तो दान के साथ दक्षिणा के रूप मे और दो-चार बकरियाँ भेट चढानी होंगी। देखो, इनकुवारी आयी तो एक बकरी, कचहरी मे मुकदमा पड़ा तो हर तारीख़ पर साखी लोगों को जुटाकर एक बकरी, मुकदमा जीतने पर सबको बुला बड़े भोज पर कम से कम दो बकरियाँ।

कहाँ से पाऊँगा, गरीब आदमी, यह सब पूरा होने तक मैं ख़ुद ही बकरी बन जाऊँगा। लोग एक बार 'साला' शब्द के लिए दो बरस मुकदमा लड़ते हैं। फिर हज़ार बार साला-साला सुनते हुए भी मुकदमा हारकर लौट आते है। बकरी गयी, अरे, कभी तो मरती ही, इस गोरखधन्धे में कौन घुसे ?"

धनुआँ केवट हाथ से फिसल गया, अगणिराय कहते फिरे, "मजूरे-मूरखो का स्वभाव ऐसा ही होता है।"

बड़ा विचित्र आदमी ठहरा अगणिराय। कलबाँसा-पतला-लम्बा। हठीला चेहरा चिकनी दाढ़ी बनाये हुए-सा दिखता। उसे देखकर लगता मानो लम्बी छड़ पर लम्बा बेल-सा सिर रख दिया गया हो। लत—सिर्फ़ बीड़ी पीने की। वह भी अपने हाथ से मोडकर पीक्का बनाकर पीता है। उमर बावन, गले में मोटी तुलसीमाला, माथे पर, कानों के लटकने की जगह सफ़ेद तिलक। जब शहर जाता है धान उसनने की हाण्डी के रग का एक पुराना लम्बा कोट डाल लेता है। कोट के ऊपरवाले कुछ बटन नही है, अतः आराम से तुलसीमाला अपना मुँह दिखा जाती है। कन्धे पर गेरुआ रग का गमछा झूलता। और होता छाता। इतने मे ही एक ख़ासियत झलक जाती। और मुँह से कोई एक बात कहते ही यह ख़ासियत बढ जाती। अगणिराय किसी के चेहरे की ओर देखे बिना ही सोच-सोचकर एक-आध बात बोलता, बाकी समय उसका जबड़ा धीरे-धीरे घूमता रहता। भावना के साथ-साथ बातें सोची जा सकती हैं, पर बाहर आने के लिए पूर्ण होकर पकी नही होती। अगर वह किसी की ओर सामना-सामनी देख लेता अपनी धँसी हुई छोटी-छोटी आंखों से, तो उसकी स्थिर दृष्टि पहले उस व्यक्ति को काट लेती है और बाद में मानो उसे जकडकर रोक लेती है।

अकेले धनुआँ केवट की नहीं औरो की बकरियाँ भी अचानक गायब होने लगी। गोठ की घूम बढती गयी, एक दिन छोड़ एक दिन। कभी किसी अमराई में तो कभी कछार में। नदी किनारे, झुण्ड मे ढोर चरने जाते, लौटने तक गाय की पूँछ में बाल न होते, या बैल लँगड़ाता होता, अर्पति पधान के दलवाले साफ दिखा देना चाहते हैं कि उनमे कितना दम है।

अगणिराय कहने लगा, "मुकदमे से डरने पर कैसे चलेगा, उठो! चेतो, कमर कस लो, चलो चलें किनारे-किनारे।"

किन्तु एक दिन रात की पहली घड़ी मे ही उसे उसकी बात का उत्तर मिल गया। शहर से काला कोट पहने किनारे-किनारे लौट रहा था वह। गाँव कुछ दूर था, पास नदी का बालू। पास मे ही काश्त की ज़मीन का चक, उस सिरे पर दोनों ओर एक-एक आम का बगीचा, वहाँ अँधेरा जमा था। वहाँ लोग आते-जाते डर खाते हैं। कहते हैं, वहाँ भूतों का डेरा है, धूप-गूगल की गन्ध आती है, उडद के पीठों-सी सुगन्ध उठती है। हवा का पता न चले तो भी पेड़ों की फुनगियाँ ज़ोर

से हिलतीं, पेड़ से झर-झर कुछ झड़ता। जाते-आते बटोही का दिल धड़क उठता। लोहे का टुकड़ा थामे इष्टनाम जपता जी-जान को बचाता वह बगीचा पार कर जाता। अगणिराय को वह सब भय न या। कचहरी में घूम मामला-मुकदमा के कीड़े बनकर कम से कम इतना तो वह समझ ही गया था कि यह सब अन्धविश्वास है।

अतः अपनी चिन्ता मे मस्त वह किनारे के ऊपर से होकर घने बगीचे में घुसा।

उसकी ससारी चिन्ता बिलकुल वास्तविक थी। मदु बराल ने दो रुपये दिये है। मुकदमे मे फँस गया है। और भी देगा। घन पड्ड़ा के यहाँ भाई-तिरिया-कलह की नीव पड गयी है। घन का भाई बनू कलकत्ते से लौटा है। दोनों भाइयो ने मिलकर बहन के ब्याह मे रुपये उधार लिये थे। बनू पड्ड़ा ने अगणिराय से अक्कल ली है कि "वह करजा उतारे, तू चुप बैठ।" घन और बनू के बीच दो-चार बार तू-तू मैं-मैं हो चुकी। गदेई लेंका भी आना-जाना करने लगा है। घन को पकड़ रहा होगा। घन ने डीह में बैंगन लगाये थे, दो सेर सरीके लाकर बनू ने अगणि को दिये, मौसा भी कहने लगा है उसे।

सिर पर किसी पेड़ की घनी डाल सर, सर चड-चड़ कर हिल उठी, फिर नरम-नरम बच्चे की-सी रुलाई। अगणि ने सोचा—शायद गिद्ध ने बच्चे जने है, अपनी विज्ञता से वह धीमे से मुस्कराया। ऐसे ही लोग डरते है, कह देते हैं भूत। साथ ही साथ हूँ-हाँ की आवाज, और दो-तीन पेड हिल उठे। गिद्ध के बच्चो की रुलाई पर बन्दरों का झुण्ड चिहुँक उठा है शायद। अगणि आगे बढ गया। फिर ज़ोर से किलकिलाना, इस पेड़ से उस पेड़ पर। यह सब क्या ? कोई चिडिया ? और कुछ चिडियाँ ? ऐसा तो उसने कभी नही सुना। तेज़ी से चल पड़ा। कुछ दूर, अमराई के आख़िरी पेड को पार कर अगणि अवाक् खड़ा रह गया। किनारे पर अद्‌भुत नगे चार जन। काले-काले, हाथ पकड़े थेई-थेई कर नाच रहे, भँवर काटते हुए। ओ. कितना विकट ! वैसे ही नाचते-नाचते बायीं ओर मशान की तरफ़ चले गये। अगणि का आत्मविश्वास टूट गया। वह थर-थर काँपता रहा, ज़बान तालू से चिपक गयी, पसीना छूट रहा था। पीछे से बगीचे में सुनाई दी किलकिलाहट। गाँव को अभी भी दो पाव रास्ता होगा। अगणि और प्रतीक्षा नही कर सका, चारो ओर एक बार नज़र घुमाकर देखा—कोई नही। वह किनारे-किनारे एक ही साँस मे दौड पड़ा। किन्तु भूत के भी पैर है, और फिर वह हवा में। अपने पीछे से सुनाई पड़ी 'अँ-आँ' की आवाज़। कोई पीछा कर रहा हो मानो, पास आ रहा है। अगणि दौड़ रहा है। यह लो, किसी गड्ढे में पैर उलझकर चित-पटांग ! सारी देह में चोट। पर वह कुछ सोचे, इसके पहले ही चार-चार नगे भूत उसे घेरकर नाचने लगे। अँधेरे की बस लम्बी-लम्बी प्रतिमाएँ।

वह डूबती चेतना की अन्तिम किरण पकड़कर जान ले भागा। अबकी किनारे-किनारे नहीं, खेत-जमीन—सीधे गाँव की ओर। तभी पीठ पर पड़े धम्-धम्। बाप रे ! भूत का हाथ कितना मजबूत है—! पछाड खाकर वह गिर पडा। सारी देह पर वर्षा होने लगी। घिसटते-रपटते फिर उठा अगणिराय। कैसे क्या हुआ उसे पता नहीं, कितनी बार गिरा है, कितनी बार उठा है। देखा नहीं, तो भी लगता है नंग-धडग चार काले-कलूटे भूत। बाँस का झुरमुट पार कर बाउरी-बस्ती के चौक की ओर आते-आते वह मूर्च्छित हो गया। भूत छोड़कर भाग गये।

अगणिराय दो दिन तक पड़ा रहा। ओझा को बुलाया, ठाकुरजी के मन्दिर मे जल चढ़ाया। उसमे ईश्वर-विश्वास आ गया, कम से कम देह ठीक होने तक। बात बाहर फैली।

अर्पति पधान ने चौक मे सबको बुलाकर कहा, "अँधेरे में कुछ एक जमकर पड़े है तो अबकी करे वह मुकदमा, किसके नाम पर करता है ? एक नम्बर मुदाला बावना भूत, दो नम्बर वासुरा भूत, तीन नम्बर, चार नम्बर, पांच नम्बर...ये सारे भूत—"

गदेई लेंका मजाकिया है ही। कहा, "वैसे नही, वैसे नही, अमुक दिन अमुक समय अमुक स्थान पर अमुक-अमुक मुदाला ने जमा होकर हमे हर तरह से बेइज्जत कर गाली-फ़जीहत कर, खा जाने के लिए डराया, मुक्का-थप्पड़-ठोकर की मार मारी और बेहोश कर फेंक दिया। इसका साखी दो सियार, चार आम के पेड, एक गिद्ध, इनके अलावा और कई साखी है। मुझे कहता तो मुफ़्त दरख़ास्त लिख देता।"

उन्नयन-कर्मचारी विपिन काम देखने निकला है। रवि से उसे एक पत्र मिला है। चिट्ठी जेब मे है, चिट्ठी की कुछ बातें उसके मन में रह गयी है। वही बात याद आ जाती है। विपिन सोच रहा है—तो रवि नौकरी करने आया था। बाद में उसने मत बदल लिया। सुख से है। स्वयं परिश्रम कर जीविका कमाने की जरूरत नही पड़ती।

और स्वयं वह, विपिन ?

इतना खटता रहेगा, घूमता रहेगा, रात-दिन काम करके मरता रहेगा। कौन जानता है, कभी उसका सर्वेसर्वा बन रवि ही क्षमतावान् होकर आ पहुँचेगा। सब कुछ सम्भव है। जैसे कल का जाया कोई गरीब घर का बच्चा भी अच्छी पढाई-लिखाई कर उसके ऊपर अफसर बनकर आ सकता है—वैसे ही यह

भी सम्भव है कि आज जो आदमी काम-धन्धा न कर गाँव मे लोगों के बीच घूमता-फिरता है, लोगो की सेवा के नाम पर अपने भविष्य के लिए जनमत गढने में लगा है, कल वही असाधारण क्षमता लेकर, शक्ति लेकर आयेगा—उसी से सलाह और सेवा लेने के लिए। वैसी कई एक घटनाएँ उसकी निगाह मे गुजर चुकी हैं।

नौकरी मे न बँधने तक सब सम्भव है। वह बँध चुका है।

और बँधना भी क्या बँधना है? कोई अगर मुँह फुला लेता है, उसे हुई फिकर। आदमी को देखते ही वह सोच लेता है कि यह उसका कैसा अनिष्ट कर सकेगा और करने का इच्छुक होगा। ख़ूब तेज धार पर चलना पड़ता है, काम इतना कि—तुझे तेरे बाप की सौंह! ढेंकी निगलो। ढेंकी निगले बिना उसका निस्तार नही। इधर निगलने की शक्ति नही। सारी बुद्धि खरच कर, घुमा-फिरा-कर, बातें कह, मौके-फिराक में रह आत्मरक्षा का उपाय सोचते-सोचते दिन बीत जाता है। पहले आत्मरक्षा, फिर पीछे दूसरा काम, जितना हो सका। और किसी दूसरे के सिर पर टाल सको तो अच्छा।

चिट्ठी मे विकास को लेकर रवि के कुछ मौलिक प्रश्न है। बातें सोचेंगे विकास के ज्ञाता। विपिन का काम है—ऊपर से आये हुक्म की तामील करना। जल्दी रुपया ख़र्च कर काम करा सका तो उसकी छुट्टी मिल सकती है। काम का ठेका उसका नही, पर न कर सका तो आफ़त उसपर। काग़ज़ अगर सलीक़े से है तो ठीक, वरना पाँच बरस बाद भी अगर कागज़ से भूत निकला, तब कौन बचायेगा?

सामने पहली अप्रैल आ रही है। मार्च इकतीस तक साल-भर का हिसाब सिर खायेगा। मार्च-मार्च-मार्च, दमघोंटू काम के दिन, एकमात्र चिन्ता कि रुपये ख़र्च हो जायें पर कुछ भी न बचे उसकी बुराई का ढिंढोरा पीटने को।

और उसी के बीच अनहोनी-सी एक अजीब चिट्ठी आयी है—जो उसके काम को तौलने के लिए एक नयी तराज़ू है। उसके साथ जुडी है गाँव की ताज़ी हवा, नदी के भीगे बालू की महक, जैसी महक नदी की मछली की बनी तरकारी में होती है, पुराने सूखे गोबर की आग से अलसायी-सी उठती गन्ध या ख़ुशबू जिसमे धीमी सहज घरेलू जीवन की छवि दिमाग मे आकर मन मे रच जाती है, और साथ लायी है छलछलायी आँखों से ताकने की भंगिमा जो माँगती नही, जाँचती नही, केवल देखती हो—वैसी भंगिमा, जिससे पता चल जाये कि उस चेहरे पर से आभा टूटी नही, विश्वास छूटा नही, उस धान का दूध छूटा नही, उन गालों और होंठों से नरम-नरम नन्हे-नन्हे रोयें छूटे नही, घर के चारों कोने बुहारने पर सरसो का दाना भी चाहे न मिले पर उस मन से वह आन नही गयी, वह टनक नही मिटी। केवल भगवान् ही नही, बड़ो से लेकर गाँव के देवी-देवताओं

पर भरोसा, सत पर, ईश्वर के विचार पर, स्वर्ग-नरक पर, शास्त्र पर, और हीन से हीन अवस्था में घिसटते होने पर भी कभी न आनेवाले कल के शुभ दिन पर...

खाली आशा, विश्वास, भरोसा, निर्भरता... लिपटा आया है सब उस एक चिट्ठी की देह से। आकर पहुँचा है उसके पास, उसके नारियल का पानी, कांजी पानी, बासी पखाल, सुबह-तड़के नहाना और छाँह के सारे स्वरूपों को साथ लेकर उसके पास वहाँ पहुँची है जहाँ वह जल्दी-जल्दी घर-घर चलता है इस जीप गाड़ी की तरह या क्लीम्-क्लीम् कर चकरानेवाले स्पुतनिक की तरह। उसके पास कोमल आभा नहीं है, कर्कश दीप्ति है, शान्ति की अनजानी-अनसुनी स्थिति नहीं है उसके पास, अशान्ति की गरिमा है, अनुभूतियों पर विचार करने के लिए समय नहीं है वेग है, मुक्ति नहीं गति है, तीव्र गति। जीवन को नापने के मुहूर्तों में वह उसके पास सुख-दुख की बातें करने आया है, लोहा-पत्थर ढोनेवाली रेलगाड़ी के पास एक बैलगाड़ी आयी है, बैलों को गले में घण्टी और मुँह पर कौड़ी के जाले पहनाकर, कारण पूछने लक्ष्य पूछने...वाह...मज़ा है...!

बाहर विकास का इतना बोल-बाला, अपने गाँव के लिए वह कभी कुछ न कर सका। कलकत्ते में पान की दुकान करके भोली बाटिक ने ग्रामदेवी चाचिकेई के मण्डप के पास एक कुआँ खुदवा दिया, भात बेच साधु नन्द ने धूप में तपते कुक्कुटेश्वर महादेव पर छोटा-सा शिवाला खड़ा कर दिया। उसने किसी का कुछ नहीं किया, किसी को कुछ नहीं दिया, गाँव की पचायत में बैठा नहीं, गाँव का झगड़ा-टण्टा कोई मेटा नहीं, गाँव में कभी किसी के काम आया नहीं वह; फिर भी वह ठहरा गाँव का सबसे बड़ा चाकरिया बाबू!

उनकी निगाह में वह फिर सबसे अधिक पढ़ा-लिखा—बी. ए. पास। कौन है पढ़ा-लिखा! सोचते समय तनिक दब गया, मानो वही उसका पहिया है, याद आये कुछ बूढ़े चेहरे, सिर पर अब भी पहले की तरह जटानुमा चोटी, गले में माला, देह पर छोटी-सी चादर। बात-बात में पूछ डालेंगे कभी संस्कृत—माघ, भारवि या कालिदास या महानाटक से या संस्कृत भागवत से। कभी उड़िया में से ही कुछ। खून-पसीना हो जाता जब अर्थ बताने को कहते :

"उपइन्द्र उपइन्द्र उपइन्द्र उपइन्द्र वीर।
भञ्ज भञ्ज भञ्ज भञ्ज भञ्ज भञ्ज सार।"

सुनने में जो बिलकुल सरल सुनाई पड़ती उसी जगन्नाथदास की भागवत से भी दो पद व्याख्या के लिए दे देते तो लाज से मन करता कि धरती फट जाये!

नौकरी जबतक है ये जीप गाड़ियाँ घूमती रहेंगी और वह खास आदमियों

की लिस्ट में बना रहेगा। उसके बाद ! ताड़ की छाँह देखते-देखते हट जायेगी उसके इधर से उधर, उधर से इधर घूमते-घूमते। फिर उसके बाद क्या होगा ? जिन लोगों के लिए वह ख़ून-पसीना एक करके दौड़ रहा है वे क्या उसे याद करेंगे? गाँववाले भी उसे भुला देंगे। पुरानी मिट्टी से जड़ तक उखड गया होगा —सेमल की रुई। किसी शहर की साधारण जगह एक मकान बनाकर वह रहता-बसता होगा, पेनशन मिलती होगी और वह ख़रीदकर खाता होगा। शायद वह भी रिफ़्यूजी की तरह रह जायेगा, हाँ रिफ़्यूजी ही तो ! दीर्घ श्वास ! दीर्घ श्वास !

रवि ने वही पुराना सवाल उठाया है, धन और मन के सम्बन्धों के बारे में। उत्पादन और बँटाई को लेकर। पहले उत्पादन की ज़रूरत है। नहीं तो क्या योजना छोड़ लोग धर्म-प्रचार करने निकलेंगे ?

पर अपने को युक्ति के कई आसरों के सहारे टिकाने पर भी मन मानता नहीं है, कहीं कुछ उलझकर रह जाता है।

चल रही है जीपगाड़ी। दोनों ओर वही जाने-पहचाने दृश्य, देख-देखकर वह आदी हो गया है जिससे ये दृश्य अब दृश्य नहीं हैं। सिर्फ़ गाड़ी चल रही है। जैसे उसमें ड्राइवर भी नहीं है। सब उसी गाड़ी के पुरज़े है, उसमे स्वतन्त्र आदमी कोई नहीं है।

सिर्फ़ चलती गाड़ी का वेग है, उसका भी अनुभव हो रहा है, इसलिए कि वह जो कुछ देख रहा है—सब ज़ोर-ज़ोर से पीछे हटते जा रहे हैं।

अपने को लीन कर दिया था अपनी चिन्ता में। वह भी आदत पड़ गयी, गाड़ी चलती रहेगी और वह अपनी भावना में डूबा रहेगा।

रास्ते के किनारे से गुजरा कोई सुन्दर जलभण्डार। पानी भरा है। नीचे खेत मे गेहूँ लहलहा रहे हैं। जलभण्डार के लिए आधी सहायता देकर उसमें यह करवा दिया है। अच्छा काम हुआ। जमीन में चौदह आने भाग एक बड़े किसान का—माधव आचार्य ! गाँव के महाजन ठहरे। उद्यमी किसान, कालक्रम से गाँव की सारी अच्छी-अच्छी जमीन उसके हाथ में आ गयी है। नदी किनारे पम्प बैठाकर नदी से पानी लाकर आचार्य ने कितनी सुन्दर गन्ने की खेती की है। पम्प मे भी 'आधी सहायता' मिली है, और आधे अपने रुपये।

उसके उस पार सुलेमान का गौ-कुक्कुट पालन-केन्द्र। पास में छोटा-सा पशु-चिकित्सालय। शेख सुलेमान उत्साही व्यापारी ठहरा। शहर ले जाकर अच्छे भाव पर बेचता है।

इसके बाद शुरू होता है यह भोली पट्टनायक का सौ एकड़ का फार्म। सड़क के बायीं ओर। यह थोड़ी दूर पर बगीचा, कितना सुन्दर खडा है, क़तार-क़तार गाछ—अलग-अलग एक-एक प्रकार के नारियल, आम, चीकू, अमरूद। हलकी

जमीन में काजू, साग-सब्जी की वाड़ी, गन्ने का खेत, फाटक के सीधे पोखर के पास फ़ार्म-घर और पोखर के किनारे-किनारे धान का खेत। चारों ओर काँटेदार तार की बाड़ लगा दी है। सुन्दर फ़ारम, कितनी लुभावनी गोभी, मटर, मूंग, गेहूँ, अरहर लगी है, और भी अनेक किस्म की फसलें। पट्टनायकजी ने कृषि-विभाग को सारी सुविधाएँ दी हैं, अपनी इस जमीन में भाँति-भाँति की फसल पैदा करने के लिए, ताकि और लोग देखें और सीखें। बस उनकी एक ही शर्त है—कि कोई क्षति न हो। हालाँकि जमीन मरम्मत कराने से लेकर कुआँ-पोखर खुदाने, खाद खरीदने, कीड़े मारने की दवा खरीदने और यहाँ तक कि पौध और बीज खरीदने के काम में भी अनेक प्रकार की 'माफ़ी' सहायता वे पा चुके हैं। इस इलाके मे विकास के नमूने के रूप में इस फारम की फ़ोटो ही तो जगह-जगह छपती है, कितने खरच से कितनी आमदनी हुई, इसका हिसाब बताया जाता है। और उसके साथ होता पट्टनायकजी का फ़ोटो, चारों ओर से गोल-मटोल काला चमकदार चेहरा, साधारण से कुछ अधिक लम्बे होने से भी क्या हुआ, छाती-कमर-पेट सब गोल-मोल होकर बढने के कारण दूर से खासे बौने नज़र आते। घुप्प खद्दर का लम्बा चोला और धोती पहनते। कन्धे पर खद्दर की ही चादर, हाथ मे बडा चाँदी का पान का डब्बा, गले में मोटी तुलसीमाला—किन्तु वे आमिष खा लेते है,—बड़ा सिर, चिकनाकट बाल सँवारते हैं, किन्तु पीछे चोटी है।

पट्टनायक बहुत परिवारी आदमी है। केवल खेतिहर ही नही, नेता, व्यवसायी, महाजन भी।

यह फारम उनके सक्षम होने का प्रमाण है। जमीदारी उठ जाने के बाद पट्टनायकजी ने पिछली तारीख देकर जमीदारो से बारह बरस की पावती लिखाकर अपने पास रख ली। उसमे किसी टुकडे पर कोई एक-आध गरीब-गरीब खेती करते थे। आपत्ति उठायी, पर टिकी नही। पट्टनायकजी अड गये तो काम करने के लिए मजूरे नही मिले। तब पट्टनायकजी शहर से सॉड़-कल और दक्खिन देश के कुली लेकर आ पहुँचे। चारों ओर लोहे के काँटेदार तार घूम गये, अन्दर चलने लगी साँढ-कल लोहे की।

देश-भर में नाना उपाय से विकास ही चल रहा है।

ईर्ष्यालु लोग कहते हैं – तेली के सिर तेल चुपड़ा जा रहा है। स्वार्थी लोग आवाज उठा रहे है—वह खा गया, हमें मिला नही। मगर पहले पैदावार! पैदावार! कलह के लिए बहुत समय पडा है।

यह देखो, सामने ही एक कलह है। लोग ताक में है। विपिन ने गाडी रोकी। स्कूल का मकान बन रहा था। झरोखे तक ऊँची दीवार उठ चुकी है, काम वही रुक गया है। उसके बगल से कोई सड़क बन रही थी, खेतों से होती हुई

सड़क दूसरे गाँव को जायेगी। बीच में एक जगह रास्ते पर हल चलाया गया है, चारों तरफ चार काँटे रोपे गये हैं। यह सब किसी आदमी का काम है! कहाँ गया वह दुष्कर्मी ? वही तो होगा ?

"नमस्कार ! नमस्कार ! नमस्कार !"

वे दस-बारह लोग हैं, कुछ हटकर और भी एक व्यक्ति है। उमर तीस से अधिक होगी, बाल सिर पर बेतरतीब बिखरे हैं, मानो काली-काली सींकों का ढेर हो। आँखें धँस चुकी, सिर झुकाये तिरछी निगाहों से देख रहा है। चेहरे पर दाढ़ी, उसमें दो-चार पके बाल। अच्छा-खासा तगडा, गँठीली देह, किन्तु तनिक टेढी हो गयी है, मानो ओर ढूँढती हो, ताक में है। गेडे की-सी नाक, पर उसकी नोंक मानो आगे की ओर झुकी हो, और वैसे ही उसके पैने थोबड़े का सिरा, आगे मुड गया है। माथे से ठुड्डी तक दो फाँक की तरह मुडे। चिड-चिडे ज़िद्दी चेहरे की भंगिमा ! आँख-कान सब सतर्क है। उसने भी दोनों हाथ जोड़प्रणाम किया, पर उस प्रणाम में उत्साह न था। विपिन की निगाह ज्यादा उधर ही पसर रही थी।

"अरे, डाभ खोलो, देखते क्या हो?" धोती पर मठे (पाट) का कोट और उसपर माणिआबन्दी चादर डाले नाटे प्रौढ़ सज्जन, घनी बड़ी-बड़ी मूँछे, हाथ में एक मगरमुँही छडी, ये ही हैं सिध ओझा, मुखिया आदमी। गाँव के भले-बुरे मे आगे ये ही आते हैं। गिलास में डाभ उँड़ेला गया। एक, दो—"नही, और नही।" इसके बाद चपरासी। ड्राइवर। फिर पान का डब्बा खोलकर लाया गया। चार-पाँच सज्जनों ने अपने-अपने पान के डब्बे खोले। पीठ फेरकर चपरासी ने एक साथ दो पान मुँह मे ठूँसे, ड्राइवर ने जेब मे डाले। इसके बाद सिगरेट। विपिन ने एक फूँक धुआँ फेंक, कुछ इस अन्दाज मे पूछा जैसे कुछ भी न जानता हो—"कहिए, क्या हो रहा है आपके यहाँ ? विकास का कान आगे क्यो नही बढ़ पाता ? असुविधा कहाँ हुई ?"

बरगद की छाया मे जीप खडी है। बच्चे घेरे है। रास्ते के उस ओर पोखर मे नहाना-धोना चल रहा है, भीगी साडी दाँतों से दबाये औरतें पीठ किये मुड़ी देख रही हैं। गाँव के लोग एक-एक कर आते है और खड़े हो जाते है। गाँव के स्कूल की अधूरी चारदीवारी के बीच घने कटहल हैं, उनकी छाया मे टेबुल-कुरसी पड़ी हैं। विपिन बैठ गया। बेंच पर गाँव के मुरबी लोग ठूँस-ठाँसकर बैठे। विपिन के पास है—दनेई राउत, विराट् देह, रोयेंदार कलाई पर घड़ी बँधी, बड़े मुँह मे पान की चक्की घूम रही है, ढेमा-ढेमा आँखें, घनी-मोटी बरौनियाँ, देह पर जालीदार गंजी-भर है जो पेट तक खिची है। मुद्रा मे सकोच के साथ दाम्भिकता भी भरी है। दनेई राउत अपने धान और अपनी तिकड़म के बारे मे सचेत है। उनकी बगल में हैं पुर काण्डी, भरी-पूरी देह,

लम्बी वदन, छाती पर बाहें सटाये, दोनों होंठ भींचे यों बैठे हैं कि कहीं कोई
बात न निकल जाये। आँखों पर चश्मा। सूई-सी खड़ी मूँछें आधी भूरी-आधी
स्याह, छाती के बाल भी आधे पक चुके हैं। लोगों का कहना है कि पुर काण्डी
कभी चुप नहीं बैठते, जब देखो चिन्तन चलता ही रहता है—किसका घर कैसे
लूटेंगे या तोड़ेंगे। पुर काण्डी और दनेई राउत के बीच भिंचे-से एक छरहरे
युवक अरि मिश्र, धोती पर डोरिया हाफ़ कमीज पहने हैं, कन्धे पर थैला झूल
रहा है। सामने की जेब में तीन सस्ती फ़ाउण्टेसपेन टँगी दिख रही हैं, और
उनकी टोटी भी दिखायी पड़ रही है, आगे झुककर बैठे हैं। गाँव की राजनीति
में भाग लेना शुरू किया है। उनमें हरेक यह अनुभव कर रहे हैं कि बाहर के
हाकिम के सामने इस आसन पर एक जगह पाने का वो भी हक़दार है। अतः
उस बेंच पर धक्का-मुक्की-सी चल रही है। सब वहाँ समाये बैठे हैं।
बस वह आदमी नहीं बैठा जिसके विरुद्ध ये लोग फ़रियादी बने थे। अलग
खड़ा इन्तज़ार कर रहा है। ये सब कह चुकेंगे, तब उसकी बारी आयेगी।
तब वह कहेगा कुछ। सिध ओझा अनर्गल कहते गये, उनके बाद दनेई राउत, फिर
पुर काण्डी, बीच-बीच में अरि मिश्र, और इसी प्रकार कई लोग। उनकी बातों से
समझा जाये तो वह है एक गुण्डा आदमी—कुमरा सेण, हठी, बदतमीज़, स्वार्थी,
नीच, जघन्य—और पता नहीं क्या कुछ। वही कुमरा सेण, गान्धी-आन्दोलन
के ज़माने में इन्हें रास्ता बताया करता था सो सबने फन्दा बना उसे पुलिस में
पकड़ा दिया, पर पुलिस ने ही प्रमाण न देकर छोड़ दिया था, नहीं तो जेल हो
जाती। ये लोग अपने नाम से बाँट-छाँटकर विकास के कामों की कण्ट्राकटरी
लेते हैं। कुमारा सेण, गुस्से में आग-बबूला हो मन ही मन उबल रहा है। यही
दनेई राउत ने स्कूल का मकान बनाने का काम हाथ में लिया है, यह रास्ते का
काम पुर काण्डी का है। अरि मिश्र को मिला है कुआँ खोदने का काम, सिध
ओझा ठहरे सरदार, सारे बड़े-बड़े काम उन्हीं के हैं, माटी के काम दिखाने के
लिए माटी के पुराने गड्ढों को फिर एक बार ऊपर-ऊपर से तराश कर नये माटी
के काम के प्रमाण के रूप में 'साखी' खड़े कर पैसे लिये हैं। वे कौन उपाय भिड़ाना
नहीं जानते, कहने बैठें तो पुराण बन जाये।
और ये लोग उसके विरुद्ध फ़रियाद कर रहे हैं।
कह जाने दो जो मन में आये, कुमरा सेण ने मन ही मन कहा और सिर
हिलाया। अबकी गरमागरम चाय भी आ गयी, पिलायें जी भरकर।
"सुनते हो कुमारा सेण ?"
"जी !" उसने तिरछे-तिरछे देखा, जैसे भेड़ा देखता है सींग मारने से पहले।
नाक फन्-फन् कर रही है।
"बोलो तो, यह कौन-सी अकलवाला काम किया तुमने, कुमरा सेण ? स्कूल

मकान बन रहा था, तुमने बन्द करवा दिया। इधर सड़क पर हल चलाकर काँटे रोप दिये। तुम्हारे जैसे यदि गाँव मे एक-एक करमठ निकले पड़ें, तो विकास का भी लक्कड़दादा हो जायेगा। क्योंकि, क्या कहते हो ?" विपिन ने पूछा।

फिर भी वह निरुत्तर है। सिंध ओझा ने कहा, "हुजूर की कलम में अगर मिल जाती फ़ैसला करने की क्षमता, एक ही बार में हेकड़ी निकल जाती। इतना आसान है कि लोग आकर सरकारी कामों को रोक दें!"

कुमरा सेण के कान गरम हो गये—"किसी ने अगर क़सूर किया है तो जाकर ठोंक दो मुक़दमा, देख लेंगे।"

अरि मिश्र ने विपिन की ओर देखकर आँख मारी और हँस पड़े, "खाली मुकदमा-मुकदमा...देखें हुजूर—"

कुमरा सेण सुनाने लगा अपनी कहानी। पहले आहिस्ता-आहिस्ता, फिर तो धाराप्रवाह। नये रूप मे विपिन ने उस घटना को देखना शुरू किया और इन आदमियों को। कुमरा सेण के वर्णन में मानो एक नया ही झरना बह निकला, जिसमें बह गयी सारी पुरानी-पुरानी ये संस्थाएँ।

वही कहानी—

उसी का है यह घर, जहाँ स्कूल का मकान खड़ा किया जा रहा है। जहाँ रास्ता बन रहा है। और उसने काँटों से जहाँ घेरा डाला है, वह उसी का भाग है, दूसरा भाग बड़े भाई नकुल सेण का अंश है, अभी भी भतीजों के कब्ज़े मे है। इस महाजन सिंध ओझा से कभी बाबा आदम के ज़माने में उसने पन्द्रह रुपये करज लिए थे, अब तक ले-देकर डेढ़ सौ तक उतार दिये होंगे। महाजन ने और भी बकाया निकाला! अभी और भी बकाया। चक्रवृद्धि की दर से ब्याज पर ब्याज। उसी के जंजाल से कुमरा गया कलकत्ता। जी-जान से मेहनत कर पैसे भेजेगा महीने के महीने, महाजन का ब्याज उतारा जायेगा, घर चलेगा। ऐसे ही रहते-रहते बीत गये सात वर्ष। इस बीच तीन बार घर आया, आख़िरी बार के बाद तीन वर्ष तक नही आया। क्या देखने आता, माँ तो मर गयी हैज़े में। एकमात्र छोटी लड़की। उसे भी पता नही क्या हुआ, वह भी मर गयी। स्त्री किसी और के साथ कही चली गयी। घर पर छप्पर नही डाला गया, वह ढह गया।

इसके बाद आ गये ये गाँव के उपकारी लोग। ज़मीन सरकार को दिखाये बिना स्कूल की इमारत खड़ी करने को पैसे नहीं मिलेंगे। अतः उन्होंने इसकी ही ज़मीन पर निगाह डाली। उसके बड़े भाई नकुल सेण के बड़े बेटे मंगुली सेण को हाथ मे कर उसी के घर की ज़मीन को स्कूल के मकान के लिए लिखवा दिया। फिर उसपर कोठा बनाना शुरू कर दिया। रास्ता निकाल दिया, उसी की ज़मीन

से होकर। हुआ न कि पराया बेटा मरा, रोग बाहर का बाहर टला!

कलकत्ते से लौटकर देखता है, माँ नही, स्त्री नही, बेटी नही, घर के टुकड़े पर स्कूल का मकान खडा हो रहा है। ज़मीन पर बिछा रहे है सड़क। अपने अधिकार के लिए प्रतिरोध किया। सब तो गया, बची है उसकी गरदन। मान लो वह कट गयी, तो क्या होता है? तो क्या जीव रहते-रहते यह सब अपनी आँखों देखे और सहता जाये? ऐसा हरगिज़ नहीं हो सकता!

बात पूरी होते न होते झपाटे से बात को दबोच बैठे मुकदमेबाज़—ठीक है, ठीक है, साखी लाओ, काग़ज़ निकालो, कौन तुम्हारी तरफ से कहता है, देखें! बुलाया जाये मगुली सेण को, उसने स्वयं तो स्कूल के मकान के लिए ज़मीन लिख दी है। बताये वही कि किसकी है यह ज़मीन, उसके बाप की या उसके दादा की? ऐसे ही अगर कोई तेरा हक छीन रहा है तो कर मुकदमा।

बूढ़े मिच्छू मिश्रजी लाठी टेकते काँपते-काँपते आ पहुँचे। कहने लगे, "न्याय तुम्हारी तरफ है तो फिर कर दो तुम्ही मुक़दमा, उससे क्या कहते हो? ज़बर-दस्ती एक आदमी की ज़मीन पर मकान खड़ा कर रहे हो, धरम यह सह पायेगा तो?"

"ये देखो, कही से खबर पाकर सूँघते-सूँघते पहुँच गये, देखिए, इन्हें पहचान रखें, हुज़ूर—"

"अरे, तुम पहचानो, उन्हें क्यों कहते हो। वे कोई इस गाँव के है?" मिच्छू मिश्र ने कहा। उनकी लम्बी सुग्गे की चोंच जैसी नाक सिध ओझा की ओर—घूम पड़ी—"तुम हमे पहचानो, सुनो ओ सिध, तुम्हारे पहले तुम्हारे बाप ने भी पहचाना था, माधो ओझाजी ने। वे होते तो गाँव का यह हाल न होता, वे तो कितने न्याय-पुरुष थे। वे तुम्हारी तरह के नेता-नेम्बर आदमी न थे, तुम इसी में बढ गये।"

धन बाउरी, हाथ-पैर कीचड मे साने, आ पहुँचा। गाल से कीचड़ पोंछते-पोंछते कहने लगा, "यह कुमरा सेण की डीहवाली बात...झूठ-मूठ ही बेचारे आदमी को डुबोकर मारने बैठे हैं ये। बाबू ईसकुल-घर बना रहे है लेकिन यह उसी की डीह है। रास्ते पर जितना घेरा है वह उसी की ज़मीन है।"

कई लोगों ने इधर कहा, कइयो ने उस तरफ। विपिन कोई फैसला न कर सका। लोगो की हो-हा बढने लगी, उस छाया के नीचे बैठ उन्ही लोगों की ओर देखता वह सिगरेट के कश लेने लगा।

अचानक पूछ बैठा, "पुरानी जगह गयी कहाँ? वहाँ तो पहले भी स्कूल लगता था।"

दनेई राउत ने आगे बढकर कहा, "है, वह भी कोई जगह कहलाती है। चार अंगुल की इत्ती-सी जगह होगी!" सिध ओझा व्यंग्यात्मक हँसी हँस पड़े। और

मिश्र हँसते-हँसते स्वरभंग करते हुए मुर्गे की तरह चहके, "इसकूल क्या, वह तो गुहाल था ! भेड़ों का झोंपड़ा !"

घन बाउरी ने कहा, "वहाँ गुहाल किसने बनायी ? हुज़ूर ज़रा पूछें तो सही। इन्हीं सिध ओझाजी ने तो ! इसकूल के घर से दीवार सटाकर बाड़ बन्द कर दी और सब कुछ पोंछ डाला। इसकूल के पूरब की ओर मैदान था, मकान के छप्पर के नीचे टट्टी से ढाँपकर दिन में वहाँ गायें रखो। रात होने पर गायें भर देते इसकूल के घर में। लो, गोरू और गुरु एक जगह रहो। एक आत्मा हरि-हर हो गये। इसकूल के घर पर छावनी डाली नहीं, सो छान में छेद हो गये, इधर रोज़ खींच-खींचकर खा गयीं इनकी गायें। सबइनसपेटर बाबू के आगे बराबर कहने लगे कि पहले सामने जो बरगद है उसे कटाओ, वहीं इसकूल का घर खड़ा हो, खेल-कूद करने के लिए बरगद के सामने का मैदान ठीक रहेगा। बस एक ही रट लगाते रहे कि यह मेरी जगह है, मुझे छोड़ दी जाये। इधर इसकूल बैठ गयी तीस बरस से, कुमरा तो कलकत्ता गया था, उसका घर पड़ गया आँखों के आगे, बस वह पुराना बरगद बच गया—"

दनेई राउत अपनी विराट् काया को उठाकर खड़े हुए, गरदन को बायें कन्धे की ओर मोड़, सिर हिला-हिलाकर कहने लगे, "क्यों इतनी बदतमीज़ी की बात कर रहे हो, बहुत कहनेवाले बने, ओ रे बाउरी छोकरे—"

घन बाउरी दाँत दिखाते हुए कहने लगा, "क्या बुरी बात कह दी इस बाउरी छोरे ने ? ओ राउत साअन्तजी, ऐसे गरम क्यों हुए जा रहे हैं ? बात-बात पर पित्त चढ़ा जा रहा है ?"

सिध ओझा खड़े हो गये, "छोड़ो जी राउतजी, उसके साथ बेकार में...कौन कैसा आदमी है, क्या हाकिम समझते नहीं जो हम कहें ! कोई गोरू चरानेवाला है, पर ये तो आदमी चराते हैं, इनसे कौन-सी बात लुकी-छिपी है कि ये इन्हें समझायेंगे !"

विपिन ने पूछा, "जी, तो वह पुरानी स्कूलवाली बात क्या है फिर ? वह जगह कहाँ है ?"

कुमरा एक विकृत हँसी हँस कह पड़ा, "बतायें, वे ही बतायें।"

मिच्छू मिश्र ने कहा, "निकलेगा, निकलेगा, सत ज़रूर उपजेगा, जो..."

सिध ओझा ने कहा, "जी, वह जगह का टुकड़ा, एक बिना बाप के बेटे के भाग में पड़ा, नाबालिग। वह हमारा ही हिस्सेदार। जगह हमारी ख़ाली पड़ी थी, सो हम लोगों ने कहा कि बेकार क्यों पड़ी रहेगी, वहाँ गाँव के बच्चे ही पढ़ें। अपने पैसे खरच कर इसकूल का मकान बनवाया था।"

घन बाउरी ने टोका, "हाँ, खुद करवाया था ! बड़े दयावान् ! गाँव-भर के लोग लगे थे, किसी ने मेहनत की, किसी ने बाँस दिये, किसी ने पुआल, और

तुमने क्या दिया ?"
सिध ओझा ने रोका, "कहते जाओ तुम भी अपनी, आजकल तो तुम्हीं लोगों
का राज है !" फिर कहने लगे, "उसके बाद पाँच वर्ष हुए तब हमारा बँटवारा
हुआ। उस बच्चे के भाग में यह जगह आयी, उसकी माँ ने रो-धोकर गाँव के
पाँच लोगों के सामने कहा कि मुझे मेरी जगह दी जाये—"
कुमर ने कहा, "उसकी माँ तो बारह घरों में धान कूटकर पेट भरती है,
उसने कहा या तुमने कहा ?...जी, उस औरत से इश्तहार लें, उसके गिरस्त ने
इन्हें आदमी बनाया, और उसकी सारी ज़मीन-जायदाद ये हड़प कर गये, और
आख़िर में उसके नाम पर क्या कहते हैं कि उसने कहा यह इसकूल-घर तोड़कर
मैं घर खड़ा करूँगी !"
सिध ओझा ने कहा, "अरे, किसके घर की बात ? तू क्या जानेगा ? तू तो
फ़रार-सा रहता आया है।"
कुमर ने कहा, "हाँ, हाँ मैंने तो मानुष मारे हैं, फ़रार क्यों न होऊँगा ?"
सिध ओझा ने कहा, "तो सुनें हुज़ूर, उसकी माँ ने जब गाँव के पंचों से गुहार
की तब हमने कहा कि अपना हिस्सा वह ले ले, यह भी कोई जगह है जो यहाँ
इसकूल-घर रहेगा ? अपनी बाड़ी को तो उसने पहले ही दख़ल में ले लिया
था—"
धन ने कहा, "द-ख-ल ! बाप रे ! मन किया तो नारियल भी लगाये !
ज़माने से तो इसकूल-घर का बगीचा था, और दखल किया किसने...कब ?"
सिध ओझा ने कहा, "इधर चटशाल का झोपड़ा टूटने को आया, उधर उस
औरत ने ज़िद पकड़ी। हम लोगों ने कहा, कोई अच्छी जगह ठीक करें जहाँ इसकूल
बने, और दैवयोग से—"
मिच्छू मिश्र ने कहा, "दैवयोग से कुमरा भी कलकत्ते रहने लगा, उसका
घर टूट पड़ा, उसका भतीजा भी तुम्हारी लड़की पर नाचने लगा। क्या करे,
उसके पास और चारा भी क्या था ? उससे तो काग़ज़ पर अँगूठे की टीप लेकर
रखा है, कोई बीस-एक रुपल्ली ली थी ! रुपये भी पा गये ऊपर ही ऊपर से,
आधे की हेरा-फेरी और आधे का काम होगा—बुद्धि क्या कम है !"
सिध ओझा ने कहा, "जगह असल में मंगुलिया के घर के नीचे की बाड़ी
है। यह तो घुमक्कड़ रहा, इसकी कभी किसी ज़माने में उधर जगह थी या घर
था, मुझे तो अचम्भा लगता है !"
कुमर सेण ने कहा, "तुम्हें किस बात का अचम्भा नहीं होता ? रात में
तुम्हारा दिन होता है, दिन में रात। अरे, मेरे जीते जी तुम लोग मेरा घर यों
फूँक मारकर उड़ा देने को तुले हो ?"
पुर काण्डी ने कहा, होंठ मरोड़कर-चबाते-चबाते, "तुम्हारे नाम से काग़ज़

तो होगा, पावती होगी, दिखाना ज़रा ?"

कुमर ने ऊँचे स्वर में कहा, "कागज़ मेरे बड़े भाई के नाम से है. हमारा कागज़ फाड़ा नहीं गया कि बाँट-बखरा नहीं हुआ। मेरा घर—"

पर काण्डी ने बीच में रोका, "अधिक बकबक मत करो कुमर ! तेरे भाई का घरबार। तुझे उसने इस तरफ सेंढुडा गाछ के पास एक कोठरी छोड दी थी, दूसरी तरफ तो उसके गुहाल के पास की बाडी थी, तू अब कहाँ से इतना मामला निकालकर खडा कर रहा है ?"

सिध ओजा, अरि मिश्र और उनके दल के अन्य लोगों ने सिर हिलाकर समर्थन किया। उस तरफ से कुछ लोगों ने विरोध किया और भर्त्सना की। सिध ओझा ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "हुज़ूर, एक बात, इन लोगों की यह शत्रुता तो देख ही रहे है। सब तो समझ गये होंगे, मैं अब क्या कहूँगा ?"

हो-हो कर सब उठ खड़े हुए। पोखरी की ओर से औरतें गालियाँ दे रही हैं। ऊँची आवाज मे कोई विधवा हल्ला मचा रही है, "इस गू खाये, घरफोड़, इस मूँड़ी-टूटे, आग जले, डायन खाये के लिए गाँव टूट पड़ता है। सब घिसट रहे हैं। मरने पर क्या ले जायेगा साथ में जो इतना वाद-विवाद निकाल रहा है। इन नालायकों ने किसी को कहीं का रहने नहीं दिया !"

विपिन ने हाथ में बँधी घडी की ओर देखा और झट उठ खडा हुआ। कोई साफ़ फैसला नहीं कर सका और सीधा चल पडा जीप की ओर। लगभग पचास लोग जमा हो गये थे। गाड़ी चल पडी।

आगे नयी माटी डालकर सडक बनी है गाँव के लिए—कुछ दूर तक। कितने पोखर खुदे है। जगह-जगह कुछ नयी किस्म की गाय-भेडें दृष्टि मे पड़ जाती हैं। यह हरियाणवी साँड़ का बच्चा तो है, यह लाल सिन्धी गाय के मेमने से—। यह गोदावरी है—वह उधर लम्बी बकरी, बड़े-बड चौड़े झूलते कान। रास्ते मे बाउरी-बस्ती मे, पाण-बस्ती मे कहीं-कहीं पर आर. आई. आर. मुर्गे, कहीं सफ़ेद लेग हॉर्न। बैलगाडी पर हाण्डी की हाण्डी गुड़ लादा जा रहा है। विपिन ने देखा गाड़ी रोककर, बिना धुएँ के चूल्हे पर लोहे के कड़ाहो में राँधा गया गुड़, पुराने मक्खन के रंग का। सखाली जेना का गुड़, जेना गन्ना पैदा करते है, बीस एकड़ का पलाट है, बहुत बड़े किसान !

चल रहा है विकास। फिर रवि की चिट्ठी के बारे में सोचने लगा। किसके लिए है यह सारा प्रबन्ध ? किस-किसके हाथ धन लगा। मगर मन कहाँ ? आत्मा कहाँ ? हृदय कहाँ ?

सामने फिर लोगों ने जीप रोकी। वे लोग दरख़ास्त लिखकर लाये थे, थमा दी। और साथ-साथ आपत्ति जता दी। केन्द्र-घर उनके गाँव में न होकर वहाँ से पाव कोस दूर, दूसरे गाँव मे क्यों खड़ा किया जा रहा है ? उनके गाँव की इज्जत

मिट्टी मे मिल गयी । उन लोगों ने दस गाँवों के लोगों का जनमत संग्रह किया है, कागज में दोनों ओर बस केवल दस्तख़त भरे हैं—"हमारी माँग, यह केन्द्र-घर हमारे गाँव मे हो—"

"ठीक है, विचार होगा।"

अब चढ़ाई है। पहाडी रास्ता, छोटी-छोटी कई पहाड़ियाँ। नीचे-नीचे घने जंगल रह गये हैं, झुरमुट के झुरमुट, बड़े-बड़े गाछ कटकर चले गये हैं। जगह-जगह खाली ठूंठ, पत्थर की चट्टानें। इसके बाद—सामने बैलगाड़ी उलट गयी है। आ रही थी कि दाहिनी ओर मुड़कर गिर गयी। दाहिनी ओर का भैंसा घुटनो के बल पड़ गया है। उसका पुट्ठा ज़ख्मी हो गया है। गाड़ी में खूब लम्बे-लम्बे मोटे काठ के कुन्दे लदे हैं, नीचे भी एक-दो बँधे हैं। उनमे दो भैंसे की पीठ पर से होते हुए लदे हैं।

जीप गीयर बदलती पें-पें करती धीमी होकर पास पहुँची। भैंसे ने हरकत नही की, मुँह पसारे निश्चल एक ध्यान से मानो वह प्रतीक्षा कर रहा है। बड़ी-बडी, काली-काली आँखें डब-डब चिकमिक देख रही हैं, मानो मौन निराशा में स्थिर होकर जीवन वहाँ ठहर गया है। वह आदमी से न कुछ माँगता है, न कुछ आशा है।

भग्नदूत ने आकर ख़बर दी, सिन्धु चौधरी ने सुना। मानापमान के गुस्से में लोका नायक का चेहरा फों-फों कर रहा है। लोका नायक ने उपसंहार किया—"नही जानते कि वे इतने ओछे लोग है! और होंगे क्यों नही? कितनी पीढी का घर है? धन पुराना होता है तब न जाकर इनसानियत खुलती है, नही तो खाली बस, सिर मे पित्त बढ़ता है, और सारी देह में फैल जाता है। वह तो आपके पैरों की जूती के बराबर भी नही, उनके इतने सुकरम कहाँ जो आपके घर का रतन लेकर गले मे धारण की शक्ति हो।"

छवि की माँ तो ज़ार-ज़ार आँसू बहा रही थी। उन्हे तो विश्वास हो गया था कि किसी ने कुछ भड़का दिया है। सब इस गाँव के लोगों की करतूत है—और ये जो मूरत उनके पतिदेवता हैं, जिन पर सारी आशा-भरोसा है, वे चाहे भले आदमी हों, पर है दुरबल। किसी को कुछ भी नही कहेंगे, दुश्मनो को इसी से मिल जाता है मौका!

सिन्धु चौधरी नहा-धोकर बैठे पोथी पढ रहे थे। सामने सरलादास की महाभारत की ताड़-पोथी, बहुत पुरानी। चेहरे पर प्रशान्त स्वप्निलता। सामने स्त्री आकर आँसू छलकाती हुई मानो ज्वाला भड़का रही है। आः! यह फिर

कैसा रून ! माँ ने जनम दिया है, मन नहीं मानता ! हृदय छटपटा रहा है ।

"चीटी को छेड़ो तो वह भी ज़ोर से काट खाती है, और तुम हो कि...जाओ, अभी जाकर समझो किसने क्या लगा-सिखा दिया, नहीं तो वे लोग क्यों इनकार करते? आज जो ठोकर मारता है, कल उसे देना चाहिए घूंसा, तुम बैठे-बैठे ख़ाली पोथी पढ़ते रहोगे ?"

"अरी, देख । सुनो, सुनो," सिन्धु चौधरी ने कहा, "कितना सुन्दर लिखा है, सुनो तो सही, भागवान, इतने लोगों के रहने पर भी कितना विश्वास किया भगवान् ने अक्रूर पर ? उसे क्यों ब्रह्मज्ञान बताया ?

अक्रूर बोलि जेहु हिंसा ताहार नाहि ।
तेणु करि दया कले जगत गोसाईं ।।"

"न लाज है न छल, दुश्मन हँस रहे हैं और यह आदमी है जो पुराण बाँच रहा है । क्यों ? तुम्हारे क्या हाथ-पाँव नहीं ? लोग कह-सुनकर तुम्हारी बेटी का ब्याह-सगाई तोड़ेंगे ! तुम्हारा मान-महत गया । तुम्हारे मुँह पर मूतेंगे, तुम बैठे रहोगे पत्थर बने ?"

"बोलो, बोलो, और कहो । जानती तो हो, एक पत्थर हूँ मैं । तुम किस बात पर इतना रो रही हो ? लो सुनो—

सुण हो राजन कृष्ण भालिण से कलेक उपाये ।
द्वारका भुवन कु से लागिला कोकुआभय ।।
अद्भुते शुभिला मे आइला कोकुआ ।
पलाअ रे पोए खाइबटि कोकुआ ।।
भए करि पोए लुचिले भितरे ।
सान पोए लुचन्ति से मातांक कोडरे ।।

(कृष्ण ने ऐसी लीला रची कि द्वारका में भय छा गया । लोग भागकर छुपने लगे । उस झूठे भय से बच्चे माताओं की गोद में छुपने लगे)

"देखो, विनाश से पहले ठाकुरजी भय दिखाते है । वही भय विनाश को बुला लाता है, और क्या ? भय का साँप फन उठाता है, और मार खाता है । भय के कारण एक-दूसरे को मारता है, फिर दोनों एक-दूसरे को मार-मारकर नष्ट होते हैं । दुनिया-भर के जितने लड़ाई-युद्ध होते है, सब उसी भय से निकलते हैं, वह उधर देख—"

छवि आईना नीचे रख गयी है । आरसी में मुँह देखकर एक गोरैया उसके साथ लगाये है भयंकर युद्ध । काँच पर चोंच मार-मार थककर चूर हो गयी, फिर उठकर उससे भिड़ गयी है ।

चौधरी ने कहा, "देखो तो, कलि है, अपने हृदय के अन्दर शीतलता रखे बिना तुम भी वैसी ही होगी । क्यो इस तरह इतनी इधर-उधर की बातें सोचकर

मन उदास करती हो ? जाओ, अपना काम करो।"

छवि की माँ उठकर चली गयी। समय वह गया। कोई घड़ी की सुई देख, कोई अपने पसीने को देख, कोई ओस की ओर देख, नाप गये अपने-अपने काँटे से अपना समय। सिन्धु चौधरी डूबे रहे अपनी उस पोथी में, उसके साँवले पुराने पत्र ! पीढ़ी दर पीढ़ी, लोगों के हाथों ने छुआ है उसे। बिलकुल मन लगाये पढ़ रहे थे, बीच में आँख उठाकर देखने लगे सामने की ओर, शून्य की ओर, श्रीकृष्ण भगवान् की लीला का शेष दृश्य देखते-देखते गहरे दुख के बीच जाग उठा कौतूहल-विस्मय। सोचने लगे—जो इनका महान् स्रष्टा है, वह कैसे स्वयं इतने सांसारिक मोह में पड़ विकल जर्जर हो रहा है। स्वयं रचा, स्वयं तोड़ा और फिर स्वयं उस मोह में पड़कर दुख पा रहा है, और फिर उससे दूर हो रहा है। नहीं, इसी में है यह सृष्टि-भर का परम सत्य !

"समस्त मराइ जे मुँहि होइला येका
दशदिग अधार होइ बुलइ ताटका।—"

(सबको मरवाकर मैं अकेला हो गया हूँ—दसों दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हैं और विक्षुब्ध हैं)

समस्या से भागकर चेतना-सृष्टि की विचित्रता में उन्होंने अपने को प्रसारित किया था जिसमें न छवि की माँ थी. न वह समस्या ही।

वे ध्यान में मग्न थे। आँखों के आगे यह सृष्टि थी। फिर यह टूटती जा रही है। बनती जा रही है। माया उसमें अँधेरे की तरह मिली है। सोचा, खाली आँखों से किसी चीज़ का चेहरा शायद नहीं दिखेगा। रोशनी और अँधेरा मिलने पर दिखेगा। तभी तो इस सृष्टि को माया ढाँपे है।

धूप बढ़ गयी। भात परोसा गया। पोथी में डोर बँधी है। छवि की माँ का चेहरा नित्य की तरह है। छवि परोस रही है। जैसे रोज़ करती है। देख लेने पर उनका हृदय करुणा से काँप उठता है, स्वतः धारा छूटती है मंगल कामना से, मन के अन्दर पुराण के भाव-रागिणी की आख़िरी प्रतिध्वनि, यह, यह सृष्टि है, घड़ी-भर में भरा-पूरा। और घड़ी-भर में कुछ नहीं। श्रीकृष्ण की मरणशील देह भी लोप हो गयी है। सोचते-सोचते भोजन समाप्त हो जाता है। सोचने पर मुट्ठी-भर भात भी विचित्र लगते हैं। अपना श्रम नहीं, तो भी चावलों के दाने गये नहीं, आ ही जाते हैं। ऐसे ही किसी दिन न आये तो न सही, देखा जायेगा। अक्षय भण्डार था स्वयं श्रीकृष्णजी चले गये, और उनका क्या न था ?

उसके बाद शुरू हुआ चरखा।

उसकी ताल पर फिर चिन्तन, और भी अनेक। आँख खुली रहने पर पोथी में कब किस बात पर निगाह चली जाये। आँखों के आगे कुछ तैरने लगती। मन खुला रखने पर कब कौन-सी भावना आकर फाँक भर देती, फिर चली

जाती।

वे गाँव के कलह की बाबत सोच रहे थे। सूखी हवा को भी किस पागलपन का रोग है, आँखें देख रही है, कान सुन रहे है। आँखों के सामने गाँव फटकर ध्वंस होने को बैठा है। कहने पर सुनेगा कौन ?

वे नही उतर सकते। जो अच्छा लगता है, उस वश-परम्परा की शालीनता समझते हैं। मिलने के लिए गन्ध और गन्दगी को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उनसे नहीं होगा। केवल देखना पड़ेगा। मन मे से उत्तर आया, कि यह सब माया है, माया है, यह भी बदलेगा।

किन्तु माया के दावें मे चेहरे पर खिन्नता की छाया पडी है। वे चिन्तित है, पर छवि की माँ कल की तरह काम में लगी है।

फागुन आ रहा है। बाड़ी-बाड़े मे तिनके-से पेड-पौधो मे नाजुक-नाजुक पत्ते, ऊपर सब्ज जाल बिछाये बडे पेड़, साफ़ नजर आ रहे है, पुराने खुश्क गाढे सब्ज-नीले पत्तों पर कोमल हरित पत्ते, कही लाल-लाल छाने लगे है। पेड़ तले बौराये आम की महक। उसके साथ कटहल के फूल, पुन्नाग और नीम के फूलो की भीनी सुगन्ध। लालिमा लिये खिल आये है शेमल के फूल, जगह-जगह पाटली, पालिधा, गुलमोहर पर झूल आये हैं फूलों के सघन झुमके।

देह को सुहाता-सा पवन का झोका बहता आ रहा है। उसमे कई तरह की महक है। सारे जीव-जन्तुओं में एक प्रकार की नवीन चचलता है। मुखिया बन्दर मानो अधिक उल्लास मे उछल-कूद कर रहे है। चिड़ियों के कण्ठ मानो पहले से कई गुना खुल गये हैं। मैना, हलदी बसन्त, कलिंग आदि पक्षी बराबर चहक रहे है। रात-भर चीखने के बाद दूर आकाश पर हंस चिलिका की ओर से लौट रहे है।

वसन्त आया है। मेढों के किनारे पर जगह-जगह साँप के केचुल। गाँव के आदमी की चंचलता मानो प्रकट हो जाती है, फुस-फास की काना-फूसी मे, गाँव के कलह मे, नयी योजना बनाने मे।

गाँव मे भेद के पीछे-पीछे चन्दा। दोनों दल चन्दा उगाहने मे जुट गये हैं। किसी से दोनो ओर के लिए दुहरा चन्दा। अपनी तरफ को ठीक रखने के लिए चन्दा उठाना ही पडेगा। कर सके तो बहुत काम हो जायेगा।

अलग-अलग घर के अलग-अलग चूल्हे होने की तरह गाँव मे दो अखाड़े, दोनो दलों के। वहाँ मन्त्रणाएँ चलती, दूसरी तरफवालों के लिए परेशानी कैसे बढ़ायी जाये, कौन-सा पेच लड़ाया जाये कि उस तरफ की नाक ज़मीन में रगड़ी

जा सके, मुंह पर कालिख पुत जाये। पेशेवर झगड़नेवाला खड़ा किया जा सकता है, जो दूसरे पक्ष को लताड़ेगा। खुला पालावालों की लड़ाई की जा सकती है, जो चामर हिला-डुलाकर गीतों के ज़रिये गाली देते रहेंगे। [गाली निकाली जा सकेगी, और इच्छा हुई तो स्वाग भी भरा जा सकेगा, गाँव मे कवियों की तो कोई कमी नही। इसके अलावा बाजा, मृदग, और फिर ऐसे बोल छूटेंगे कि मुनि भी विचलित हो जायें—जैसे

"ताता ताता थेइया
जो धोइआ, जा धोइआ।"

घण्टा बजाने का भी ढग है, उसके बजाने के शब्द से गाली निकाली जा सकेगी, पारखी ग्राहक कानो मे पडते ही जान लेंगे कि—"घण्ट धुअ मादल धुअ डेईं पड रे—(अमुक) पुअ।" इस तरह चिढाकर आदमी को पागल बना देना होगा, एक बार पागल होने के बाद तो शुरू होगी मारपीट। गाँव के कलह की आग लपलपाती उठेगी हज़ार-हज़ार लपटो में। उसी की प्रतीक्षा है।

ताक-झांक, अडना-डटना, धक्का-पेली। यह उसके और वह इसके गाय-गोरू काँजी-घर ले जाने मे लगे हैं, बिलकुल सनातन कौशल। बाधा देते समय सिर चाहे न फटें, पर गाली-गलौज की बौछार करने का तो अवसर मिल ही जाता है। खेत का कलह तो मुट्ठी मे ही समझो, पहले हल-बैल जाने का रास्ता बन्द, उस तरफ़ के लोगों का खेत पड़ा तो खेत मे जाने का रास्ता पहले की तरह खुला नही मिलेगा, बाहर से घूमकर जाने को कहा जा सकता है।

छोटी-बडी अदावतें चल रही है, सब बल रहने तक गला साध रहे है। घर के सामने खड़ी हो कमर तक झुक, पीठ की ओर हाथ किये बस्ती को कँपाती हुई औरतें गालियाँ झाड रही है। एक ज़रा थकी कि दूसरी सहारा देने आ जाती है।

बाहर रास्ते पर मरदो में रे-रेकार चल रहा है, अचानक इधर से पाँच तो उधर से सात कहाँ-किधर से दौड आते है, आमने सामने जमकर वाक्-युद्ध छिड़ जाता है। चीखो और चिल्लाहटो से मानो आकाश फट जायेगा। धमका-धमकी हुई, नगे बदन चिलचिलाती धूप मे ऐसी उछल-कूद मचायी मानो दो-चार लाश पड़ेंगी। किन्तु कोई दुर्घटना नही हुई। देखा तो रास्ता सुनसान, कुछ नही हुआ।

हरि साहू दुकानदार हिम्मत के साथ बैठा रहा अपनी गद्दी पर। सहायता के लिए हट्टा-कट्ठा बेटा है। उसने पहले कभी चन्दा नहीं दिया, अब भी नही दिया।

किन्तु छोटा दुकानदार धोबा नायक इस टण्टे से उबर न सका! केवट बस्ती के सिरे पर किनारे के पास उसकी छोटी-सी दुकान है, उसकी ज्यादा दुकानदारी अहीर और केवटो मे है। वे उधार लेते है, किन्तु डुबोते नही। लेते हैं—चुका

देते है। थोड़ा सौदा लेते हैं। परन्तु वह लोका नायक के कुटुम्ब मे से एक है, और अर्पति पधान कई दिन हुए तीन रुपये की उधारी कर गया है, इसके लिए कई बार वह माँग चुका है। अर्पति पधान ने उसके विरुद्ध लोगों को उकसाया है। अथच दूसरी ओर के लोगो का भी उसके प्रति मन साफ नही है। वे कह रहे हैं कि वह दूसरी तरफ के लोगों से कोई सम्बन्ध न रखे। उसके तो दोनो छोर गये, बकाया रुपये भी डूबने पर है।

और दोतरफा पड़कर परेशान होनेवालों में है—जुजेष्टी धोबी। जुजेष्टी और उसके बेटे को मिलाकर है पाटेली गाँव में एक घर धोबियों का। हालाँकि उन दोनों का अलग-अलग घर है। जुजेष्टी धोबी धुलाई अच्छी करता है इसीलिए दूसरे गाँवों से भी उसे बयाना मिलता है। इस दल के लोगों ने आकर कह दिया, "देखो, खबरदार! तुम उस तरफ़ के लोगों के कपड़े धोओगे, तो बस गाँव से निकल जाओ।" इस तरफ के लोग भी यही बात दुहरा गये। एक पक्ष ने कहा, "दधिवामन इस बार चन्द्रपुर के मेलन पर निकलेंगे, चन्दा हुआ है, तुम्हें दो रुपये देने ही पड़ेंगे।" दूसरे पक्ष ने कहा' "ख़बरदार, दधिवामन के लिए तुमने एक पैसा भी दिया तो! तुम हमारी तरफ़ के हो, सदा से साआन्त के सेवक हो, राधेश्याम ठाकुरजी का मेलन होगा, ठाकुरजी फिर चन्द्रपुर जायेंगे, चन्दा हुआ है, तुम्हें दो रुपये देने ही पड़ेंगे।"

एक पक्ष ने कहा, "तुम्हारी बहुत हिम्मत हो गयी, हमारे कपड़े अगर न धोने हैं, तो निकलो इस गाँव से रास्ते में चलना बन्द कर देंगे! साले, क्या समझ रखा है? भला चाहते हो तो कपड़े धोओ!"

दूसरे पक्ष ने कहा, "क्यों रे, चर्बी हो गयी, क्या? पित्त बढ गया? इन्द्र-चन्द्र किसी की खातिर नहीं? धोबी हुए हैं, कपडे नहीं धोयेंगे!"

बाहर ग्राम-सगठन की योजना, उन्नति-विकास का प्रचार।

और सब भीहर हैं।

गाँव के कलह का चाप केवल आदमी और पशुओं पर ही पड़ा सो बात नहीं, माटी और पेड़ों पर भी पड़ा। आड काटना, गाछ काटना तो मामूली बात हो गयी। अर्पति पधान ने तुरही बजा दी उस दिन जब कुल्हाड़ी की चोट पड़ी किनारे के विख्यात उस पीपल के तने पर। बहुत बड़ा, ऊँचा घना। पुराना पीपल का पेड़—मानो पाटेली गाँव का मुकुट हो। किनारे-किनारे आने पर कितनी ही दूर से दिख जाता। परदेश से लौटता गाँव का आदमी दूर से ही पेड़ों की भीड़ में पाटेली गाँव का पीपल-गाछ देखकर कह उठता—"वो, वहाँ है मेरा गाँव।"

वह बड़ा था——प्रकृति की जीवन-मत्तता मे, अपनी जीवनी-शक्ति का विकास दिखाकर केवल बल में, सौन्दर्य लोगों का सम्मानभाजन हुआ था। कितना विशाल वृक्ष! आस-पास के कुचला, बरगद और माहाल की तरह मानुष गढ़े ठाकुर नही कि ठाकुरजी का आश्रयस्थल नही। कुचले के पेड़ के नीचे कुचलेई देवी, बरगद की सात जटाएँ मिलकर सात बहनें, सेंहुड़ा पेड़ के नीचे जागुलेई देवी। वे सब गाँव की रक्षा करनेवाली हैं। अत. उनकी देह में पुत घनी-घनी सिन्दूर, नीचे माटी के अनेकों घोड़े, फिर भोग पाने की हण्डियाँ-सकोरे आदि ठीकरे। पीपल धरम का भेस फेंककर बड़ा नही, केवल अपने विकास में बड़ा है, जैसे कि एक प्राक्-वैदिक आर्य हो।

नदी के किनारे के उस ओर की ऊबड़-खाबड़ जमीन पर धार के किनारे उसका आसन है, उतरने पर दूर तक नदी का बालू फैला है। बाढ़ के समय वह पानी के बीच रहता है, पानी छूटने पर ठीक उसके किनारे से पानी बहता है। जड़ो से पानी के कटाव के कारण माटी बह गयी और जड़ें जटाओं की तरह दिख रही हैं, फिर भी उसका कुछ बिगड़ा नहीं। वैसा ही सीधा, वैसा ही अटल।

किसकी जमीन पर वह खड़ा है, किसी ने कभी नही पूछा। किनारे पर खड़े होकर अन्यमनस्क भाव से देखते समय वह अचानक याद आ जाता है। चिल-चिलाती धूप मे आँखें चौंधिया देनेवाले पत्ते, चाँदनी रात में झिलमिलाते, वर्षा में सनसनाते। तूफान के समय योद्धा की तरह और बाढ की प्रलय के बीच स्थिति की टेक थामे अकेले खड़ा रहता। तभी उसका अस्तित्व लोगों के हृदय में पैठा हुआ है। धर्म का प्रतीक न सही, जीवन का प्रतीक बनकर वह साहस का आश्वासन देता है।

अचानक एक दिन अपति पधान ने घोषणा कर दी कि उसने जो जमीन राण्ड अन्धी गुड़ियानी बुढ़िया से बन्धन लिखवा ली थी, पीपल का आधा उसमे पड़ता है, बाकी आधा पड़े भले ही मदना नायक की जमीन मे। इसलिए पेड़ जब उसकी जमीन दाबे खड़ा है, जड़ें पसर गयी हैं, तो उसे भी चाहिए कि वह पेड़ को काट-कर दखल करे।

"ऐं, शरदी बुढ़िया की जमीन पीपल गाछ!" लोका नायक ने कहा, "कहाँ, मेरी तो उमर बीत गयी, यह बात कभी तो सुनने मे नही आयी।"

"माप करा लो!" अपति पधान ने हाँका।

अपति पधान ने लाकर हाजिर किया अमीन आरत महान्ती को। नपाई शुरू हुई। गाँव के लोग कमर पर हाथ धरे पान खाते हुए देखने लगे। मन मे कुतूहल, कैसे यह असम्भव बात सम्भव होगी। आरत अमीन ने चारो ओर घूमकर कहाँ-कहाँ से पत्थर निकाले। कहा, खोदो यहाँ पर, पत्थर है। पत्थर निकला, सबकी आपत्ति के बावजूद लाइन लेकर माप कर ठीक बैठा दिया पीपल को शरदी

गुड़ियाइन की जमीन पर।

गांव के लोग मुँह बाये देखते रह गये। अर्पति पधान मन ही मन मुसकाता रहा। आरत अमीन ने पीपल का आधे से अधिक भाग शरदी गुडियाइन की ओर दिखाकर पेड़ के पिछवाड़े में कील ठोंक दी। कहा, "यहाँ पन्द्रह कड़ी पूरी हुई, शरदी गुड़ियाइन की इतनी दूर मे पूरी होती है।"

लोगों का झुण्ड। किसी के मुँह में जैसे ज़बान तक नहीं। दोपहर में अर्पति पधान ने कहा, "मेरी ज़मीन का तो सत्यानाश कर दिया इस पीपल ने, जो हो, खैर, दो गाड़ी काठ ही काटने पर काम आयेगा।"

लोक नायक ने सिर हिलाते हुए कहा, "यह कैसे हो सकता है! पीपल के गाछ पर कुल्हाड़ी चलेगी? फिर गाँव-भर के गाछ पर?"

अर्पति ने कहा, "नहीं पड़ेगी क्यों? अपने-अपने घर में सब है; यही तो न्याय है। मैं तो किसी के घर में घुसने नही जाता कि कोई दो बात कहे। उधर का आधा तो मदना नायक की ज़मीन मे पड़ता है। काट ले जाये उधर का टुकड़ा, कोई ज़बान तक हिलाये!"

अचानक दोनो पक्षों में हो-हा मच गयी। शुकुटी मिश्रजी नाक से चीं-चीं करते कहने लगे, "अधरम, अधरम! यह तो घोर कलयुग है! आदमी अश्वत्थ वृक्ष रोपता है, धर्म करता है, और कोई कुलांगार उसे काटने की बात सोचता है। यह नाप-जोख गलत है। यह न्याय गलत है, इसमे सब ग़लत ही गलत है।"

आरत अमीन अचानक गुस्से में भरकर मिश्र के चेहरे के आगे नाच उठने की तरह हिलकर गरजने लगा, "क्या...या...कहा? क्या कहा? यह नाप गलत है! बडे नापनेवाले आये! लोश्ला, ब्रह्मादेस से हजारीबाग, खोर्द्धा, अठारह रजवाडे, वैपारीगुड़ा, दुनिया-भर नापता-नापता आया, बाल पक गये इसी नापने मे, और आज यह शुकुटी बाभन कह देगा कि आरत महान्ती की नाप भूल है!"

बिदेई बेहेरा ने कहा, "नहीं, मेरा मन नही मानता, तुम गाँव के उस सिरे से बेबाक नापकर लाओ।"

आरत ने कहा, "क्या कहा, सारा गाँव सर्वे करता-करता आऊँ? यही कहते हो? ठीक है, कर दूंगा। जितने दिन भी लगें, गाँव-भर की नाप-जोख़ निकाल दूंगा। किसने किसकी ज़मीन दबायी है, किसकी बाडी में घर बनाया है, आम रास्ते से कितना कौन खा गया, सारा नाप दूँगा। आलू खोदते-खोदते महादेव निकलेंगे। मेरा क्या जाता है? पर सारा गाँव नपेगा, पहले मेरी फ़ीस रखो। पहले रखो पन्द्रह रुपये, चाहे बाकी बाद में देना। लाओ, अभी नाप शुरू करता हूँ।"

लोका नायक ने कहा, "काहे की 'फीस' ना 'फिस'? क्यो, हम क्यों रुपये

मेरी ज़रा-सी यह बात मान। लोगों के मन मे कितना दुख हो रहा है, देख तो सही ? ये दो डाल हमारे पड़दादा से भी बूढी है, गाछ की ओर तो निगाह उठा, कैसा दिखता है ? आज से उसकी श्री ही समाप्त हो गयी। यह तूने गाछ पर अपने हाथ का निशान रख छोड़ा। इतने मे ही तेरी मनोकामना पूरी नही हुई, फिर और कटवाता है ? कितने दिनों बाद आज कितनी बड़ी बात हो गयी ? आह ! रहने दे अर्पति, अब भी रोक।"

अर्पति ने उनके पीछे की ओर देखा। लोगो की भीड भरी थी। आदमियों की भीड़ का तूफान उमडा आ रहा है। अब साँझ ढलेगी। वह उल्लू नही। आवाज दी, "अब गाछ काटनेवाले उतर आयें। यह तो दस गाडी होगा। कण्टराक्टर बाबू से कह देना। साँझ डूबने गयी। बाकी रहने दो और किसी दिन।"

कुली उतर गये। उनके साथ-साथ चला गया अर्पति पधान। आज उसने गढ जीता है। किनारे पर से गाछ की ओर देखा। इस ओर निचली दो डाल घनी होकर कितनी दूर तक फैल गयी थी, अब वे और नही है। उनके बदले खुला-खुला दिख रहा है नदी के ऊपर घिर आता हुआ हलका-हलता अन्धकार। एक ओर से सफाचट होकर गाछ कैसा तो दिख रहा है—जैसे कोई हथकटा भूत हो।

मुड़कर अर्पति पधान अदृश्य हो गया।

गालियाँ देते बकर-बकर करते लोग चले गये।

रास्ता रोककर दोनों डालें पडी रही, धुलाई-सफाई करने एक-एक कर गाँव के लोग-बाग, औरतें नदी की ओर चल पडे। डाल के पास आने पर बात-चीत बन्द कर देते। छाती मे चाँव-सा लगता। धीमे-धीमे बातें कहकर दूर हटते हुए वे लोग आगे बढ जाते।

डाल नही, दो लाशें है।

पीपल गाछ फिर भी निर्विकार, फिर भी मजबूत, सीधा खडा था।

वैसे ही सीधा खडा, आकाश में तारों की ओर सदा की तरह देख रहा था —जाये, चाहे देह से एक टुकड़ा।

छवि।

रवि की चेतना को मानो वह भेद गयी है, जैसे उसके रक्त में उसकी स्मृति घनीभूत होती गयी है। मन ही मन कई भगिमा मे वह सजती-सँवरती है और मन की गहराइयो मे से अपने आप बाहर निकल आती है उसके चेतन मन की जानी-पहचानी स्मृति में। हाँ, उस दिन चट से उसकी नीद टूटी थी...लम्बी-

लम्बी सांस भरते हुए वह बाहर बरामदे पर निकल आया था। सामने चांदनी फैली थी। कितनी चुपचाप। कितनी छाँह-भरी। उसे लगता था मानो वह कुछ ढूंढते हुए बाहर निकल आया था उठकर; और ऐसी रात और चांदनी तले कई रूपों मे छांह बिछ गयी है और सामने सब कुछ जाननेवाली चांदनी रात है जो थोडा-सा स्पर्श पाने पर उठ बैठेगी। उस जादू-भरी रात में नशीली पगली चेतनता में वह छवि के ध्यान मे खोया हुआ था;...या और किसके ?

और तब रात के आकाश पर, क्या पता कितनी दूर चिलिका से घर लौटते हंस उड गये कि उनकी घर लौटती रागिणी के कई पद झर गये। आकाश के अनन्त पथ पर मानो उसकी कामना माया बनकर उड़ गयी...और तब भी उसने छवि का ही अनुभव किया था।

छवि तो वैसी है, जो आंखों को दिखाई नही देती। दूर के इशारे की तरह उसे महसूस किया जा सकता है। चारों ओर जब तनहाई से भर जाती है, जब चारों ओर हर तरह से बन्द वर्तमान की कहानियां सो जाती हैं और मन का दिग्वलय खुल जाता है, जहाँ अतीत और भविष्यत् एक-दूसरे का हाथ थाम लेते है, तब आंखों के आगे वही चेहरा उभर आता है और वही सकेत-ज्वार उठाता है। अपने आप उस ज्वार मे झूमती-नाचती लहरों से खेलती हुई पता नही कब उसकी चेतना एक नयी दिशा पकड़ती है और छवि फिर से मन की गहराई मे डूब जाती।

चेतन मन से छवि की कहानी को रवि तोलने लगता है। जितना देखा था उसके साथ कई गुना मिलाकर वह उसे एक जीवन्त रूप देता है। उस सरल, निष्पाप, निर्दोष लड़की को लोग अकारण बदनाम कर रहे है। यह भी वह समझने की कोशिश करता है। वह सोचता है—वे पागल हैं, उनका मन बीमार है, नही तो क्या कोई फूल को पैर तले रौदता है ? इस तरह के बीमार दुनिया में भरे पड़े हैं। कोई राष्ट्र ध्वस करता है, कोई लड़ाई करवाता है तो कोई गला दवाता है। ये सब एक ही सांप के ज़हर है।

अपने को छवि की दुर्दशा का कारण मानकर वह कभी-कभी अधीर हो उठता है। लोगो के मुँह की अफवाहों को याद करते ही उसे लगता है मानो उसकी बढ़ती चेतना के सफेद चादर पर काले धब्बे अभी-अभी पड़े हैं। बाहर के लिए यह झूठ है, पर मन कहता है यह सच भी हो सकता है। यहाँ झूठ से सच का अन्तर सिर्फ एक ही मोड़-भर है। उसपर वही झूठ की सम्भाव्य सूचना से ही उसका मन महक उठता है; क्योकि वह खास अपनी है, मन की गहराई मे उसकी स्थिति है। बाहर से चोट लगने पर निगाह उसी ओर चली जाती है और वह बारम्बार अनुभव करता है कि वह कही है, वह स्मृति उसकी अपनी है, और वह उस मोह को स्वीकारता है अपने आप।

और कभी वह चौक पड़ता है, बहकर चली गयी हवा को दूर की आवाज़ को मन लगाकर सुनने की तरह उसकी छाती धडकने लगती है, यह सोचकर कि वह गयी और लौटेगी नही। सब दिन के लिए चली गयी। तब वह समय के खिचाव का अनुभव करता है मन ही मन, उसी खिचाव के कारण तो माँ की गोद से शिशु चला जाता है। खो जाता है।

फिर शान्त होकर भविष्यत् को देखने को मन करता है...सामने लम्बी राह है, लाल तीखे पत्थरो पर पडी धूप से मानो दहक रही है। कछुए की पीठ की तरह दूर क्षितिज तक फैल गयी है। पत्थर बनकर सीधी तरह चलना है...न बायी ओर न दायी ओर। रास्ते मे न पेड़ की छाँह है न सराय है। सिर्फ सीधा...सामने की ओर!

जाना ही होगा।

इतने आदमी, इतनी समस्याएँ, इतने सारे लोगों के अनगिनत दुख-दर्द; इसी हाथ से दुखी का उजडा घर बनाना होगा, टूटे उजडे आदमी को सीधा कर खडा करना होगा, पत्थर और ओले की चोट सहन करते हुए राह चलने लायक बनाने के लिए, सपने को वास्तव बनाना होगा। यहाँ निकम्मेपन और पागलपन के लिए जगह कहाँ है! स्मृति वहाँ एक-रस राह की कविता हो, यन्त्र की शक्ति हो... जाना ही होगा!

गाँव की हिफ़ाज़त के लिए मन किया है, अपने लिए काम निकाले है, निर्घण्ट और योजनाएँ बनाकर समय को क़ाबू में रखना चाहा है। कितने घर मे कितनी उलझनें है...कैसी-कैसी परिस्थितियाँ है...कितने काम, सिर्फ़ काम, काम!

शहर चलना होगा। कुछ दिन हुए भोर-भोर से उठने की इच्छा होने लगी है। विपिन ने पत्र पर जवाब दिया है—लिखा है एक बार चलने को—बहुत-बहुत। उसे लग रहा है, उसे भी ज़रूरत है, कई लोगों की ज़रूरतें; जैसे कि वही विशेष कर गाँव की उन्नति के लिए लग गया है। शहर से इसलिए कई सुविधाएँ जुटानी है। गाँव में चेचक के टीका लगवानेवाले को ले जाना है। आस-पास के गोरुओं के खुरों में घाव का रोग धीरे-धीरे फैलने लगा है, इसलिए डॉक्टर से सलाह लेनी है। खेती के लिए अच्छा बीज और खाद का ठिकाना करना होगा। इन सब कारणो से परे उसमें एक इच्छा भी है, जिसकी कोई संज्ञा ही नही है।

रवि जाने के लिए निकल पड़ा।

रास्ते ने उसकी भावना बदल दी। लगता है, यहाँ कोई-सा भी घर उसका अपना हो सकता था। वैसे ही छप्पर, दीवार, बाडी-बगीचा, नारियल के पेड। वह जो आदमी खुरपी लिये घास खोद रहा है, जो हल लिये खेत की ओर जा रहा है, जो कन्धे पर बहँगी रख नाचने की भगिमा में चला जा रहा है, वे सब उसके गाँव

के लोग हैं। पराये गाँव मे किसी के घर देखने पर लगता जैसे अपने गाँव की गली के काका, दादा या भैया या ताऊ का घर हो, रुककर देखे तो शायद वे बाहर निकल आयेंगे। वे ही परिचित बच्चे हड़बड़ाकर दौड़ आयेंगे। पीछे कंगन-चूड़ी आदि पहने मैले कपड़ों मे बायाँ पैर आगे कर स्नेह से भीगी आँखों से देखती कोई काकी या भौजी खड़ी होंगी...। यही तो सब कुछ है...हर जगह, हर एक का घर है।

अनुभव कर रहा था, यही तो उसकी जन्मभूमि का सदा का रूप है, सर्वत्र करुणा। वेश-भूषा का आडम्बर नही, मीठी-मीठी बातों का अन्त नहीं। सब उसी के हैं।

इस मोड के पार पाटेली गाँव है। नदी यहाँ किनारे तक सरक आयी है, तीखा, पतला। उसके नीचे संकरा बालूचर। किनारे पर ख़ूब घना बगीचा। कही शहद के छत्ते बने है, मधुमक्खियां गुनगुना रही हैं। आम के बौर की छुपी महक मे घुल गयी है पुन्नाग की उग्र सुगन्ध। देह अलसा-सी रही है। रवि ने नदी की ओर देखा। पानी के पास बालू पर घडियाल पसरा है। पानी के किनारे लम्बे पैरवाले सफ़ेद बगुले। छोटी-छोटी चिड़ियाँ पानी पर लोटती-सी चक्कर लगाकर भाग-दौड़ मचा रही है। और इन्द्रनील शरीरवाला मछरंगा ऊपर उठकर पानी पर सीधा झपट रहा है। समय नौ के क़रीब। धूप कुछ-कुछ तपने लगी है। माथे पर हार की तरह पसीने की चमकती बूंदें। नदी से उठती आ रही है भीगी सर-सराती हवा, उसमे नदी की सुगन्ध, भीगे बालू और पानी की।

रवि रुककर घडियाल को देखने लगा। कितनी सुन्दर दिख रही है उसकी गुलाबी पूंछ। कितना स्थिर लग रहा है उसका चेहरा। घड़ियाल के प्रति उसे क्रोध नही हुआ। अपने ख़यालो में खोया वह पानी में उतर पड़ा। याद आयी उस दिन की बात—

नूआ बहू टि
नई कि गाधोई यिबु नाहिं टि
थटिआ किभीर जगि बसिछि
टाकु किना गिलि दबटि ॥
(नयी बहू, देख नदी नहाने मत जाना। घड़ियाल ताक में है निगल जायेगा।)

डर नही लगा।

उसकी कल्पना में छवि आयी है पानी लेने, और पीछे-पीछे जा रहा है स्वयं वह। घडियाल और वह भाई-भाई।

पानी के किनारे ख़स का घना झुरमुटा है और कही कुछ नहीं।

घड़ियाल टप से डूब गया। बगुले फड़फड़ाये। छोटी-छोटी चिड़ियों का खेल पानी से काफ़ी ऊपर उठ गया। कही से आकर टेंटई चिड़िया उसके सिर पर

चक्कर काटने लगी और चहकने लगी। शायद बालू में कहीं अण्डे दिये होंगे। रवि पानी के किनारे-किनारे चलने लगा।

बालू पर जगह-जगह आदमियों के पैरों के चिह्न हैं। कितने आये, कितने गये। दूर से दिखता—तट के नीचे-नीचे सीढ़ी की तरह अरथी के बाँस, फटे कपड़े-चिथड़े, इधर-उधर पास-पास तक की चिड़ियों के चिह्न की तरह टुकड़े-टुकड़े पड़े हैं।

रात में घूमनेवाले सियार और लोमड़ी के पद-चिह्न।

बालू की छाती पर बिछे पदचिह्नों के हार! कतार की कतार।

वे चले गये हैं।

जगह-जगह अगरा के फूल खिले हैं। जगह-जगह काँटेदार अंकरान्ति की बेल लिपटी है। पानी के किनारे जगह-जगह छोटे-छोटे गाछ, बेमौसम कुजगह गेंदे की सूखी माला से पौधे उग आये है, तुलसी के गुच्छों से तुलसी के पौधे। पशुओं के शरीर से लगकर यहाँ तक आते 'बाघनख' के झुरमुट उगे है। बालू में मानो जीवन लिखा है।

आदमी का सकेत है। कहीं परिचय भी रह गया है। बालू से पानी आकर टकरा रहा है...कोई नहीं है।

जब ख़याल आया तो देखा सामने ज़नाना घाट है, औरतें नहा रही हैं। पानी थिरक रहा है। यह घाट पाटेली गाँव का है। वह अचानक लजा गया। मन हुआ कि वहाँ से दौड़कर भाग आये। उन नहाती हुई औरतों पर तीर की तरह नजर फेंकी। लाज से चेहरा झुलसा जा रहा था। हकबकाते-से इधर-उधर देख अपने को छिपा लेने के लिए वह बेरास्ते चलने लगा...ऊबड़-खाबड़ और गन्दा...। ढूह और गड्ढों को पार करते हुए घूम-फिरकर जैसे-तैसे भागता-सा वह फिर पहुँचा किनारे पर। किनारे पर खड़े हो इधर-उधर देखा। बहुत पीछे रह गया था वह घर, धूप भी तेज हो गयी है। सूरज ऊपर चढ़ चुका था। यही है वह कच्ची सड़क। उसका मन भी हाँफने लगा था। उसे ख़ाली-ख़ाली-सा लग रहा था। सपाट बालू पर नीले धुआँ की तरह धूप की लहरें चमकने लगी थीं।

अब सिर्फ़ रास्ता है सामने...और धूप है।

मन में उमंग मानो पानी की धार की तरह बालू में पड़ बालू में ही सूख गयी।

शहर पहुँचकर उसे लगा मानो वह अपना आने का उद्देश्य ही भूल गया है।

ख़ाली भीड़ देखकर आदमियों के झुण्ड में घुसकर इधर-उधर देखते-देखते वह
बँध-फँस गया है; देखने को मन नहीं है, लौटने को भी रास्ता नहीं है।
और लगता है जैसे यह शहर कोई सन्दूक है, जिस पर ढक्कन है और उसी
मे वह घुस गया है। इतने लोगों के बीच हर एक उस नपी-तुली सड़क का राही
है। उसकी बाड अलग-अलग लोगों के दावे और अधिकारो से गढ़ी गयी है।
व्यक्ति की स्वतन्त्रता अपने को अटूट रखने मे जितनी व्यग्र है उतनी ही संयत और
सीमाबद्ध भी।

केवल कोठे के सिरे ही नहीं, अहाते की दीवारें ही नहीं, प्रत्येक की स्वतन्त्र
वृत्ति और उद्देश्य यहाँ एकजुट हुए है।
इर्द-गिर्द का रूप-समूह स्वतन्त्र उद्देश्य के बर्छे की नोक की तरह बींधता
जा रहा है, इमारत बनाने के लिए ईंट-पत्थर, छड-बालू ट्रक पर लादे जा रहे हैं,
लोग गाड़ी पर चल रहे है, पैदल चल रहे है, दूकानो मे बेचने-ख़रीदनेवाले हैं,
दफ्तरो मे कागज पर झुके लोग काम कर रहे है, विद्यालयों में पढ़ाई चल रही
है, सब अपने-अपने मतलब मे चचल है, गतिशील हैं, प्राणवन्त हैं।
जैसे उसी का कोई उद्देश्य नहीं है। वह क्लान्त है।
गांव आ गया। सर पर ढोनेवाले की टोकरी मे लपलपाते ताजा साग और
बैंगन, दूकानो मे चावल, साग-भाजी की दुकान मे ढेर की ढेर सब्ज़ियाँ मुरझा
गयी है, उनपर धूल की परत चढ गयी है। उन्हे ताजा करने के लिए दुकानदार
पानी छिडक रहा है। मार खा-खाकर सांड आंख टिमटिमाता मुँह बढाता इस
दुकान मे उस दुकान को लपकता जा रहा है।
गांव आ गया है। इतने लोग जो यहाँ है वे सभी उसी के गाँव के हैं। गेहूँ के
खेतों की छवि, अमराई और नारियल-ताड के बगीचे के बगीचे, कतारो मे फँसे
खेतों का मोह, नदी के किनारे चौड़े सपाट इलाके मे फैली सब्ज़ क्यारियाँ, उर्वर
खेतो मे लहराते धान के हरित पौधे और सन के हरियाले पत्ते; सब मानो धूल-
धुआँ और कोलाहलमय शहर मे जीविका-अर्जन के नशे की आड़ मे छिप गये
हैं!

छोटी-बडी फैक्टरियाँ बन रही हैं। वह देख रहा है; धूप की तपिश मे काम
पर निकल आगे-पीछे औरतें चल रही हैं। पत्ते-से नरम सिर पर ईंट उठाकर
कोई युवती चली जा रही है। खुले पैर तपती जमीन पर पड रहे हैं, हवा मे धूल
का छोटा सनसनाता आ रहा है...आँचल उड़ाती जा रही है...दातो मे दबाये
रखना भी मुश्किल है, मानो भरी दोपहर मे शहर की भीड़ के बीचों-बीच नारी
की लाज बेपर्द हो रही है। घर की रानी और लक्ष्मी मजदूरनी बन निकल पड़ी
हैं, अवस्था ने विवश किया है; यह कोई नयी बात नहीं। जाये जो जाने को है।
वह जीने को लड़ रही है, हार नहीं गयी।

पर सामने बढ़ता शहर का रूप बिछा पड़ा है—इतना ध्यान उसने उस दिन रात में नहीं दिया था। चौड़ी सड़क की काली पीठ, कतारों में बिजली बत्तियों के खम्भे दूर खेत के उस पार तक पसर गये हैं। लम्बा बाजार, कितने छोटे-बड़े होटल, कितनी दुकानें, सबके सामने मधुमक्खियों की तरह आदमी हैं। दूर ऊँचाई पर पानी की टंकी धूप में चमक रही है, चौक पर नल है। सटे हुए कई घर हैं .. और भी बन रहे हैं।

पोखर के इस ओर दो मन्दिर बने हैं, छतवाली दो इमारतें बनी हैं। वह कहता है—नये शहर मानो पुराने भारत में कुकुरमुत्ते की तरह खिल रहे हैं जिसमें न आभिजात्य है, न सौन्दर्य। सीढ़ियाँ, बैठने के लिए आसन, पत्थर से बना किनारा—साफ-सुथरी जगह देख एक-एक सर थामे कई भंगिमा में नाई बैठ गये हैं और लोग सुस्ताते हुए-से उनकी कैंचियों के पास मानो आत्मसमर्पण किये हैं। किसी का कान पकड़कर कहीं कान के ऊपर के बाल काट रहा है तो कहीं समूचे सिर को गोद में दाब रखा है, कहीं किसी के गाल थपकाते हुए इधर-उधर घुमाकर सही जगह ला रहा है सिर को। कोई साँस रोके आकाश की ओर ऊँट की तरह ताकते हुए बैठा है और नाक को ऊपर उठाकर नाई मूँछें उड़ा रहा है खूट से, जैसे कोई कठिन ऑपरेशन में व्यस्त हो और जीवन-मृत्यु की समस्या है। कहीं मालिश चालू है, एक छोटा-सा गमछा लपेटे हुए कोई छाती के बल लेटकर अपनी पीठ सौंप दी है मालिशवाले को खेलने के लिए। वहाँ स्त्री-पुरुषों की भीड़ है, कोई पोखर की ओर जा रहा है तो कोई आ रहा है। बाल बनाने-बनवानेवाले निर्विकार भाव से बैठे हुए हैं...रिक्शा, बैलगाड़ी, सायकिल, कभी-कभार बालू-पत्थर से भरे ट्रक उसी ओर से गुजर रहे हैं। कोई कुछ भी क्यों न सोचे, सोचता रहे। शहर के लोग अपनी शहरी आदतों के अनुसार अपनी-अपनी सुविधा देख अपना मतलब पूरा करने में जुट पड़े हैं।

विपिन का घर आ गया। विपिन घर पर नहीं है—गश्त पर गया है। अरखितिया ने खातिरदारी की—घर पर बाबू नहीं हैं तो क्या हुआ। घर तो है; वह तो है सेवा करने के लिए। चले जायेंगे तो बाबू लौटने पर दुःखी होंगे! उन्हें रहना ही होगा। सारा साजो-सामान मौजूद है। अरखितिया ने रसोई का इन्तज़ाम किया।

राह चलते हुए आकर, देर से खाने की वजह से थकावट की गहरी नींद लग गयी थी जो अरखितिया और किसी और की बोलने और हँसी की आवाज से टूटी। उठकर वह बाहर आ गया। दूसरा व्यक्ति एक युवती थी। उसे देखकर भागता-सा जाकर अरखितिया चिल्लाता हुआ कहने लगा, "साफ करना इसे अच्छी तरह...ऐ सुना, समझती है कि नहीं। देख, चिकनाहट न रह जाये, बाबू आयेंगे तो नाराज होंगे। बदबू आयेगी, समझी।" और युवती खुले पीठ पर पड़ी लम्बी

चोटी को झटके से उछालती, देह को लहराती-लहराती-सी कहने लगी, "अरे मेरे हाथ लग जाये तो सूखा-चिकटा तक नहीं रहता और सब चमकने लगता है। बात ही बात में वक्त टालते हो, सारे बरतन तो वाहर निकाल देते ! उठो...।" और वह तिरछी नजर से रवि को देखने लगी। शरारती मुसकान बिखेरती हुई झट से कन्धे पर से आँचल खींचकर पीठ ढँक ली उसने। पूछा, "बाबूजी के भाई लगते है क्या ?" अरखितिया ने बताया, "भाई नहीं, दोस्त हैं।" अकारण हँसकर रवि को देख, वह फिर काम में लग गयी। उसके साथ-साथ 'यह कर वह कर' कहते हुए घिसटता हुआ-सा अरखितिया अन्दर चला गया। और चौंकता-सा लौट आया मानो कुछ अचानक याद आयी हो। पूछा, "चाय बनाऊँ ?"

"नहीं।"

सुना बुहार रही थी। आवाज धीरे-धीरे पास आ रही थी। रवि कुरसी पर बैठा था, अब दिखा, दरवाजे की उस ओर झुकी हुई सुना घर बुहारने में जुट गयी है। उसका रंग काला नहीं, अगों मे उमर की कसाव है। पैर साधारण पैरों से कुछ बड़े हैं। चेहरे पर से बचपना उतरा नहीं है। वह एक हरी पतली साड़ी पहनी हुई थी, ऊपर आधी बाँह का ब्लाउज। झुककर लहराते हुए आगे बढ़ती जा रही थी, धीरे-धीरे। हाथ मे झाड़ू। दूसरी ओर अरखितिया है, साफ़ नजर आ रहा है।

रवि ने सुना की कल्पना किसी की गृहिणी के रूप मे की...वह शायद इस तरह किसी दूसरे के घर काम करने नहीं आती...अपना आँगन बुहारती होती।

अरखितिया कहने लगा, "आप तो हैं ही घर पर। मैं बाजार हो आऊँ। खुला घर है। खाली रहे तो चीज बचेगी नहीं।"

सुना कुछ भी बोली नहीं। बुहारती-बुहारती घर के एक कोने मे अलसाकर बैठ गयी और रवि पर तीर-सी नजर फेंकने लगी। फिर बुहारती-बुहारती धीरे-धीरे रवि की ओर बढ़ने लगी। उठकर रवि बाहर चला आया। बोला, "देखो, तुम्हें जाना है तो काम खतम करके किवाड़ बन्द कर जाना। मैं भी निकलता हूँ। बहुत काम है।"

रात को दिखाई पड़ी नहीं। अब साफ नजर आ रही है विपिन के मकान की उस ओर की छोटी-सी बस्ती...छोटी-छोटी, आपस में सटी हुई झोंपड़ियाँ, सब अलग-अलग ढंग से बनी हैं। टूटी-फूटी उन झोंपड़ियों पर दरिद्रता ने अपनी मुहर लगा रखी है। पूछा उसने, "वहाँ कौन रहते हैं ?" अरखितिया उत्साह के साथ समझाने लगा—"पता नहीं जी, कहीं-कहीं से, दूर रजवाड़ों से और फिर दक्षिण से काम-धन्धा ढूँढ़ने आये लोग यहाँ झोंपड़ी बनाकर बस गये हैं। मजदूरी भी तो रोज मिलती नहीं, काम करने के लिए भी काफी लोग हैं, जैसे-तैसे पेट पालते हैं। सुना का घर भी वहीं है।"

शाम ढल चुकी है। उस ओर का नाटक नज़र आ रहा है। एक पुरुष एक स्त्री एक दूसरे पर कीचड़ उछालते-से चीख-चीख़कर झगड़ रहे है। पुरुष स्त्री को मारने को झपट रहा है और स्त्री की भंगिमा और गालियों की बौछार से फिर रुक जाता है। दोनों नाना मुद्राओं का प्रदर्शन कर रहे है। अरखितिया कहने लगा, "पहले ये आराम से थे...शान्ति थी, अब कुछ दिनो से लड़ने-झपटने लगे है। औरत बड़ी मुँहफट है।"

सुना बरतन मांज रही थी, कहने लगी, "ख़ुद मेहनत कर कमा रही है, क्यों उसकी बात सहे ? घर से फुसलाकर उसे ले आया। लाकर परदेश में रखा, और यहाँ आकर कुत्ते की तरह सत्तर पत्तलों में मुंह गड़ाये...जूठन चाटनेवाला ! बेशरम, यहाँ मर्दानगी दिखा रहा है, लाज नही आती।" इतने मे मानो सुना ने अपनी रुचि और इच्छा का वर्णन कर दिया।

अरखितिया ने टोका, "सिर्फ उसी के सिर पर जूँ हैं कि चुगेगी। कौन कहाँ से आकर रह-बस गये है...यहाँ न लड़ाई बन्द होती है न हल्ला-गुल्ला।"

सुना बोली, "मेरा बापू उन्हे अपने चौखट तक आने नही देता। माँ शीतला ने उसकी आँखें ले ली, फिर भी कोई पकड़ मे आ जाये तो पीस डालेगा। लकडी काटकर हथेलियाँ पत्थर बन गयी है। बुराई देखी तो जान से मार डालेगा। भाई भी बहुत गुस्सा करता है, उसी के डर से हम बहनों से बात करने तक की हिम्मत नही है उनमे।"

उस ओर बस्ती की दो युवतियाँ इस ओर के बरामदे की ओर देखकर लाड़ से एक-दूसरे को धकेलने लगी हैं। सायकिल पर से उन्ही के सामने युवा उतरा और फिर बात शुरू कर दी है। पतला आदमी, पैंण्ट और हवाइन पहने फिट-फाट नज़र आ रहा है। सुना हँसती हुई बोली, "मरी आज बउल !" (सहेली के लिए प्यारा सम्बोधन)।

अरखितिया ने पूछा, "कौन है वह ?"

सुना बोली, "पता नही कौन है...हम जानते है...बाबू है...बाबू है कि आबू है ! बड़ी-बड़ी डींग हांकता है...बडा ही फुसलानेवाला। बउल से कहता है, आ मेरी बन जा, मेरा घर बसा। बउल भी ऐसी फूल बन रही है कि पैर उठाये खड़ी है जाने को।"

अरखितिया हँसा। तबतक रवि का अजनबीपन भी कुछ-कुछ छँटने लगा था। हँसकर कहा, "अच्छी बात तो है, ठीक तो कह रहा है, तेरी बउल सुख से रहेगी।"

यह सुन मानो सुना के मन के अन्दर कही सुलगती आग अचानक जली और वह भभक उठी। मुंह बनाकर कहने लगी, "सब सुख के साथी है, दुःख में कोई साथ देता नही।"

सुना उठकर चली गयी। उसकी बात मानो रवि के मन में चिपक कर रह गयी। सुना ने दो आदमियों को पहचाना है, उसमें से एक जानवर है। भूख उस आदमी को रास्ता बताती है, उसमें तपिश भरती है, नचाती है और उसी में वह धर-पकड़कर खाता है। राक्षस-सा आग्रह है उसमें!

वह घूमने निकला। बस्ती के बीचों-बीच कमर तक ऊँची जालीदार दीवार से घिरा चौकन्ना पार्क है। पार्क में पानी सींचा जा रहा है। काफ़ी कोशिश से वहाँ घास उगाया जा रहा है, करीने से। वहाँ चारों ओर लाउडस्पीकर लगाये गये हैं और संगीत की गूँज आ रही है। एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते हुए राजनीतिक दलों की तीन-चार मोटरें गुज़र गयीं...अपनी-अपनी योजना के बारे में बताकर नये दल बनाने की कोशिश हो रही है। पार्क में पत्थर-सिमेण्ट से बनाये गये हंस तरतीब से सजाये गये हैं, सिमेण्ट से बनी मछली के मुँह में से फुहारा निकल रहा है और सिमेण्ट से बने कमल पर गिर रहा है। उसी पार्क के अन्दर खड़े-खड़े सूर्यास्त के आकाश को देखकर रवि ने उस ओर की दो मंज़िली इमारतवाले होटल की कल्पना की। उसके नीचे एक मनोहारी दुकान है, जूतों की दुकान और प्रेस है। उसे लगा मानो शहर सिर्फ़ आदमी की मानसिक अवस्था के अनुरूप एक पृष्ठभूमि है।

अपने मन की अस्थिर अवस्था में वह कल्पित मनुष्य को रूपायित करने लगा—जैसे कि वह भाड़े की गाड़ी पर, भाड़े के पैरों से चढ़ हिलते-डुलते उतर गया, पान की दुकान से पान लेकर, गिलोरी भर पीक थूकता गया मानो कर्तव्य पूरा कर रहा है। सड़क के किनारे की दुकान में बैठकर ढक-ढक कर चाय पी, सिगरेट सुलगाया, जलती आँखों से पीली दीवार पर चिपकी नारी की तसवीर और घड़ी देखकर उठ खड़ा हुआ—चला गया उस होटल की बाम्बियों की तरह सीढ़ियों की ओर।

उसने कल्पना की कि वह बहकते कदमों से ऊपर चढ़ा होगा, अपने छोटे-से कमरे के दरवाज़े पर झूलता ताला खोल अन्दर चुपचाप दाखिल हुआ होगा। और फिर से अन्दर से कमरा बन्द किया होगा...और खटमलों से भरपूर बिछौने पर थकान से चूर लेट गया होगा।...फिर सब खोलकर रख दिये होंगे...दाँत जो नकली हैं; आँख जो काँच की बनी...नकली...सर के बाल...वह भी...पर कितना सुन्दर है! नीचे गंजा सिर है।...बिछौने की सलवटों को ठीक कर तकिये के सहारे लेट गया होगा। फिर गया, एक पैर, जाँघ तक; वह भी नकली है। उसके पंजर की हड्डियाँ—वे भी नकली हैं। लोहे की बनी। उसके मन में अमिट भूख के साथ-साथ अकूत उत्तेजना है। उसी की याद आयी होगी उसे, क्योंकि उसी को याद कर वह अपनी असहाय देह में ऊष्मा भरता है और अतीत की कई विफलताओं की अभिज्ञता को उलट-पलटकर वह उसे संगीत की तरह गुन-

गुनाता है।

...रवि को लगा, वहाँ वह कल्पित आदमी नही है..., वह स्वय है, निष्प्रभ सूर्य के साथ घुल-मिल गया है।

वह फिर लौट आया। चेतना की स्थिति लौट आयी। सामने छवि है, उसकी पीठ पीछे गाँव है, परम्परा है। आँखो में, होंठो मे स्थिर शीतल शान्ति की द्योतना है, ध्यान मे निर्द्वन्द्व आनन्द है। साँझ ढलती आयी, बिजली बत्ती की मालाएँ चमकने लगी, उसे उस मुँह की याद आयी; और छत के नीचे अन्धेरे की, जिस ओर से होकर चमगादड उड जाते हैं और अँधेरे मे शामिल हो जाते हैं, रूप और गति की झलक दिखाकर। उसके पास मानो गाँव की सुगन्ध तिर आयी, तुलसी का बिरवा, बिरवे की सीढी पर जलती ज्योति, दीये की...फिर वही मुँह, नाना भगिमा में। मानो उसके अन्दर तक स्रोत बह गया है...वहाँ उसकी गगरी गीत के साथ-साथ भरती जा रही है। अवसाद मिट गया और वह चलने लगा।

सोचते-सोचते सुख की अनुभूतियों की ऊष्मा से देह भरती जा रही है, बढ-बढकर वह धीरे-धीरे उद्दीपना बनती जा रही है। उसके साथ आ रहा है आत्म-विश्वास, जीवन और स्वप्न मे विश्वास। अनुभव हो रहा है कि वह युवा है, उसमे सामर्थ्य है, और उसके सामने असीम परिसर है। उत्साह की गति तेज़ हो रही है, कल्पना में पख लग रहे हैं। उसकी स्वप्न-भीगी आँखो के सामने शहर ने फिर अपना रूप बदल लिया। उसने अनुभव करके देखा कि वह शहर नहीं है, गाँव नही है, आदमी है।

होटल के उस दुमजिले कमरे के उस कल्पित आदमी को उसने फिर से देखा। अँधेरे को चीरती बिजली की रोशनी की पृष्ठभूमि पर, इतनी तरह के स्वरो से, दर्पित चीत्कार से भरी पृष्ठभूमि पर मानो उसने घास-भरे ऊसर पर नाप-जोख कर, मन के मुताबिक सजाकर मकानों को कतारों में रख दिया है। ऊपर वेश में आकाश है, मेघ, बिजली, शीत, तूफान और झझा लिये; और अपनी शक्ति से उसने निरापद रह दुर्ग गढा है। पृथ्वी की अन्दरूनी तपिश शीतल हो जाये, फिर भी उसमें गरमाहट वैसी ही है। प्रकृति और परिस्थिति के अनादर और शत्रुता में अपने आपको प्रतिष्ठित कर आगे बढ जाने का दावा वह नहीं करता। देह कटकर तार-तार क्यों न हो जाये, वह दर्प के साथ छाती दिखाकर भयानक लहरों का मुकाबला कर रहा है।

घास पर धूल क्यों न भर जाये, उसने घास उगायी है। शहर नहीं, गाँव नहीं, इमारत नही या झोंपडी नही, उसके अपने अन्दर ही उसकी कला है।

थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर वह विपिन के मकान की ओर लौटने लगा। कितने अपरिचित घर बनाये जा चुके है, मोहल्ले बस गये है, जिन्हे वह जानता तक नही। कई जगह बने मकान, सडक और गलियो की पहचान तक मिट गयी

है, जिनके सहारे वह राह चलता था।

दल के दल लोग काम करके घर लौट रहे है। कितने देशों की भाषाएँ एक हो गयी है। बारम्बार कइयों के मुँह से वही एक ही शब्द निकल रहे हैं...भिन्न-भिन्न भाषा मे...रुपया-पैसा, डाबू...टका...।

भीड से हटकर वह सूनी गली मे चलने लगा। कैसे इतने कम समय मे शहर लुप्त हो गया है—अँधेरे आकाश के नीचे। एक ओर धनुष की तरह मुड़कर कई परतों मे शहर मे रोशनी दीवाली की तरह सजी है...उनपर आकाश की ओर धीमी-सी आँच मानो उठ गयी है। चलते नक्षत्रो की तरह बीच-बीच में नीचे मोटरों की रोशनी दिखाई पड़ जाती है...मानो उड़ती जा रही है। सायकिल और रिक्शो की रोशनियाँ जुगनुओं की तरह लग रही है। और उस अँधेरे मे तैरते जुगनुओ में से आवाज़ आ रही है..."बाबू ! रिक्शा !" न, उसे रिक्शे की ज़रूरत नही है। जुगनू उड गया। फिर वही सूनी सड़क। रास्ते के पेड अंधकार में मूर्तियो की तरह खडे है। इधर-उधर बस्ती मे रोशनी जल रही है। फिर अँधेरा। हवा आयी, उसकी चाल ने गति पकड़ी। अँधेरे मे फैले पेड़ हिल उठे। सारे पत्ते एक हो फिसफिसाते स्वर मे कहने लगे, मानो अँधेरे में एक साथ बैठी गाँव की औरतें बातें कर रही है। अपने आप कान तक गये...आवाज़ आ टकरायी...मृदंग... झांझ की आवाज़। कही सकीर्तन हो रहा है।

हर गाँव पर उसी का स्पर्श है। उसके घर के बरामदे से भी यही तारा दिखता होगा। माँ बैठी बातें करती होगी। पिताजी माला फेरते होंगे।

और पाटेली गाँव की वह लडकी। मानो वह एक स्वतन्त्र सृष्टि है। गहरी साँस लेकर वह अपने मन की गहराई से तोतली भाषा में उसका वर्णन करने लगा। पत्रों की सरसराहट मानो उसे सकेत दे रही थी। उसमें प्रतीक्षा की चमक की लहर दौड़ गयी। अँधेरे से घिरा, सुनसान रास्ते में चलते हुए मानो वह दूर जलती लालटेन को देख रहा है।...शायद यह मोड़ पार करने पर वह साफ़ दिखेगी, नही तो अगले मोड़ पर। अपने जीवन को उसी के साथ मिलाकर अपनी कल्पित भावना मे रवि चलने लगा।

रवि अपने भविष्यत् को मन ही मन आँकते हुए लौट रहा था। जीवन को उपभोग करने के लिए बहुत सारे तरीके अँधेरे में टिमटिमाते-से दिख रहे हैं। पता नही कितनी बार जन्म लेकर, तमाशे कर, फिर मुक्त हो कितने नये पथ अपनाये होंगे, अपने को प्रकाशित कर गये होंगे; न रख गये हैं, न लेकर कुछ गये हैं।

रात, लगभग नौ बजे, विपिन के मकान के बरामदे में लालटेन धीमा कर थरथिरिया उसी की प्रतीक्षा कर रहा था। चौंककर उठ बैठा। खाना पका चुका है, इसलिए हँसमुख नजर आ रहा है। चारों ओर सन्नाटा है। दूर कही मशीन

चलने की अवाज आ रही है। अरखितिया रवि के पास बैठा उसे अपने आदमी की तरह खिला रहा है। कई बातें बता रहा है। गाँव, उसका घर, माँ-बाप, गाँव का नाटक-दल। वहाँ वह राधा बनता था, रानी बनता था। वह नहीं हो तो नाटक जमता ही नही था। गाँववालों ने कितना कहा उससे कि अरखितिया, तू मत जा, तू जायेगा तो इस गांव का सगीत-अखाड़ा ही नहीं रहेगा। उसने रवि को साक्षी मानते हुए कहा, संगीत अखाड़ा तो उसे पालता-पोसता नही। लोहार-बढई तक को गाँव में काम नही मिल रहा है और वे इधर-उधर भटक रहे हैं। मजदूरी न करें तो कहाँ से खायें! फिर आजकल का जमाना जैसा है उससे मजबूरन उसे सब छोड़-छोडकर आना पड़ा है। विपिन कहता है कि उसे चपरासी की नौकरी दिला देगा। इसलिए वह पड़ा है। बाबू भले आदमी है।

खिला-पिलाकर हँसते हुए अरखितिया ने अनुमति माँगी, एक जगह 'गोटिपुअ' नाच हो रहा है, दो घण्टे के लिए जाकर देख आयेगा।

अरखितिया चला गया। अब कोई कही नही है—चारो ओर सुनसान। सुनसान घर में वही अकेला है। आकाश में अँधेरा है, बादल घिर आये है। हवा बह रही है। थोडी ही दूर की इस उजडी-सी बस्ती की ओर उसने दृष्टि की। टिमटिमाती-सी कही कोई लालटेन जल रही है।...

बरामदे मे बैठा-बैठा वह इधर-उधर की बातें सोच रहा था कि बाँह में बाँह डाले किलकारियाँ भरते हुए दो औरतें बरामदे पर चढ आयी। पहचानी-सी आवाज आयी—"अरखितिया है?"

"नही।"

"आप अकेले है बाबू! कोई कहीं नही है, अँधेरा है।" उसकी आवाज में ठट्ठा भरा था। उसके साथवाली खिलखिलाती हुई हँस रही है।

"कौन, सुना तुम?"

"हाँ, और यह मेरी बउल है।"

"इतनी देर गये किधर निकल पड़ी?"

उस ओर से दबी हँसी की लहर दौड़ आयी। सुना उसके पास आ गयी। "नये बाबू आये हैं...अच्छी-अच्छी तरकारियाँ बनी होगी। बउल, बोली कि चल माँग लायें।"

बउल की हँसी चीख़-सी लग रही थी। सुना की सूरत मुखौटा-सा लग रही थी, एक भगिमा बँधी-सी थी।

दोनो बाहर इन्तजार कर खड़ी थी। फुसफुसाकर बातें कर रही थीं। हँस रही थीं। उसके अन्तःस्तल को मानो रात तपती उँगली से टटोल रही थी। रवि उठ खड़ा हुआ। बोला, "अरखितिया नाच देखने गया है। उसे कह दूंगा। कल वह तुम दोनों के लिए तरकारी रख देगा। दोपहर को ले जाना। अब घर लौट

जाओ, मुझे भी नींद आने लगी है...कल आना।"

घर के अन्दर जाकर किवाड़ भिड़ाते समय उसने सुना...कोई व्यंग्य कर रही थी, "आज तो पेट नहीं भरा...कल मिले भी तो क्या होगा!"

रवि सो गया।

अरखितिया ने सुना तो उसे यह एक साधारण घटना-सी लगी। हँसकर बोला, "...वे वैसी है ही जी। यह आज की बात नहीं, रोज़ की है। तरकारी माँगने आती है, भात माँगने आती है। बाबू भले आदमी हैं। कहते हैं, दे देना... गरीब हैं...खायें।"

सुबह सुना आयी। रात का पागलपन नहीं है। रवि बोला, "अरखितिया से कह दिया है, तरकारी लेकर जाना।" सुना कुछ नहीं बोली। मुसकराकर बरतन माँजने लगी। अरखितिया सुनकर बाहर आ गया और कहने लगा, "क्यों री, कल तरकारी माँगने आयी थी! बाबू कहते हैं कि डायन की तरह लग रही थी। उस पर दो-दो...।"

सुना सुनकर मुसकरायी। बोली, "तू तो नहीं था, नहीं तो तुझे पता चल जाता, मैं डायन थी या और कुछ...।"

रात को जो भारी-भारी लग रहा था वह हँसी में उड़ गया। रवि अपने काम से निकल पड़ा। अरखितिया ने सही पता बता दिया है, भूल नहीं होगी।

जानवरों का अस्पताल। एक बूढ़ा बैल खड़ा है। उसके गले की रस्सी पकड़-कर एक आदमी खड़ा है। पीछे पानी जैसा गोबर बह आया है बायें पैर से होकर खुर तक। डॉक्टर बाबू कुरसी पर बैठे हुए एक मोटी-सी किताब पर आँख गड़ाये ध्यानावस्थित-से लग रहे हैं। "नमस्ते।" एक साथ सफ़ेद बाल, तीखी नाक, मोटी ऐनक चमककर उठ गये..."नमस्ते...आइए...सा देवी वरदा भवेत्... बैठिए...बैठिए...।" पशु डॉक्टर ने समझाया, "...किसी केस को हाथ लगाने से पहले ज्ञान का भरोसा किये बिना किताब का आसरा लो तो ठीक होता है। सिर्फ किताब देखने-भर से कुछ नहीं होगा, मरीज़ के सारे लक्षणों के साथ किताब में लिखी बातों को मिलाकर, नक्षत्र, तिथि और दूसरे योगायोग को देख, भक्ति के साथ देवी का स्मरण कर उनसे आशीर्वाद लेकर अगर केवल एक खुराक भी दें तो उसी से सब ठीक। इसके लिए धीरज चाहिए..."

रवि ने कुछ नहीं कहा। अपने मतलब की बात कही। उसे ख़बर मिली है कि कई जगह गाय-गोरू को खारवा हुआ है...और भी कितनी बीमारियाँ। डॉक्टर बाबू चलकर देख सकें तो...

डॉक्टर बाबू ने पते नोट कर लिए। इसी तरह कई जगहों से ख़बरें आ रही हैं। लोग अनुरोध कर रहे हैं। जो भी ख़बर आये वह उसे नोट कर लेते हैं।

"ज़रूर आएँगे। पर कुछ देर अगर हो भी जाये तो कृपया नाराज़ न हों।

एक अकेला आदमी ठहरा, किस-किस ओर नज़र दूँ। जानते हैं, इस देश में कितने गाँवों के लिए एक डॉक्टर है ?"

रवि समझ गया। विदा हुआ।

शहर की दूसरी ओर कृषि-अधिकारी का दफ्तर है। खाद, खेती के सामान हैं। चीज़ों को देखकर उनकी कीमत लिखकर ले आया।

एक और जगह स्वास्थ्य-अधिकारी का दफ़्तर है। उन्होंने वायदा किया कि जरूरत के मुताबिक वे जाकर व्यवस्था कर देंगे।

पिताजी के लिए गुडाखू और बैलों के लिए घण्टियाँ ख़रीदनी थी। बैलों की घण्टियों के लिए उसमे बड़ी चाह है।

दोपहर को वह लौट आया। विपिन की गैरहाजिरी मे उसके घर में मेहमान-खातिरी के बारे मे चिट्ठी लिखकर घर से लगभग चार बजे वह निकल सका। तीन के बाद अचानक आकाश बादलो से घिर गया है। बादल आसमान पर ठहरे हुए-से लग रहे है। छाये बादल धीरे-धीरे घनीभूत होते जा रहे है। मेघ को देख उसका मन भी चचल होता जा रहा है। अरखितिया कहने लगा, "अब आज एक दिन और ठहर जाइए, कल जाइएगा।" रवि को रास्ते का नशा खीचने लगा और वह मकान छोड़ सड़क पर उतर आया।

तेज कदम वह चला जा रहा है। घर लौटते मन और कदम दोनो मे तेजी है। विपत्ति पीछा करती आ रही है। हाथ की पहुँच मे आश्रय की जगह है... वह जीना चाहता है। पहले जीवन।

उसने सँभलने के पहले दौड़ना शुरू कर दिया। पिछवाड़े की बाड़ी, टूटी नीव और खुला आँगन पारकर वह आँगन के बीचों-बीच खड़ा हो गया है। उचित-अनुचित सोचने के पहले ही उसके मुँह से चीख़-सी निकली, एक नही तीन बार—"कोई है ?"

कुत्ते भौंके। सामने मकान का दरवाजा खुला। एक हाथ में किताब और दूसरे हाथ में लालटेन लिए बरामदे मे आकर सिन्धु चौधरी खड़े हो गये और अँधेरे की ओर मुँह कर पुकार लगायी—"कौन है वहाँ ?"

अब उसके पैर मानो लाज म अवश हो गये। इच्छा हुई कि उस बारिश और अँधेरे मे खो जाये। वह चुपचाप उसी जगह खूँटे की तरह खड़ा रहा। सिन्धु चौधरी धीरे-धीरे आगे बढ रहे थे। बोले—"अरे वहाँ बारिश मे भीग क्यों रहे हो, ऊपर आ जाओ।"

यूप को लिए जाने की तरह उनकी दृष्टि से खिंचता हुआ-सा रवि बरामदे

पर चढ़ गया। देह सर्दी से काँप रही थी। इसके पहले देखा नहीं था। अनुमान लगाया—सिन्धु चौधरी हैं।

बोल रहे थे—"अरे पूरा भीग गये। यह जो बेमौसम की वर्षा है, आ जाये तो हालत बिगाड़ देती है।"

बरामदे के किनारे खड़े रहकर रवि कपड़ों से पानी निचोड़ रहा था। निगाह की, अधखुले किवाड़ की फाँक से छवि की माँ दिखाई पड़ रही हैं। उनके कन्धे से सटकर एक और मूर्ति खड़ी है, झाँकने की कोशिश कर रही है। वह है छवि।

रवि शर्म से झुका जा रहा था। छवि की माँ सामने आ गयी। पूछने लगी, "तुम कौन हो बेटा?" तबतक सिन्धु चौधरी उसकी ओर अँगोछी बढ़ाकर कह रहे थे,..."पानी पोंछ लो!" तभी छवि की माँ उसे पहचान चौंककर रह गयी। "तुम हो!" बस, यही स्वर निकला मुँह से।

उस एक बात से कई बातें हो गयी। उन्होंने घूँघट खींच लिया।

बाहर मानो इन्द्रजाल-से वर्षा और अन्धकार घिरे हुए थे। भीतर उसका मन, बाहर के साथ मानो परामर्श कर, ठीक वर्षा और अँधेरे के समय आकर पाटेली गाँव पहुँचेगा—यही सोचता हुआ-सा, रास्ते की ओर देखे बिना वह चला आ रहा था। मुँह पर हलके से पानी की धार पड़ रही थी : बायीं ओर की खुली नदी, दायी ओर की टिमटिमाती रोशनी और खेतों को देखे बग़ैर अगर वह चला होता तो कब का पाटेली गाँव पार कर गया होता। गुरुवार, बारवेला, यात्रा मे सामने योगिनी रहती है।

ऐसा नही कि उसने यह सब सोचा न था। दलों मे बैठी गौरैया धूल मे नहा रही थी...पेड़ पर मैंनों के घोंसलो में हो-हल्ला मची थी...शाम को नहाकर आये भैंसे की देह मे गरमाहट भरी हुई होती। हाथ लगाया होता तो वह भी पता लग जाता। ये सब वर्षा के लक्षण हैं।

फिर भी वह आ गया था।

तेज़ तूफान मे बार-बार थप्पड़ मारने की तरह जब वर्षा हुई और अंधेरे में चारों दिशाएं छिप गयी, तब वह नदी के किनारे-किनारे फिसलन पर, अकेला चल रहा था। सामने वह घर है...पर मानो उसके लिए वहाँ तक चलना सभव नही होगा।

हवा और तेज़ बारिश मानो उसे धकेलकर नीचे गिरा रही थी। नही सँभल पाया तो हाथ-पैर टूटेंगे। मानो अँधेरे की परत पर परत चढ़ रही थी। बीच-बीच मे बिजली चमक रही है। और चड़चड़ाकर बादल गरज रहे है...उसे अब गिरा, तब गिरा-सा लग रहा है। ऐसे मौसम में पेड़ उखड़ जाते हैं, इसलिए पेड़ के नीचे रहना निरापद नही, रवि ने सोचा। सिन्धु चौधरी के घर के पास खड़े रह-

कर मानो जीवन के प्रति उसकी माया बढ़ गयी जिससे विपत्ति का बोध उसे और अधिक हुआ। उसने अपने आप को समझाया, ऐसे मौसम का कोई ठिकाना नहीं है, इसलिए अपने को खतरे से दूर रखना ही ठीक होगा।

बिजली चमकी। मानो कुटिल हंसी में वह उस तूफान और अन्धकार की भयानक घड़ी में अपना चरित्र और अभिप्राय प्रकाशित कर रही थी। वह निर्मम है...कोई उपरोध नहीं है उसपर। वह जगह नहीं देगी। गरजती हवा के झोंकों से मन के अन्दर वहशियत की आदिम आकांक्षा चीखने लगी, वह काठमारा-सा खड़ा रहा...सिन्धु चौधरी भी भौंचक्के-से उसे देख रहे थे। रवि कपड़ों से पानी निचोड़ता जा रहा था...क्या सब हो रहा है, होता जा रहा है वह सब जानने-समझने के लिए उसमें चेतना नहीं थी। छवि की माँ धीरे-धीरे घर के अन्दर चली गयी। बोलीं—"चल अन्दर, यहाँ खड़ी-खड़ी क्या कर रही है?"

तब रवि कैफ़ियत देने लगा। गरमाहट से भरी बोझिल थी उसकी भाषा, अपनी अवस्था को सहज बनाते हुए सहानुभूति-भरे स्वर में सर हिला-हिला सिन्धु चौधरी बोलने लगे, "ऐसा कई बार हो जाता है। बहुत अच्छा किया कि यहाँ चले आये। घर के पास रहते हुए क्यों कोई आफत मोल ले, अकारण।" फिर बोले "...अरे किधर चली गयी, धोती और चादर तो दे जाती कि ये बदल लेते? सर्दी से काँप रहे हैं। सिगड़ी में आग भेज देती, ये थोड़ा हाथ-पाँव सेंक लें!"

किवाड़ की ओट में से एक हाथ बाहर निकल आया। छवि की माँ धोती और चादर बढ़ा रही थीं। अचानक बारिश थम गयी। रवि कहने लगा, "अब बारिश तो थम गयी...मैं चलता हूँ।"

"पागल हो गये क्या? ऐसी रात में कोई बाहर पैर भी धरता है? आओ, अन्दर आ जाओ। ये कपड़े सुबह तक सूख जायेंगे। लो देखो, फिर दुगुने ज़ोर से बरसने लगा।...आओ, आ जाओ अन्दर।"

वे आगे-आगे अन्दर चले गये। कमरे के अन्दर से फिर पुकारा—"आओ अन्दर!"

पानी फिर बरसने लगा। रवि परिस्थिति के साथ अपने को मिलाकर थोड़ा सहज बन गया था। बाहर अँधेरा था, पानी था कि थमने का नाम नहीं लेता था। घर के सामने की जगह पर लालटेन की रोशनी फैल गयी थी। अँधेरे के बीच तैरते जीवन की तरह रोशनी का एक छोटा-सा टापू! एक जगह गुँथा हुआ एक छोटा-सा संसार, उसमें वह भी एक है। वह रुका रहा। अनुभव किया, झूमती वर्षा में मानो कहीं घनीभूत क्रन्दन की ध्वनि सुनाई पड़ रही है...मन की सारी इच्छाएँ बरस रही हैं। उसी घर के अन्दर से सिन्धु चौधरी स्नेह से बुला रहे हैं—'आओ, अन्दर आ जाओ।' घर की छत, उसके नीचे का स्नेह-भरा आतिथ्य-द्वार उसके लिए मानो उदार मानसिकता के संकेत के रूप में खुला हुआ है।

चुपचाप लालटेन जल रही है। सिन्धु चौधरी पालथी मारे बैठे भागवत पोथी पर झुक गये है। आँखें झुकी हुई हैं। चेहरे पर के निविष्ट भाव ठहरे हुए-से हैं। लालटेन की रोशनी उस चेहरे पर बिछी पडी है, जैसे चाँदनी दूर खेतो पर सपाट जमीन पर बिछी रहती है। रवि ने देखा, स्तब्ध शान्त भंगिमा में रहस्य का दृश्य मिल गया है, और उस विस्मय को भेदना आसान नहीं है। बाहर अँधेरा और पानी दुलक रहे है। दूसरे कमरे मे जो कुछ कार्य चल रहा है उसका अनुभव वह कर पा रहा है। पर इस घर के अन्दर पोथी के पास निश्चल हो ध्यानमग्न बैठा, जिसे देखने के लिए, जिस पर सोचने के लिए, सिर्फ़ वही है।

भागवत पढते समय चेहरे पर झलकते भाव यही कह रहे हैं कि किसी नीति या सूत्र मे बँधे रहने को मन नही। मानो उस एक ही पृष्ठ में वह सम्पूर्ण सृष्टि को देख रहा है, बाहर से चित्तवृत्ति को समेटकर उसने अपने आप को उसी मे सीमित कर लिया है, जैसे इसके अलावा उसमें और कोई इच्छा ही नही है या उसकी और कोई आवश्यकता ही नही।

रवि को इस बारिश और अँधेरे के कारण आज इस घर में आश्रय मिला है। पास बैठे दूसरे लोग उससे दूर हैं। उसका दायित्व है कि वह अपने मन को किसी में भी लगा ले। सब एक-से है, इसमे उसकी सहायता करने को कोई भी आगे नही बढ आयेगा। उसने स्थिति के स्वरूप को समझने की कोशिश की। सिन्धु चौधरी की अनासक्त अवस्था से उसे सोचने का साहस मिला, कम से कम सीधे विवृत्त होने को तो कुछ भी नही है, सब ओर चुप्पी है।

फिर भी वर्षा के झमाझम शब्द की पृष्ठभूमि वह सोचने लगा—उसी को तो आधार बनाकर लोगो ने इस घर पर कीचड उछाला है! कम से कम उस झूठ को झूठ साबित करने के लिए उसे यहाँ आना नही चाहिए था। पर परिस्थिति ऐसी हुई कि वह आ गया है—इतनी सारी बातें उठ खडी हो गयी है, फिर भी।

फिर क्या कोई झमेला खड़ा कर बैठेगा वह? उसके बारे मे क्या कुछ सोचते होंगे वे लोग? कम से कम वह—वह क्या सोचती होगी? कहाँ होगी वह?

इधर वही ध्यानस्थ भाव से पोथी की पढाई चल रही है। कान लगाकर उसने दूसरी ओर की आवाज़ सुनने की कोशिश की। मन ही मन कई रूपों का चित्रण किया। उन रूपो के साथ एक खास भगिमा को सयोजित किया उसने। कान लगाया, कोई आवाज आ नही रही थी। अकेले बैठे-बैठे उसे बन्धन-सा लगने लगा। सोचा, सिन्धु चौधरी के चेहरे पर जो उदास भगिमा है, कौन कह सकता है, वे उसी की ओट में उसी के बारे में नही सोच रहे हो, और उसे अपने

हिसाब से अब तक तौल न लिया हो। वे सोचते होंगे, यही है वह, इसी के कारण इतने अपवाद, निन्दा, और क्षति हुई है...कौन कह सकता है...?

उसने मुड़कर देखा। पोथी पर आँखें गड़ाये सिन्धु चौधरी मुसकरा रहे थे।

छाती पर छुरी भोंकने की तरह लगी वह हँसी। हँस रहे हैं? क्यों? यह क्या उसके प्रति विद्रूप नहीं है? मानो उसमें दम्भ नहीं है, साहस नहीं, वह सिर्फ एक कंगाल भिखारी है, झंझा, तूफान, बरसती रात में थाल पसारे वह आसरा ढूँढता यहाँ आ गया है।

सिन्धु चौधरी हँस रहे हैं। नहीं, वह हँसी वैसे ही आयी थी—अब नहीं है। अभी-अभी पोथी का पृष्ठ पलटा है। उसकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं है।

फिर उसने वर्षा की आवाज सुनने में मन लगाया। घनघोर वर्षा नहीं, झिमझिमाती हलकी बारिश। लगातार चार घण्टे बरसने के कारण चारों ओर भीग गया है। हर जगह कँदैली बन गयी है। सर्दीली हवा बह रही है, भीगी-भीगी-सी लग रही है। रह-रहकर भीगी जीभ से चाटने की तरह लग रही है सनसनाती हवा। गहन पेड़ों पर जुगनुओं की मालाएँ लटक रही हैं। बारिश की विशिष्ट हलकी महक आ रही है, भीगी मिट्टी की, भीगे पुआल की सोंधी गन्ध। बेमौसम नहीं लगता, बल्कि वर्षा ऋतु की कोई बरसती रात है जैसे, और लगातार आसमान बरसता रहा है। समवेत संगीत की तरह लग रही है मौसम की ख़ास आवाज जो दूर-दूर से तैरती आ रही है। मेंढक, झींगुर, और कितने कीड़ों की चें-चें की आवाज। इसी मिट्टी पर पड़े थे इन्तजार में मुँह गड़ाये, बेशुमार प्राणी। वर्षा आकर आज अपना आत्मपरिचय दे गयी है। बरामदे पर से जो मेंढक आवाज लगा रहा है, किसने उसे इसके पहले जाना था? दोनों ओर से खूँटे में से दो झींगुर सीटी बजा रहे हैं।

सिन्धु चौधरी ने पोथी बन्द की। खींचकर उसे डोर से बाँधा, तीन जगह, फिर चौकोर, और उसके बाद परत-परत से पोथी पर डोरी लपेट दी। रवि की आँखों में कुतूहल देख सिन्धु चौधरी हँसते हुए कहने लगे, "आजकल हर जगह छपी हुई पुस्तकें मिल रही हैं। अतः ताड़-पोथियों के प्रति आदर कम होने लगा है। पर एक ताड़-पोथी जितने दिन घर में रहेगी, किताब उसके पाव दिन भी टिकेगी नहीं। इस पोथी को देख रहे हो, यह इस घर में डेढ़ सौ साल से है। यह तालपत्र पर उतारी गयी थी।"

रवि ने पोथी को हाथ में लेकर उलट-पलटकर देखा। देखा, चारों ओर से उसे अच्छी तरह से बन्द किया गया है। सिन्धु चौधरी ने उसे समझाते हुए कहा, "पोथी का बन्धन निरन्ध्र न हो तो कीड़े चाट जायेंगे।" फिर हँसकर बोले, "यही हमारी शिक्षा है, पुराने जमाने की। आदमी कहो, समाज कहो, जो भी कहो, अगर निश्छिद्र न हो तो ज्यादा टिकेगा नहीं।"

पोथी पर लगे काठ की जिल्द पर 27 अंक खुदा हुआ था। सिन्धु चौधरी ने बताया, "पुराने ज़माने से उनके घर में हज़ार की संख्या मे पोथियाँ थी। उनके साथ ताड़पत्र पर लिखित एक सूचीपत्र था। सूचीपत्र मे लिखित संख्या पोथी पर भी लिखी गयी थी, जिससे पुस्तकें आसानी से ढूँढी जा सकती थी। धीरे-धीरे वे सब भी गयी, एक-आध जो बच गयी है, ये है।" इसके बाद उन्होंने उस पुस्तक की विशेषता बतायी—"छपी हुई किताब के साथ मिलाकर पढ़ने से इस पोथी मे जगह-जगह मेल नही खाता।"

पोथी रखकर सिन्धु चौधरी ने किवाड के पास जाकर आवाज़ लगायी—"थाली लगाना, देर हो रही है।" रवि को उन्होंने मुँह-हाथ धोने के लिए बाहर बुला लिया। रवि ने खाने से इनकार किया। घर के अन्दर से घी से तली गयी पूड़ी की खुशबू आ रही थी। रवि कहने लगा, "भूख नही है जी, मैं खा-पीकर चला था।" सिन्धु चौधरी हँसते हुए कहने लगे, "ठीक है, ठीक है, आओ। जवान लड़के हो—क्या भूख नही है। हाथ-मुंह धो लो, खाना ठण्डा हो रहा है।"

छवि की माँ परोस रही थी। चुप-चाप। चेहरा मानो भावहीन था, मुखौटा पहनने की तरह। वे मानो रवि की आँखो मे आँखें न डालने की चेष्टा कर रही थी। जैसे अपने चेहरे को मानो जान-बूझकर असहज और भावहीन बनाया गया था, ऐसा लग रहा था। कभी-कभार होंठ काँप जाते, बीच-बीच में उनके पैर ठगमगा जाते। कभी-कभी तेज चाल से मन की क्षिप्र भावना भी छिपी नही रहती थी। सब मिलाकर मानो एक नीरव निवेदन था... रवि ने गहरी सांस ली। पास सिन्धु चौधरी बैठे थे। रवि ने देखा, वहाँ शान्त, आत्मस्थ, स्थिर भगिमा है, जिसमे कोई और अर्थ नही है, असहज कुछ नही है। छवि की माँ ने अन्दर जाकर देर लगायी। भोजन समाप्त होने को था कि किवाड़ के पास अन-जाने ही छवि आ गयी और दाँत तले जीभ दबाकर रह गयी। फिर जल्दी मे अन्दर चली गयी। सिन्धु चौधरी ने छवि को देखा या नही पता नही, पर रवि ने उसे देखा था। कुछ देर के बाद सहज, स्वाभाविक स्वर मे सिन्धु चौधरी ने बुलाया—"छवि! माँ से कहना, जरा तरकारी दे जाये।"

"जी।"

साफ़ और मीठी है उसकी आवाज...जो अँधेरे में से आयी थी! उसी के सहारे बिछौने में पड़े-पड़े रवि उस दिन अँधेरे मे अनेक रूपो को चित्रित करता रहा, मन ही मन। कही खट से आवाज़ आयी कि वह उस ओर मुड जाता, मानो उस शब्द को पकड़ लिया हो। नीद कही भाग गयी है। अन्धकार को देख-देख उसकी आँखें अँधेरे को इस कदर पहचान गयी थी कि वह धीरे-धीरे उस अँधेरे कमरे की कई चीजो को देखने-पहचानने लगा। और उसने अन्दाज़

किया —यह है अहाता-घर, ऊपर एक ही छत, सामने बरामदा, और आँगन। उसमें एक कमरे मे वह है, और किसी दूसरे कमरे मे छवि सोयी होगी। छवि, उनके माता-पिता और वह, सब एक ही कमरे में हैं। मानो यह उसके जीवन का एक नया रूप है, जिसे उसने सहज भाव से अपना लिया है। मानो यह पहले भी था, और अब भी है। फिर नि.सन्देह यह विचार आ रहा है कि जिस तरह वह था उसी तरह रहेगा। असहज और बेजोड़ कुछ भी नहीं है—सब प्रत्याशित हैं।

सब कुछ को सहज-सहज सोचते हुए रात ही उसके लिए असहज बनकर कटने लगी। उसे रात-भर नीद ही नही आयी। देह मे बारबार ऊष्माहट और मन में चंचलता। कान तेज़ और आंखो पर तपिश, छाती धडकती रही। बाहर बरसती रात, हलकी-हलकी एकरस आवाज़ो के बीच उसे कई प्रकार के मोहक संगीत के स्वर सुनाई पड़ने लगे...कितनी गोपन, निभृत, मीठी भाषा उसके अन्दर गूंजने लगी। उसे लगा मानो साधारण अवस्थिति के साथ-साथ साधारण अनुभूति को ग्रहण कर लेने के बदले उसका व्यक्तित्व किसी और असाधारण माध्यम मे तैरने लगा है। नयी सूचनाओं के द्वारा उसका सारा अस्तित्व और किसी अनकही भाषा का अर्थ उसके सामने आ रहा है और वह अपनी स्नायुओं के *ज़रिये सांप की तरह सब सुन रहा है, कान से नही। अन्धकार और वर्षा की* संकेतमय भाषा—इन दोनो ने मिलकर मानो उसकी पहचान उसके निभृत उपादानों के साथ करायी है।

उसने मन ही मन इस परिवार को अपना समझ अपने से सम्पृक्त कर लिया।

मानो पूर्व जन्म की बातें इस जन्म मे अचानक याद आ गयी है और उसी याद मे खोया हुआ था कि पता नही कब उसे नीद आ गयी।

अंधेरा रहते पता नही कब सिन्धु चौधरी उसके पास आये थे। उसके बग़ल में खड़े-खड़े देर तक उसे देखते रहे थे। उसे अच्छी तरह चादर ओढ़ायी थी और पंखा कर मच्छरों को भगाया था...यह सब उसे मालूम नही था।

उसके बाद जब वे आये तब पौ फटने वाली थी; आकाश रंगने लगा था। रवि की नीद हलकी होने लगी थी। लगा, मानो कोई कमरे के अन्दर चहल-कदमी कर रहा है। आँखें मलते-मलते उसने भोर का पहला स्वर सुना। मच्छर फिर भी गुनगुना रहे थे। कभी बढती, कभी घटती रहती भिनभिनाहट। सुना कलिंग का स्वर...दूर से भली लग रही थी उसकी स्वरलहरी! गाय-गोरू रँभाते जा रहे थे, ढेंकी की आवाज़ आ रही थी, जिसमें एक अटूट छन्द था। सुबह की चेतना के साथ बासी गुहाल की बू, मूत की कड़वी गन्ध, छान तले की पेशाब की बदबू। उसे पेशाब लगा, इस साधारण दैहिक आवश्यकता के साथ-साथ मानो उसमें वर्तमान की चेतना भी लौट आयी, वह सोचने लगा, अब

...विदा हो जाये तो कोई उसे देखेगा नहीं । उसकी नींद से जागी आँखों ने रंगीन भोर को प्रणाम किया ।

उसके बाद उसने सरसराहट सुनी और मुड़कर देखा—सिन्धु चौधरी खड़े थे । उदार सहानुभूति में भीगी-भीगी-सी आँखें । होंटों पर हँसी नहीं है, फिर भी चेहरा मुसकराता-सा लग रहा है । सुबह-सुबह उठकर पहले उन्हीं के चेहरे को देख उसे लगने लगा मानो मध्ययुगीन विस्मृत चित्रों में से किसी एक को वह देख रहा है । चाँदनी और भोर का प्रकाश एक साथ मिल गये हैं । वह तो उसने स्वप्न में भी देखा था—हलके वर्ण की आभा है, जो धीरे-धीरे दिन के उजाले में विलीन होती जा रही है ।

उसने बिछौने से हड़बड़ी में उठकर उन्हें प्रणाम किया । तब उसकी चेतना से अचानक वह भावनाएँ दूर चली गयीं...वह रूप जिसे उसने देखा था...अर्ध-अधूरे रूपों की समष्टि...उसकी भावना की हिल्लोल मानो छल-छल झरना का गुंजन है...पक्षी की काकली है, आदमी की भाषा है, जानवर का रव है जो धीरे-धीरे सरकता दूर होता जा रहा है मानो समवेत वाद्य की गूँज हो, जो पीछे हटती जा रही है, दबी जा रही है...और जैसे उसी को कोई आकाश से लाकर नीचे रख हटता जा रहा है । उसने अचानक चौंककर रोज की दुनिया को सामने साफ़ देखा ।

सिन्धु चौधरी हँस रहे हैं । नहा-धोकर तैयार हो गये हैं । केश चमक रहे हैं । कन्धे पर गमछा । बोले, "इतनी सुबह उठ गये ! कल तो मच्छरों के कारण तुम्हें देर से नींद आयी थी !"

"जी, मैं रोज जल्दी ही उठता हूँ ।"

"...नदी की ओर चलेंगे या घर ही पर निपट लेंगे ।"

"जी, मैं घर जाऊँगा !"

"ऐसी भी क्या जल्दी है ! मुँह-हाथ तक नहीं धोया । नहाये भी नहीं । नाश्ता तो करके जाओगे । उठते ही घर की याद आ गयी !"

सिर झुका लजाते हुए रवि ने कहा, "कल रात-भर घरवाले परेशान हुए होंगे । मुझे कल शाम तक घर पहुँचना था ।"

सिन्धु चौधरी बस हँस दिये । उन्होंने उसे न ही रोका, न चलने के लिए ही कहा ।

रवि ने उन्हें प्रणाम कर जब कहा, "जी मैं चलता हूँ", तो वे बोले,..."मुँह हाथ-धोये बिना चले जाओगे ।"

हड़बड़ी दिखाते हुए रवि ने कहा—"रुकूँगा तो देर हो जायेगी और बाहर निकल न पड़ूँ तो आलस जायेगा नहीं ।" उसने फिर नमस्कार किया । बोला, "चलूँ ?"

पीछे, बरामदे के उस ओर छवि की माँ खडी थी। उसने उन्हें भी दूर से प्रणाम किया। अचानक नजर पड़ी...सामने चौखट पर कोमल हथेली...कुछ आगे बढ़कर मानो चिपक गयी है और थोड़ा ऊपर किवाड़ से चेहरे का एक भाग तिरछा हो कुछ बाहर आ गया है; एक आँख दिखती है और अब वह भी नहीं।

रवि निकल पड़ा...इच्छा हो रही थी कि मुड़कर देखे...पर देख नहीं सका।

बन्धमूलवाले बट महान्ती के घर पर उसी दिन बात छिड़ी। मझ दोपहर, रवि खाने बैठा था। माँ और पिता दोनों थे, उसने बताया, कल रात कैसे रास्ते में रुक जाना पड़ा। पिता ने गम्भीरता से हुंकार भरी—"रवि।"

"जी!" थाली पर से मुँह उठाकर उनसे नजरें मिलाने की चेष्टा की। उनकी आँखे जल रही हैं, धूप की तरह उसके चेहरे को भेद रही हैं। वह झुलसाती दृष्टि! नाम लेकर पुकारते समय स्वर में झटका और तोड़। मानो इतने में ही उन्होंने बहुत कुछ कह दिया, जिसके लिए भाषा नहीं है। उसने तो बतायी थी अपनी अचानक की दुर्दशा की कहानी, और यह कि कैसे सिन्धु चौधरी के घर में वर्षा से बचने के लिए आश्रय लिया था, कितनी उसकी खातिरदारी हुई, ऐसी बातें। किन्तु उनकी आवाज के स्वर से तो जैसे खेंपा खाकर उसके मन के नीचे से कोई और ही कहानी दिख गयी, जो उसने कही नहीं थी। उस दृष्टि को रवि झेल न सका। भातों की ओर ध्यान चला गया। पिता पीठ फेरकर चले गये।

माँ ने बात बढ़ायी, "हैं रे, वह सिन्धु चौधरी का घर चलता कैसे है? अपने तो वे पुराने सम्बन्धी हैं।"

रवि ने बताया, "बहुत घर-द्वार थे, शायद। सारे आँगन में ढेर के ढेर उसके चिह्न भरे पड़े हैं। अब किसका हालचाल कौन पूछता है? फिर भी, आदमी बहुत भले हैं, उनका व्यवहार ही बता देता है कि बड़े सज्जन और इज्जतदार आदमी हैं।"

माँ ने गहरी साँस छोडते हुए कहा, "तू कब तो जनमा, कब आदमी हुआ, किसी का व्यवहार तू क्या समझेगा। तू क्या किसी के पेट में घुसकर देखेगा।"

भात खाते-खाते रवि ने कहा, "देखकर आया हूँ, तभी कहता हूँ। भले लोग हैं।"

चट से माँ पूछ बैठी, "तूने किस आदमी का देखा रे बेटे?"

"क्यों? सिन्धु चौधरी को, उनकी स्त्री को देखा, वे अन्दर से सारी बातें

सँभाल रही थी। उन्हें तो पहले भी देखा था। पानी में भीगता-भीगता कोई आ पहुँचा। वह क्या खायेगा, कहाँ रहेगा, उसकी खबर लेना, ये कर, वो कर—"

"तू तो वैसा ही आदमी टहरा। किसी ने दो मीठी बात कही, उसे ही लेकर सिर पर बैठा लेगा।"

"लोग तो होते है जो कहते हैं—आ गयी यह भी एक आफ़त; कैसे टलेगी अब ? और वे उलटे मुझे रोक रहे थे—"

माँ ने कहा, "अरे, इस जग में सारे धरम-करम लोप हो गये। रात-बिरात कोई अगर किसी हाल पहुँच गया तो आये-गये की खबर पूछने का धरम तो अभी भी गया नही है। करेंगे कसे नही ? करेंगे ही। जिसका कुछ नही वह भी तो कांसा लोटा बन्धक रखकर कुछ करता ही है। क्या खिलाया था ?"

रवि ने बताया, "वे लोग जो खाते हैं, वही दिया। अच्छा पकाया था।"

"कैसा, तेरी माँ जो बनाती है, उससे भी अधिक स्वाद का ?" माँ हँस पड़ी। रवि भी हँस पड़ा। माँ ने पूछा, "उनके तो एक बेटी है ? कैसी है वह बेटी ?"

कुछ 'कहूँ-कहूँ' सोचकर भी रवि कुछ बोल न सका। अचानक उसने सब्जी मे से एक-एक बडी चुगकर खाना शुरू कर दिया। कुछ क्षण बीते। देखा अभी भी माँ उसकी ओर देख रही है। फिर पूछा, "कैसी है वह लड़की ?"

सूखी हँसी-हँसकर उत्तर दिया, "कौन लडकी कैसी है, ये सारी बातें मैं क्या जानूं ?" माँ गम्भीर हो गयी। सोचती-सी कहने लगी, "कौन जाने, भई, किसकी हाण्डी में किसने चावल डाले हैं ?"

"पिता को कब फुरसत है। यह कुण्डली देखो, वह लगन देखो, उस लडकी को देखो, इसे देखो। मुझे सदा झकझोरते रहते हैं कि अपने रवि के लिए बता कि कैसी लड़की ठीक रहेगी ? बता तो, मैं ठहरी औरत जात, मुझसे भला क्यों पूछते है ? उनकी बुद्धि से क्या मेरी बुद्धि ज्यादा तेज है ?"

रवि ने कहा, "मुझे यह सब क्यों सुना रही हो माँ ? कौन ब्याह करने जा रहा है कि इतना हाय-तौबा मचा रही हो ! जो इतनी उठा-पटक लगा रखी है ?"

माँ ने पूछा, "पढाई की उमर हो गयी। ब्याह नही करेगा तो क्या बैठा रहेगा ? तुझे हाथ से दो हाथ कर देने पर हमारा दायित्व पूरा हो जाये— फिर अपना घर तुम सँभालो !"

"दुनिया में और कोई काम ही नही रहा क्या तुम सोचती हो ?" रवि ने बात हँसी मे उडा दी।

माँ ने कहा, "तुम बच्चे हो, अभी तुम्हारे दिन है—मन-इच्छा के मुताबिक काम करना। हमारे दिन तो अब पूरे हुए। और क्या काम रहा ? बस वही एक काम है। देह से बल गया। इतना सारा काम मैं अकेली कैसे कर सकूँगी ? तुम

बहू नहीं लाओगे तो क्या सारा काम का बोझ मैं अकेली ही उठाती रहूँगी?"

रवि ने कहा, "सकोगी तो? तुम्हारी बहू तो है ही, ले आओ। लिखो भाई को।"

अनजाने ही रवि ने उसकी दुखती रग को छू दिया था। कहकर सिर उठाकर देखा तब तक तो आँसू की धार वह चली थी। घबराकर पूछा, "क्यों, क्या बात हुई, माँ, तू रो रही है?"

फिर एक ग़लती। जो वहू इस घर में आकर उसी दिन से अपनी अलग दुनिया खोजकर, बिदेस ही विदेस मे रहती आयी है, जिन बेटे-बहू, जिन पोते-पोतियों की इस घर में छाया भी नही पड़ी, उन्ही की बात उसने याद दिला दी। भाई के विवाह के बाद की बातें याद आ गयी, अब भी उनका भला मनाती है। कितनी बार देवी-देवताओं का महोच्छव, ठाकुरजी की पूजा, पानी चढाना, आदि कितना कुछ करती हैं। कितनी निराशा से बूढ़े-बुढ़िया दूर तक देखते है कि शायद भाई-भावज घर समझकर कभी चले आयें। नदी से धार खुलकर अलग से बहकर ऐसी चली गयी कि लौटी नही।

माँ ने भी रूठने जैसे अन्दाज में, स्वर को बोझल करते हुए उत्तर दिया, "माँ का मन तू क्या समझेगा रे? मैं कब रोयी-हँसी? इससे तुझे क्या मिलेगा? वह सब छोड। मेरी बड़ी बहू, वह अपनी घर-गिरस्ती लिये वहाँ है। बाल-बच्चों वाली। सबों की देखभाल करना, चलाना—उसके लिए क्या सहज बात है! वह कैसे आयेगी यहाँ रहकर हम बड़े-बूढ़ों को पानी देने के लिए? नही उसे लेकर मेरे मन मे कोई अरमान नहीं। तो भी, माँ का मन है। वह अपने सुख-सुविधा-धन्धे के लिए वहाँ रहें मेरे पास क्यों रहेंगे भला।"

फिर फफक उठी। और कुछ नहीं कहा।

खाकर रवि उठ गया।

•

उसे कोई कुछ न कहे तो भी कभी-कभी वह अपने मन की आच्छन्न अवस्था का अनुभव करता है। जान-बूझकर भी अनचाहे ही यह सोचता जा रहा है। काम की ओर ध्यान रहने पर भी कोई पाँच बार आवाज लगाये, तब जाकर चौककर 'ऐं' कहता है वह। घर आने पर माँ और पिता दोनों की निगाह से दूर भागना चाहता है। भात खाना—बस। उलटे-सीधे चार कौर डाले मुँह में, किसी तरह ख़तम किया कि छुट्टी! खेत-बाड़ी में घूमता है, गाँव के लोगों के भले-बुरे के बारे मे खबर लेता है। चर्चा भी करता है कि क्या करने से गाँव का भला होगा,

लोगों को संगठित करने के लिए कितने, ज़माने-भर के झगड़े-टण्ट भी मिटाता है। किन्तु मानो वह अन्दर ही अन्दर रास्ता टटोल रहा है, भावना में डूब रहा है। अपनी निगाह मे वह स्वय एक समस्या बन गया है।

एक और दिन उसके खाते समय माँ ने पूछ लिया, "क्यों इस तरह क्यो हो रहे हो, खाते नही ?"

"एँ ?"

"रवि, सच बता, तुझे मेरी सौगन्ध, क्या बात है ?"

"धत् !"

"मानो तुझ पर किसी डायन की नजर लग गयी है। तू तो ऐसा न था। शायद कुछ हो गया है तुम्हें, जिससे सब कुछ घुत कर देने पर तुला है। तेरी इन आँखों को क्या हुआ ? अपना मुँह तो देख ? मेरे पेट से जनमकर तू मुझसे ही छिपाता है ? बता, तुझे क्या हो गया ? किस बात की इतनी चिन्ता कर रहा है ? इस आग-लगी चिन्ता को चूल्हे मे झोक दे। बता दे मुझे सारी बात। तू तो मरद बच्चा ठहरा। थोड़े ही बेटी की जात है ! तुझे परवाह किसकी ? जैसा तेरा मन होगा वैसा ही तो होगा। वही कर। बता, तू क्या सोच रहा है ?"

"हत् ! झूठे ही क्यो बावली हो रही हो ? दे एक गिलास पानी और दे।"

"क्या खाना हो गया रे ?"

"और क्या, मैं कोई भैंसा हूँ ?"

"अरे !"

वह उठकर चल दिया बाहर।

जब चाहे तब ऐसे ही। मन की बात मन में ही मर जाती, कह नही पाता। रवि की माँ विवश-सी देखती रहती। बेटा गूँगे की तरह आँख टिमटिमाकर देखता रहता। कुछ खाता नही, उठकर चल देता। देह से मानो काला पानी बहे जा रहा है। लोक-दिखावे की खिची-खिची हँसी, उसमे वास्तविकता नही। जितना सम्भव होता, वह बाहर ही घूमता-फिरता रहता। दिन-भर फिरने-डोलने के बाद रात में घर लौटता तो ढेर की ढेर किताबें पढने मे लग जाता। रोशनी जलाकर बहुत रात गये तक पढ़ता। कभी उसकी आँखें चमकती, दिखती पर वह कुछ नही बोलता, बस हँस-भर देता। और कभी बैठा रहता अपनी कोठरी मे, काग़ज़-कलम बिछाये खिड़की से उस पार आकाश की ओर देखता रहता। पता नही वहाँ क्या देखता। उसके मन को पता होगा।

माँ पास लगी रहती—इधर-उधर के बहाने बनाकर।

कभी उन्होने जनम दिया था, पर वह तो कब की बात हो गयी। वे चाहती हैं, उसे नये सिरे से पहचानना। बचपन में हलदी-तेल मलकर रगड़ने की तरह उसके इस बढ आये मन पर स्नेह और सहानुभूति का स्पर्श देते-देते उसे सहेज

देना। उसके अनजान दुख का बोझ अपने कन्धे पर लेना। फिर भी इतने पास होकर भी वह पकड़ में नही आता था। उसकी दुःखकातर दृष्टि कभी-कभी चुभ जाती। सदा नहीं, कभी न जाने कैसे। तब उसके मन मे कोई अनजान आन्दोलन उठा होता। साँस तेज़ हो जाती। झट वह इधर-उधर के दो शब्द कह डालता, जैसे माँ को पहले कहा था—उसी क्रम से कहता आ रहा था। पर उसने एक दिन भात खाते हुए जिस तरह विह्वल होकर बात कही वह भूली नही जा सकी।

"देखो, हम कितना सुन्दर दिव्य आहार पाते हैं। और ठीक इसी समय ऐसे भी हैं जो भूखे रहेंगे। जिसमें शक्ति है वह खा रहा है जो लाचार है वह नही। इस दुनिया में कोई किसी के लिए नहीं सोचता। बस—मैं-मैं-मैं—हम खायेंगे, सुख से रहेंगे। हमारा भला होगा। बस अपने लिए ही सब कुछ—और किसी का हो, चाहे न हो।"

कई बार तो जैसे कलह करने की तरह, वाद-विवाद का-सा स्वर होता उसका। मानो उसके अन्दर से कोई और ही बात कह रहा है, कल कहने लगा, "कब तक सब अन्धे रहेंगे कि उन्हें ठगा जा सकेगा, शोषा जा सकेगा? किसी न किसी दिन आँखें खुलेंगी ही? उसके बाद तो पहिया घूम जायेगा? पर वह कब होगा? ईर्ष्या ही ईर्ष्या मे दुनिया कही जल न जाये।"

ऊपर चढकर माँ ने पूछा, "कौन किससे ईर्ष्या करता है रे बेटे?"

"कौन नही करता? सबमें है ईर्ष्या। ईर्ष्या और भय मे गुजर रहा है मानव-समाज। कही किसी को मुँह से तनिक ऊँचा उठा देने से, कही सड़क या कुआँ बना देने से, या कहीं कोई कल-कारखाना खोलने से यह समस्या नही सुधरेगी? आदमी-आदमी के बीच अथवा देश-देश के बीच केवल चिकनी-चुपड़ी बातें कहकर समय निकालने से भी आग बुझेगी नही। काम पर निकलना पड़ेगा। आराम और स्नेह की माया, आलस का मोह—कितने गड्ढे है रास्ते में। चलने के लिए निकलना पड़ेगा, नही तो देखते रहो, धू-धू घर जलता होगा। केवल ज़बानी जमा खर्च—समय बरबाद करना है।"

इन सबका क्या मतलब है? कैसे विचार तैर जाते है उसकी आँखों के आगे? शायद कुछ नही। एक-आध उड़ती चिड़िया जैसे आँगन में आकर बैठ जाती है, उसी तरह किसी समय की कोई बात आ जाती है उसकी ज़बान पर। उसके पिता कहते हैं—वह सब कुछ नहीं है, किताबों की पढाई का चूरा है, बँधा नही, घर आकर बैठ गया है, अतः मन भड़भड़ा रहा है। दुनियादारी में आने पर खुद ही सब भूल जायेगा। उन्ही की बात की लीक पकड़ माँ हिम्मत कर उन्हें समझाने की चेष्टा करने लगी। बोलीं, "मुझे लगता है—वो सिन्धु चौधरी की बेटी की बात से बात चलाते सो ठीक होता। भला घराना, भले लोग, रंग-रूप भी ठीक। क्या पता वही इसका मन लगा हो, लाज से कहता न हो। करना होगा तो हामी

...र लगा । नही तो ऐसे को किस उपाय से बाँधेंगे ?''

क्रोध से भृकुटी तान पिता ने जवाब दिया, ''हाँ, कुएं की रस्सी से, जबर-दस्ती बाँधेंगे । सिन्धु चौधरी के घर की बेटी लाऊँगा ? क्या मेरी अकल-बुद्धि सारी मारी गयी है ? जो लोग बस बाट चलते आदमी को पकड़ लें, सीधे ही, उसे चले है पालतू बनाने, इधर गाँव में पंचायत हो गयी, देश-भर में हल्ला मच गया, हमसे दो बात भी न पूछना न ताछना, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ूँगा । क्या अपना घर डुबोने के लिए ? यही अकल देती हो ? एक बार कह दिया तुमने, बहुत हो गया । बट महान्ती बाड़ी के दरवाज़े से कभी निमित्त की बात नही करता । फूटा डीह लेकर वह क्या वश-मरजादा दिखायेगा मेरे सामने ? उन लोगों का आइन्दा कभी नाम भी न लेना मेरे सामने !''

''किसने क्या किया, जो तुम यों बिफर रहे हो ? तुम क्या सोचते हो कि रवि जैसे लडके के मन में कही मैल-धूल का कण भी हो सकता है ? किसी घर-फोड़ू फालतू आदमी ने सत्रह रक़म की बातें हाँकी हैं । वह तो तब ख़ुद अपने मुँह से बता रहा था कि उस बार कैसे बन्दर ने पीछा किया तो वह जा पहुंचा था—।''

''अरे, यह भी कोई बात हुई ? दुनिया-भर मे जहाँ किसी को बन्दर काटने दौड़ा, या साँड मारने भागा या ततैया ने पीछा किया तो मेरे बेटे को ही वहाँ जाने की ज़रूरत पड़ी ? क्या और कोई न था ? कुछ नही, ये सब बेकार बातें हैं । जिसे कहते हैं—षड्यन्त्र !''

''तुम तो, झूठमूठ वैसा सोचते हो—।''

''झूठ हो चाहे सच, मेरा वहाँ ब्याह का विचार नही । बस बात पूरी हुई । और मुझे तो जानती ही हो, तुम माँ-बेटो ने मेरे मत के विरुद्ध किया तो देखो, मैं और इस घर मे नही रहूँगा । जीवन का सौदा है, यह कोई बच्चों का खेल नही । चारो ओर से कितना सोच-विचारकर पग उठाना पड़ता है । सोंख में बह जाने से कैसे होगा ? मेरी इज्जत है, महत है, बाईस गाँव में नाम चलता है, लोग कहेंगे किस घर का किस कुल का आदमी था, उसने आख़िरकार यही किया, और कही कोई दिखा ही नहीं ? फालतू मे मेरा पारा चढ़ जाता है, तुम छोड़ो वह बात, और उनकी चर्चा मत करो !''

उस ओर पिता । इस ओर बेटा ।

बीच मे वे ख़ुद हैं । भगवान् को पुकारकर प्रतीक्षा करने की बात बच रहती है । जो भी हो, मन नही मानता । अनजाने ही छाती अन्दर से काँप उठती ।

वराह द्वादशी, आज भगवान् वराह ने अवतार लिया था। बन्धमूल गाँव के दाहिनी ओर के रास्ते के उस ओर परती है। वहाँ थोड़ा-सा घना जंगल है। उसी के बीच जाने किस जमाने का छोटा-सा ईंट का बना देवाला खड़ा है। उसमें काले पत्थर की दो हाथ ऊँची चिकनी वराह की मूर्ति है। दाँत और आगे की ओर निकली थूथन पर काले पत्थर की अर्द्ध गोलाकार पृथ्वी रखी है। मानो बनैला वराह के कोई बेल का आधा टुकड़ा लेकर खड़ा होते न होते वह बेल और वराह दोनों ही पत्थर हो गये हैं। वर्ष-भर वह कैसे रहता है, कैसे चलता है, कोई उसकी खोज-खबर लेने नहीं आता। पूजा-सेवा के लिए ज़मीन है, पर पूजा करने वालों का कहना है कि ज़माना हुआ वह ज़मीन चली गयी। बस बची है आज दिन-भर की सेवा, भोग से आधा हिस्सा। और खुशी से कोई देता है या मनौती करता है कभी-कभार तो बस वह।

आज के दिन वहाँ मेला लगता है। आस-पास के गाँवों से लोग आ-आकर जुटते हैं। मन्दिर के सामने से जंगल साफ़ होता है। पास के पुराने कुएँ की मुँडेर के चारों ओर से झाड़-झंखाड़ काटकर साफ़ किया जाता है, वहाँ एक नयी रस्सी लगायी जाती है, कुएँ को साफ़ किया जाता है। झुरमुटों के नीचे जगह बनायी जाती है। फिर बेच-ख़रीद शुरू हो जाती है। साँप, चिड़ियों और गीदड़ों को भगाकर वह वनभूमि कीर्तन, संगीत और झाँझ-मजीरे के स्वर से मुखरित हो उठती है। कहीं सँपेरों की बीन भी सुनाई देती। और कहीं एक-आध हार-मोनियम। दिन में और रात में जगह-जगह महोत्सव मनानेवालों के चूल्हे जलते दिखते।

वराह आज जी भरकर नहाते हैं। उनकी देह पर मक्खन से मालिश की जाती है, कनखे फूटे मूँग, चने और अन्य अंकुराये अनाजों के साथ 'सरणुलि', घी मक्खन से तर मड़वे के पीठे, ये आज उनके विशिष्ट भोग हैं। इसके अलावा जो और जो कुछ श्रद्धा से ले आये—खीर, खिचड़ी, केला, नारियल, पीठा, पना, भात, तरकारी। उनके चरणों में सिर टिकाये प्रणाम कर लोग भोग-भाग्य, सन्तान, धन, रोग से मुक्ति—जिसे जो चाहिए माँगते हैं।

और वे वहाँ देखते। रोज़ घर-गिरस्ती की भारी चिन्ता के बीच अचानक किसी फाँक से होकर झर आता मन के विशिष्ट क्षणों में अचम्भित होने का गुण। जाने किस अनादि काल की सूखी नदी के नीचे से फाल्गुनी धार वह निकलती। उसमें मानो आँखें भिगोकर आदमी चारों ओर देखता। चौंध-चौंध-सा लगता, चौंक उठता। वही झाड़-झखाड़, उसके उधर घना जंगल। कितनी बार की देखी-

जानी पुरानी जगह। गाय-बकरियाँ चरने आतीं। पास-पास में इस गाँव से उस गाँव और उस गाँव से इस गाँव को रास्ते गये हैं। वहाँ और कई चीजें आँखों में पड़तीं। केवल समय और आदमी की स्मृति और कल्पना की मिली-जुली छाया की सृष्टि।

वो देखो मुँह बाये देख रहे है एक गड्ढे के किनारे कुछ स्त्री-पुरुष, बच्चे से लेकर बूढे तक, गड्ढे मे खिरनी, कँटाइ और कई झुरमुट फैले हुए हैं। कैसे धूप मे लपलपाते चिकने-से दिख रहे है उनके पत्ते...और उसकी हरित लहर! एक भरत पक्षी और कलिंग पक्षी लड़ते-से खेल रहे है। हलकी भूरी और हरी पट्टीदार देह सुन्दर दिख रही है पर कितना कर्कश सुनाई दे रहा है उनका स्वर। और गड्ढे के किनारे-किनारे इधर-उधर झुरमुटों के बीच एक-एक ऊँचे-ऊँचे पेड़ है—केन्दु, गूलर, खजूर, बेल और बीच-बीच मे एक 'पाटली' लता है—रक्त-जैसे लाल फूल, मानो डाली के साथ झर रहे है। और उस ओर है एक घना इमली का पेड़। पूरे दम्भ के साथ इन सबके उधर खड़ा है एक घना लम्बा सेमल का पेड जिसके पत्ते नही दिख रहे, सिर्फ लाल-लाल फूलों से लदा है। इसके इधर आधा ठूंठ हुआ पुराना बरगद है जो एक भाग माटी बना और आधा बचा हुआ है। सट-सटकर खम्भो की तरह जटाएँ है। ऊपर ही ऊपर से टूट गया पेड़। आँखों के सामने वही पुरानी किंवदन्ती नाच उठती है—किसने कब कही थी, किसे मालूम है, कही होगी ज़रूर, किसी ने किसी से कुछ ही देर पहले बात छेड़ी होगी। बात का छोर पकड लोगो ने चर्चा भी की होगी। इसके बाद एक-एक कितनो के बीच पडी होगी। फिर वही उत्सुक दृष्टि—यही वह गड्ढा है।

तब यह गड्ढा राजा के महल के पास का पोखर था। उधर का वह बूढ़ा था राजमहल। इधर उनके पूर्वजों ने वराहनाथ की स्थापना की थी। राजमहल मे वे रहेगे नही। वे तो बाहर घूमनेवाले ठाकुरजी ठहरे।

"यहाँ!" "हाँ यही!" आगे गरदन उचक जाती है। आँखें विस्मय से फैल जाती है। पिघलकर भाप बन उड जाती है यह एकान्त परती और घनी झुरमुटी बनी उजाड बस्ती का चित्र खिल जाता है आखों के आगे और उसके उधर राजमहल। काँटो के झुरमुटों से ढँका गड्ढा कोई उथला नही है, पहले यहाँ काँच की तरह दिखते साफ पानी से भरा पोखरा, कमल खिले रहते, सुन्दर पावछ थे, सहारे-सहारे खिले फूल। पद्मिनी कन्या पानी मे निकली आ रही—राजा देख रहे है।

कहानी कही गयी है—कि तब यहाँ असल मे राजमहल न था, शबर पल्ली थी। तब इस इलाके मे शबर राजा थे, राजधानी उनकी थी एकाम्र। ढेंकानाल मे कपिलास पहाड़ पर सन्त शिखरा साधर तपस्या करके शिखरेश्वर महादेव हो गये। उनके वंश मे आगे चलकर दण्डी पाटमहादेवी बनी। उस तरफ़ समुद्र के

किनारे उनके गुरु थे सन्त मुद्गल, जिनकी मूर्ति अभी भी है। वे ही तो पहले इन शबर जगन्नाथ को पूजते थे। पहाड़-जंगल, लताच्छादित वालूचर, झाऊवन के उस ओर महोदधि, मालभूमि या समतल, सब जगह वे शबर—शबर थे—महाभारत में लिखा है न? एँ?

शबर पल्ली थी उधर। इधर बड़ा पद्मपोखर। राजा शिकार खेलने पधारे थे। पल्ली के रास्ते से गुजरते समय देख गये थे कि किसी की बाँधी साड़ी सूख रही थी जिस पर भँवरे बैठे थे। राजा जान गये कि यहाँ कोई पद्मिनी कन्या है। छोर खोजा, बाद मे पद्मपोखर पर आँखें चार हुई। ताड़पत्र की पोथी मे जैसा चित्र आँका गया होता है ठीक वैसी ही पद्मिनी कन्या! ततैये की तरह पतली कमर, हरिण जैसी आँखें। आदि-आदि।

शबर राज़ी हुआ कि ब्याह देगा। पर शर्त बस एक ही थी—राजा महल बनवाकर यहाँ रहेंगे, बेटी यही रहेगी, शहर में नही जायेगी। राजा मान गये। इसके बाद यहाँ खडा किया गया महल और गढ। वराहनाथ की स्थापना हुई। पद्मिनी शबर कन्या के तेरह पुत्र हुए। उन्हें एक-एक गढ मे सामन्त बनाकर रखा गया। उन्हे ही अब कहा जाता है—तेरह सवरी खण्डायत।

यह देखो, दूसरी तरफ जो ढूह दिख रहा है, वह था मुखीजी का निवास। मुखीजी यानी राजा के मुख्य मन्त्रीजी। किसी राजा के समय मुखीजी और ब्राह्मणों के बीच बहुत बड़ी टक्कर हो गयी। ब्राह्मण ठहरे महापण्डित। राजा उन्ही की मानकर चलते। उन्हें बहुत कुछ देते-दिलाते रहते। मुखीजी से यह सहा न जाता। मुखीजी सोचते, ये राजा पण्डितों की बात अधिक सुनते है। उनका समय गया। सो मुखीजी ने एक तरकीब लगायी। छिप-छिपाकर ब्राह्मणो के घर की कुरी में केंकडो के छिलके, मछलियों के काँटे आदि गड़वा दिये। राजा को कहलवा दिया कि ये ब्राह्मण अनाचारी हैं, आचार-भ्रष्ट होकर आमिष खाने लगे है। यहाँ तक कि केंकड़े-घोंघे तक खाने लगे हैं। महाराज स्वय देखें उनकी कुरी। राजा ने देखा। गम्भीर होकर ब्राह्मणों को आदेश हुआ, "ये सब छिलके, मछली के काँटे तुम्हारे घर-बार के आगे मिले हैं, इस बात का क्या जवाब है?"

ब्राह्मणों ने छलछलायी आँखों से उन चीजो की ओर देखा और उन चीज़ों को सम्बोधित कर कहा, "हम तुम्हें लाये नही, हम तुम्हें जानते नही, सचमुच अगर हमारा तुमसे कोई सरोकार है तब तो जैसे हो वैसे ही रहो, नही, तो अगर कोई और लाया है तो अपना-अपना रूप धरकर उनके पास चले जाओ।"

देखते ही देखते वे हाड़-ककाल सजीव हो उठे। केंकड़ा, मछलियाँ, घोंघे, जिनके जैसे हाड़ थे वे सब मिलकर चल पड़े मुखीजी की ओर। राजा मुखीजी की कारस्तानी समझ गये। हुकम हुआ, उनका समूल वशसहित नाश कर दिया जाये। वह उधर रास्ते के पास जो खड्ड दिखता है वही मुखीजी का वश खतम

पान की पीक अथवा बीड़ी का टुकड़ा, किसी-किसी जगह पर भीगा-भीगा तो कहीं-कहीं टूटे-फूटे ठीकरे, सूखे पत्तल, खाने-पीने के बाद की जूठन—और कितना कुछ आलतू-फालतू। वह जितना बीनता है, फेंकता उससे कम नहीं। उड़ती फिर रही है उसके देह की जीवित ऊष्मा और उसकी देह की मानवीय मानुषी गन्ध या महक। उसी तरह जैसे कुछ क्षण बैठकर चले गये हों मरुभूमि के बालू पर या घने जंगल के बीच। और तभी अन्य लोग पहुँचें तो उन्हें पता चल जाता है, शायद यहाँ आदमी बैठे थे!

देखते ही देखते उसकी भी स्मृति बदलने लगी है वहीं रहते-रहते। एक-एक भात या चावल का दाना चिड़ियाँ चुग गयीं, चीटियाँ ले गयी दोनों को, जहाँ जो पड़े थे। कहीं फटा चीथड़ा या टूटी टोकरी, उसपर दीमक धीरे-धीरे उठने लगी, माटी की पतली परत। पेड़ से पत्ते झर रहे हैं, फूल की पखुड़ियाँ झर रही हैं, आदमी से भी झर रहा है उसकी अवस्थिति का अनदेखा तेज। सब फिर कहीं बदलता जा रहा है, लोप हो रहा है। छाया-रोशनी-हवा एक साथ मिलकर यहाँ भी भर रहे हैं इस वनी और चौक में, पल-पल में अपना नया रूप!

दुकानें बिछ गयी हैं दो कतारों में। माला, करधनी की दुकान, पसारियों की दुकानें, हलवाई-मिठाईवालों की दुकानें। बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे सब लाये हैं अपनी-अपनी चीजें, इसके अलावा कारखानों में बनी चीजें। कपड़े-लत्ते, मिठाई, बरतन-भांड़े, कितनी चीजें। ताजा चीजें ढेर की ढेर आयी हैं। पान-बीड़ी-सिगरेट की दुकानें भी सजी हैं। टिन के दूध में बनी चूरा चाय यहाँ भी स्टोव पर उबल रही है। मुँह उलटाये मटियाले-से प्याले रखे हैं मानो अनेकों के जूठे बन लजा रहे हैं, फिर भी और कई लोगों के होंठों से लगना पड़ेगा। पौसरों पर कहीं छाया करने की चेष्टा की गयी थी, पर पूरा हुए बिना अधूरी हालत में पड़ा है। अपने आप छाया देनेवाले कुछ पेड़ हैं। चाहे छोटे ही हों। एक-एक आँवला के पेड़। एक-एक जामुन और एक-एक इधर-उधर के पेड़। उनमें अनाप-शनाप लताएँ लिपटी हैं। पेड़ और लताएँ जगह-जगह गुंथकर छोटे-छोटे कुंज बन गये थे। वहाँ भाँति-भाँति के जंगली फूल। दुकानों के उधर वन। एक-एक बड़े-बड़े पेड़। सिरस, कुचला, बरगद, पीपल वगैरह। जगह-जगह गहरे लाल फूलों के झूलते गुच्छे। सेमल, पलाश, पालिधी, लतापलाश आदि कितने पेड़-लताएँ अलग-अलग हैं। देवल के पास कई पुराने बकुल, पुराने नागेश्वर के पेड़ और कुछ पुराने गुलमोहर खड़े थे। फागुनी हवा की महक फैली है। और केतकी फूलों की खुशबू चुपके से चली आती है। इस वन में कहीं छुपी है। और कुरैया फूलों की तेज सुगन्ध तो सब जगह है। वन-जंगल और सभ्य आदमी एक जगह मिले हैं आज के दिन। आज वराहनाथजी का जन्म-दिन है।

जगह पर पैर धरते-धरते सुना हुआ अतीत याद पड़ जाता है। केवल

किंवदन्तियाँ ! दादा ने अपनी नानी से सुनी । अपनी बेटी से कही । बुआ ने कही भतीजे से—जो कहा करते थे, वे भी गये !

आदमियों की भीड़ के बीच चर्चा के समय वसन्त है इर्द-गिर्द । लाल और हरा । उधर काली अमराई से वकुल की महक तैर आती है, घास पर मुँह बाये, नथुने फुलाये यह जो सफ़ेद गाय खड़ी है, शायद इसके मुँह के काले-काले दागों में वही महक लिपटी है । एक ही क़तार में तीन इमली के गाछ । तीनों बहुत बूढ़े । माघ में फल पककर झर जाने के बाद भी एक-आध लटक रहे हैं । कुछ नयी कोंपलें फूट रही हैं, हलकी सब्जरगी । दो बहुत पुराने नीम के पेड़ । ललाई लिये पत्तों के बीच फूल भरे है, बौराये हैं । नीचे की वनी में 'गोल गाछ' फल देकर थककर सोया पड़ा है । केवड़े के झुरमुट में नीचे के पत्ते पक आये हैं, ऊपर के गहरे हरे । बेर, कितने पककर सूख गये फिर भी झाड़ी से लटक रहे हैं । छोटे-छोटे नये पत्ते फूट रहे है । नये पत्ते, नयी कलियाँ, नयी महक !

भीड जम रही है । देवाले के दरवाज़े पर धक्कम-धक्का, आगे जाकर उस विग्रह के आगे पूजा कर आने का आग्रह सबमें । इसी दिन इस जगह ऐसे ही पूजा की है इस इलाके भर के कितने पुश्त दर पुश्त लोगों ने, उन सबने समर्थन किया है कि पाप दूर हो, पुण्य की प्रतिष्ठा हो । सद्विचार और सत्कार्य विराजते रहें इस धरती पर । आदमी को शान्ति मिले, ग्रहों को शान्ति मिले, सृष्टि पर शान्ति हो । वनी के बीच उजाड़ में आदमी ने सत्य और शान्ति की पूजा की है, दीया-बाती किया है, बाजा बजाया है, जैजैकार कर रहा है, ओदक और भोग बाँट रहा है ।

वराह अशीर्वाद करेंगे, दया करेंगे, अभाव मिटायेंगे, रोग दूर करेंगे, बाल-बच्चे देंगे, मुकदमा जितायेंगे । बेचने की चीजों का भाव बढ़ायेंगे, खरीद की चीज का घटायेंगे, फसल सोलह आने करेंगे, आदमी जो कुछ भी सोच सकता है वह सब करेंगे, जो नहीं सोच पाता वह भी । बस जता देने में ही सुख है ।

वराह मेले मे भोर से ही लोगों की धार बह छूटी है, दूर-दूर से मेला देखने वाले पहुँचते है । फागुनी धूल उठने लगी है आकाश मामूली धुँधला गया है । छायेदार रास्ते पर पैदल चलनेवालों की धार कितनी ही दूर तक चली गयी है । खेतों के छोर पर, पोखर की पाल पर, बाँस के झुरमुट तले । कभी किसी गाँव के रास्ते पर जाते बाचकर चलते-चलते ढोल पर दो थाप दाँव-दाँव दे देते हैं । किसी रास्ते पर बैठ जाते हैं कुछ बटोही । लोग घेर लेते हैं । पोखर के पास कोई कपड़े रख नीचे उतर जाता है । बच्चे गोद में हैं, कोई-कोई कन्धे पर चढ़े हैं । किसी की पीठ पर पोटली है, किसी के सिर पर बोझ है । प्रातः सबके कन्धों से थैलियाँ झूल रही हैं । जल्दी-जल्दी बातचीत, हँसी और नकल । जूड़ा तेल मे चमक रहा, देह पर साफ धोती जो इस माटी पर अनभ्यस्त-सी लगती । वैसे

ही कोरी नयी कमीज। गाल का फुलाव कम होते न होते चलते-चलते ही चाल धीमी कर, बटुआ खोल पान लगाते हैं, बात-बात में ठहाका! बता देते हैं कि ये सब मेला देखने जा रहे हैं।

"क्या यही विचार किया, समधी ने?" कोई बुढ़िया अपने किसी साथिन से कहती जा रही है, "एक उनकी बेटी ही तो है नहीं उनके घर पर। वैसे तीन-तीन बहुएँ हैं, ननद भी भगवान् की दी हुई है। इस तरह चार जने हुए। अपनी बेटी को ही बीस की साड़ी लाकर दी, अगर उसे ही चारों में बाँटकर सस्ती साड़ी ही ला देते तो क्या मर्यादा न रहती? बस अपनी बेटी आखों को दिखी, परायी बेटी तो दिखी नहीं। बताओ, ऐसे दुनिया कैसे चलेगी?"

साथ की बुढ़िया कुछ लँगड़ाते-लँगड़ाते कमर पर हाथ रखे चल रही थी। कहा, "यह बुद्धि अब इसी युग में हुई है, बहन! बस मेरा-मेरा करने में ही तो दुनिया डूब गयी, और अब क्या रहा? अब भाई अपनी बहन की खबर कैसे लेता है—हमारे ही घर में देखो न! गधिया चाकरीवाले गाँव से लौटा था। भाई आ रहा है सुनकर बहन के तो बस पैर ही नहीं टिक रहे थे। स्त्री के लिए तो हार ले आया, बहन के लिए कुछ नहीं। उलटे कहता है, उसके पीहरवालों ने भेजा है। यही तो कलयुग है, कहीं पेड़ों में थोड़े ही फलता है!"

दो युवक बातें कर रहे हैं। पीछे से देखने पर दोनों की देह प्रायः एक ही ढाँचे की, पैर भी धनुष की तरह बाँके, बौना चेहरा, देह के अनुपात में सिर और हाथ बड़े दिख रहे हैं। एक कह रहा था, "भाग करना है सो अच्छी तरह बाँट लिया उसमें, फिर विचार क्या? रास्तेवाला कमरा बस पाँच हाथ का था। हो गया ढाई-ढाई हाथ, बीच में दीवार दी। जो था सब आधा-आधा। भारत पोथी में से आरण्यक पर्व था, वह भी समूचा न था, पीछे का कितना तो दीमक चाट गयी थी, उसे भी आधा किया गया। भाई-भाई का बँटवारा, कोई क्यों अधिक ले? जो न बँट सकी, उसे बेच दिया गया। पैसा बाँट लिया फिर। सुग्गा था उसे उड़ा दिया, उसका काम हो गया।"

आदमी चले जा रहे हैं, भाँय-भाँय बातें उड़ती चली जा रही हैं। किस समय, किस जगह किसी के व्यक्तित्व का प्रकाश। इसके बाद फिर वहाँ वह नहीं होता।

धू-धू करती हवा बह रही है। हवा में कोई लकीर नहीं, न खील है।

इसी माटी पर युग के बाद युग बहते चले जाते हैं। रौंदते चला जाता है एक पर एक पटवार।

समय बदला है। दबाकर रखनेवाला ढक्कन उठ गया है। यह ढक्कन सदा ही न था पर बीच में डेढ़ सौ बरस तो जरूर था। अचानक आयी थी स्वाधीनता। पिंजरे का पछी बाहर आकर फड़फड़ाता पंख तौल रहा है। किसी-किसी ने तो

अब तक भी यह अनुभव ही नही किया कि वह मुक्त हो चुका है। साआन्तो का वश-गौरव, राजाओं का राजत्व लोप हो चुका है, पर किसी की आंखो मे अब तक भी रह गया है वही पुराना मोह जिसका जन्म भय से, फिर भय का जन्म युग-युग के दमन से, शोपण से है, अत: 'है' कहते ही अब भी उसके पैरों मे अपने आप गति भर जाती है। वह दौड़ रहा है पुराना साआन्त। कड़ा कुछ कह दे तो भी वह सिर नही उठाता। सिर झुकाये रहता है, काम बताने पर कहना मानता है जैसे कि करते थे उसके पूर्वज। उस अंधेरे युग की धर-पकड़, धमक और अत्याचार की आंच से पिघले सांचे मे ढलकर गढ़ी हैं उसकी नीति-अनीति, पाप-पुण्य के बारे मे धारणाएँ। उनको विचार छूता नही, विश्वास चिपटा रहता। जो-जो अधिकार पहले उससे छीन लिये गये हैं, उसने मान लिया है कि वह उसके नही। उधर हाथ बढाना पाप होगा, दोप होगा। वैसे ही वह यह मान बैठा है कि जमीन मालिक की है, उसकी नहीं। बँटाईदार मे जोतने-वाले का तीन और जमीन के मालिक का दो भाग होगा यह कानून सरकार ने बना दिया तो भी वह सोचता है कि मालिक का आठ आना या दस आना तो ईश्वरदत्त अधिकार है। उतना न देना असत् होगा, उसे पाप लगेगा। फिर हरिजनो का मन्दिर-प्रवेश। पहले तो वे बूढे-बडेरे हरिजन खुद घबराये। सोचा, मन्दिर में घुसे तो छाती फट जायेगी, पुराना चलन ही ठीक है। जहाँ ज्ञान नही पहुँचा, प्रकाश नही पहुँचा, आदमी के मन मे अँधेरा और अन्धविश्वास का भय है, वहाँ स्वाधीनता के बावजूद भय-संकोच से गढ़े पुराने संस्कारों का राजत्व अब भी चल रहा है, टूटा नही। पर वह अँधेरा, सन्देह रह गया है पुराने मरहटियों के मन में। और कहीं ठेठ देहात या अँधेरे वन-पहाड़ों में, जहाँ बाहर की खबर सहसा पहुँचती ही नही। और जहाँ शहर है या शहर के साथ सम्पर्क है, जहाँ कि कोई चाहे कुलीगिरी करने ही जाकर बाहर घूम आया है, दस बातें देख आया है—वहाँ अवस्था कुछ भिन्न प्रकार की है। नदी किनारे का बन्धमूल गाँव शहर से कोई अधिक दूर न था। कुल पाँच कोस रास्ता। एक नदी बहती आयी है शहर की ओर से इधर। सम्बन्ध जोड़े हैं लम्बा बाँध का रास्ता और आती-जाती नावें। बाहर से इस रास्ते जो साइकिलें जाती हैं, जो घूम-फिरकर बेचनेवाले कभी-कभी आते हैं, जो डाकिया आता है, कभी कैसे अपने प्रचार के लिए अचानक जो नेता टपक पडते हैं, जिन टरणि-टाउटरों का काम हुआ घर-घर घूमकर मुकदमे के लिए तैयार कराना, वे सब लाये थे—चलती दुनिया मे बदली समाज-चेतना का सन्देश। और लाकर बाँट दिया था।

नये विचार के साथ बढ उठा है नया आदमी। वह सिर्फ़ स्वस्थ और शरीर के नीरोग होने-भर से शान्ति नही पाता। मन बुदबुदाता है—अधिकार पाने के लिए। अपनी मेहनत से वह जो गढ़ेगा, उतना होगा उसका। उसमे परारे

किसी का अधिकार नही होगा। जहाँ वह रहेगा, चलना-फिरना करेगा, उतना सोलहों आने उसी का होकर रहेगा, अन्य कोई हिस्सेदार नहीं। जीने के लिए न्यूनतम जितना चाहिए उसपर उसका अपने आप अधिकार है। क्योंकि वह आदमी है। उसके जन्म लेते न लेते उसके लिए इस पृथ्वी को गढ़कर रखा है स्रष्टा ने। अन्तराय बनकर जितने-जितने चलन हैं, वे केवल खाऊँ-मारू लोगों के लिए रास्ता साफ करने के लिए हैं। न्याय-नीति का भेष पहने वे हैं बक-वैष्णव, वे उनकी आशा के प्रतिकूल हैं। इन सबमें उनका विश्वास नहीं।

एक ओर बदलता हुआ समय और दूसरी ओर बदला हुआ साधारण श्रमजीवी। दोनों हाथों से इन दोनों प्रचण्ड शक्तियों को हटाकर अलग रखने के लिए बीच में यह मझोली श्रेणी। वह कोई धनकुबेर नहीं या वस्तु उत्पादक श्रमिक नहीं, पर बुद्धि और संगठन से यह श्रेणी समाज में नेता बनी है। पीढ़ी दर पीढ़ी होती आयी है। अब तो छटपटा रही है। अपने हाथों में कभी हल पकडा नही, पत्थर का टुकड़ा भी फोड़ा नहीं, और कभी अगर काम किया भी है तो बस कुछ समय के लिए। अपने मन मुताबिक़, ख़ुशी से; कोई वृत्ति के लिए नहीं। ऐसे शौक ही शौक़ से उसने थोड़ी-बहुत फुलवारी भी कभी लगायी है। कभी मजूरों के साथ खेत में कन्धा भी लगाया है। पर अपने देह की मेहनत पर वह निर्भर नही करता। वह काम उसने छोड़ दिया है—चासी मजूरो पर। उन लोगों के श्रम से हिस्सा लेता था। अपने लिए दस आना—उनका छह आना। अपना आठ आना—उनका आठ आना, जब जैसी सुविधा मिली और सम्भव हुआ। ख़ुद वह पकड़ता था दूसरी वृत्ति, जिसमें उसकी देह का बल लगता नही, पर दिमाग ख़र्च होता है, विद्या-बुद्धि लगती है। किसी में खास कौशल की भी ज़रूरत पड़ती। नही तो अपना खेती का काम परायों पर छोडकर वह होता था परदेसी चाकरिया, कोई चँगल की जूट मिल में श्रमिक, कोई बाबू के घर पर चाकर या रसोइया, तो कोई सरकारी कर्मचारी, चपरासी से हाकिम तक। कितने ही व्यवसायी और वृत्तिजीवी, डॉक्टर, वकील, शिल्पी, कितने ही शिक्षक, पडित, बुद्धिजीवी, कलाविद्, जो सामाजिक नीति और विचार के प्रवर्तक या प्रचारक कहलाते हैं, जो साम्यवाद-समाजवाद, श्रम का मूल्य, श्रमिक की मर्यादा आदि के नये आवाहक है, आन्दोलनकारी है, जो ज्ञान और विचार मार्ग से अनुशीलन कर समझा-बुझाकर श्रमजीवी को चेता रहे है उसके अधिकार और दावे के सम्बन्ध में, वे भी दुनियावी चलन में अपनी जमीन की खेती उसी पुरानी रीति से चासी मजूरों पर छोडकर उनसे हिस्सा लेकर चलते हैं।

पराये पसीने की कमाई में से अनाज वसूल गाँव से लाकर मजे में खाकर शहर में अपना दूसरा धन्धा चला रहे है। फिर विचारो के विलास में पडे उन्हीं में से कुछ लोग सोचते है, समझाते है, वही बात, जिसे वे लोग उचित मानते हैं

अपने मन में, किन्तु कार्य में परिणत नही कर पाते। कार्य मे तो उसी पुराने जमाने से चले आते चलन को ही मानते है। उनका कहना है कि अब बेगार का लोप होना चाहिए, ब्याज की दर कम होनी चाहिए। जमीन पर जो खुद खटता है, फ़सल मे बड़ा भाग उसी का हो, वरन् ज़मीन उसी की हो। नया युग अपनी बात उन मझोलियो के ही मुंह से कहलवा रहा था, चाहे उनके चलन और रीति पर सीधी चोट ही क्यों न करती हो।

और फिर सचमुच जब चासी मजूर अपनी माँग रखकर सुविधा-सुयोग चाहने लगे, तभी असुविधा पैदा हुई। इस बिचौलिये श्रेणी के आकाश-महल में नीचे-ऊपर तक हलचल मच गयी। मजूर अब मुफ्त में कोई काम नही कर जायेगा। सस्ते में मजूरी नही करेगा। पहले की तरह लाकर ढेर नही लगा जायेगा। अपने घर के सामने आम के पेड से आमों का हिस्सा, अपने घर के पोखर से मछलियाँ, ज़मीन से पुआल लाकर बाबू का घर भरना तो दूर, उलटे आप दस आना रख जमीन की उपज मे से छह आने लाकर देना भी मुश्किल हो गया है। लाल आँख दिखा देने-भर से अब वह और पहले की तरह आराम से ज़मीन नही छोड़ देगा, घर छोडकर उठ नही जायेगा। वह खुशामद नही करेगा, देह को मोड-मरोड टेढी कर सिर झुकाये खड़ा हुआ विनय-भगती नही करेगा। अब और पहले की तरह समय नही कि चाहे जितना भी बकाया होता जाये, गुड़िया साहू करज देता जायेगा, केवल चिवड़ा देता रहेगा। अब अहीर सवारी ढोयेंगे नहीं, बाउरी स्त्रियाँ पावला-धेली पर घर लीपने आयेंगी नही। नही—नही—नही। उस जमाने की बाते गयी भूल, औरों पर हाकिमाई लोप होती आ रही है। जिसे जो पहले स्वय ही मिल जाता था, अब और वह मिलता नही। यहाँ तक कि प्रणाम-दण्डवत् भी कितना कम हो गये है। हाथ से काम कर जीना न सीखने के कारण मझोली श्रेणी के लोगो के लिए गाँव मे रहकर चलना क्रमशः असम्भव होता जा रहा है। शहर में वरन् पैसे खर्च करने पर सब खरीदा जा सकता है, गाँव मे पैसा भी उतना असर नही करता।

मझोली श्रेणी के लोग सोच रहे है बड़ी तेजी से। मन में हताशा का भाव है। जिस सूत्र से पूर्वजों की रख छोडी जमीन की फसल अपने आप प्राप्त होती चलती आयी, अपने बेटे-पोतो के समय तक शायद वैसा नही हो सकेगा। यह ज़मीन-बाडी उनकी होकर नहीं रहेगी। चाकरी से पेंशन पाने के बाद घर बैठकर सुख से बिताया नही जा सकेगा—हिस्से के धान के आसरे पर। किसी विधवा, किसी थोड़ी तनख्वाह पानेवाले का काम चिर आचरित रीति से उन्ही परायों के श्रम से भाग लेकर चल जाया करता था, अब शायद सम्भव दिखता नही वैसा। जीवन जीने के पुराने तरीके को बदल अब नये तरीके का अभ्यास करने का समय और उमर भी नही। दूसरे के श्रम से हिस्सा पाना कम होने के साथ-साथ

पुरानी मर्यादा भी कम हो जायेगी, ज़मीन पर घिसटती-सी धोती पहनना, डब्बे-डब्बे-भर पान, पूनम पर्व पर पिठा-पना खाने-खिलाने की धूम, भर टोकरी का देन-लेन, बन्धु-मेहमानों की आवभगत का आडम्बर। ब्याह निमित्त यात्रा-तमाशे का आडम्बर, कितना कुछ बदल जायेगा। टूटी दीवार, फटी छान, खाली डीह, परिश्रम के अनभ्यस्त सुकुमार देह लेकर श्रम संघर्ष के जीवन में दुर्बल प्रतियोगिता, आचरण में नैराश्य से भरा छोटा मन शायद ऐसा ही होगा—मझोली श्रेणी के निचले स्तर के चिह्नवर्ण उस स्तर के गाँव के खटकर खानेवाले समाज के साथ मिल जाने तक। वैसे मिलने के लिए केवल देह का अलगाव ही अड़चन नहीं है। पहले तो समाज के संस्कार ही आड़े आते है, कितनी ही दु:खी विधवा हो तो भी साभ्रान्त घर की बड़ी बहू खेत निराने जायेगी कैसे? उसकी बजाय घर मे पड़े रहकर मरना चाहेगी वह। किन्तु मरण को आलिंगन करने की भावना भी केवल मन का एक ख़याल है। एक झोंक की बात है। कुछ लोग झोंक में बहकर मशान जा सकते है, पर ईश्वर की गढ़ी देह की जरूरत और नित्य सतेज अखण्ड जीवन का लोभ स्वत: जय प्राप्त करेगा मन की उस झोक पर, जिसकी नींव केवल कुसस्कार, केवल अतीत की कहानी की धुआँ पर है, आज की माटीमटाल (पक्की माटी) पर नहीं। अत: मझोली श्रेणी भयभीत है, चिन्तित है, अत: वह दीवार के सहारे पीठ सटाकर अब आख़िरी लड़ाई लड़ने में व्यस्त है। समय रहते अपनी जमीन से बँटाईदार चासी को हटाकर ज़मीन अपने अख़्तियार में लेनी पड़ेगी। सादे काग़ज़ पर अँगूठे का निशान लेकर चासी-मजूर को अनुबन्ध में बाँधने के बाद तब ज़मीन देनी होगी।

बाद मे अगर बँटाईदारी क़ानून के मुताबिक पांच भ.ग में तीन भाग का दावा करे, पहले के चलन के अनुसार निश्चित आठ आना भाग न दे, या ज़मीन छोड़ने को कहने पर इनकार कर दे, तब उस कागज़ द्वारा जो मन मे आये सो लिखकर बक़ाया निकाला जा सकेगा, मुकदमा-नालिस की जा सकेगी। और भी दावँ-पेंच लगाने होंगे, कई उपाय करने होंगे। उन्हीं के बीच आपसी कलह पैदा कर उनकी तरफ़ के लोगों को लाकर अपनी तरफ रखना पड़ेगा।

बराह-दशमी का 'मेला-महोछव' देखने जाते समय भी रास्ते में बराबर के लोग मिलें तो बड़े-बूढ़ों में यही चर्चा! बदल गये सामाजिक सस्कारो की पृष्ठभूमि के सामने देश की अवस्था—जीती-जागती समस्या!

कोफ़्त-भरी दोपहर ढलती जा रही थी गोधूलि की ओर। संकीर्तन से कान फटे जा रहे थे। झुण्ड के झुण्ड खँजरीवाले बैठे थे। भीड भरपूर। सकीर्तन से हटकर इधर-उधर छोटे-मोटे दत्त चर्चाओं में लगे थे। वे सब आस-पास के गाँव के मुरब्बी श्रेणी के लोग थे। किस गाँव की क्या ख़बर है—यह भी चल पड़ती बीच में। और फिर खेत-बारी के बारे में, बँटाईदारों को उठाने को लेकर,

मुकदमेबाज़ी की बातें।

ज़मीदारी जिनकी चली गयी वैसे पुराने ज़मीदार, बँटाई पर खेती कराने वाले बड़े-बड़े किसान, पेंशन पाकर ज़मीन का आसरा लिये घर बैठे सरकारी कर्मचारी, साधारण लोग जो मामूली धन होने पर भी सदा वृद्धि खटाकर औरों को हाथ मे रख घर चलाते हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग जगह-जगह जुटकर अपनी-अपनी अनुभूति और अनुभवों की तुलना कर रहे हैं। सबकी आलोचना मे स्पष्ट हो रहा था—समय के विरुद्ध एक अभियोग। इसीलिए अगर कोई सरकार को दोषी ठहरा रहा था, तो कोई देश के लोगों को, खुद को छोड़ और सबको। पचास-साठ बरस पहले अगर कोई इस चर्चा में नये चलन के विरुद्ध अभियोग करता था तो वह होता—कोई अँगरेज़ी पढ़ा अपनी स्त्री को लेकर बाहर घूम रहा है। कोई कपड़े बदले बिना घर में घुसता है। किसी ने तिलक लगाना छोड दिया, तो किसी ने तीन कर्म का आचरण। किसी ने जात के बाहर सम्बन्ध कर लिया। सौ-दो सौ बरस पहले अगर चर्चा चलती, तो ज़मीदारी लाट मे उठने की बात, बंगाली किरानी का साग-मछली के भाव कलकत्ते में ज़मीदारी नीलाम पर लेकर उड़ीसा में आकर खास चौधरी बनकर बैठने की बात चलती; बरस-बरस में ही लगान बढ़ने की बात और कर के बोझ तथा लूट-अत्याचारों से गाँव के उजड़ने की बात चलती। अगर पन्द्रह-बीस वर्ष पहले बात चलती तो लोग चर्चा करते महात्मा गांधी की, सुराजी आन्दोलन की। घर-घर में, रास्ते पर, मेले-ठेले में, खेल-तमाशे मे आज चर्चा हो रही है इस आ रहे सामाजिक विप्लव की। किसी ज़माने की सुप्रतिष्ठित यह मझली श्रेणी अब धीरे-धीरे टूट रही है, रूप बदल रही है। चेष्टा कर रही है दूसरा रास्ता पकड़ टाल जाने की; इस संघर्ष से अपने आप उपज रहा है दलबन्दी, गुटबाज़ी, दंगा-झगडा, ठगी, नेतागिरी, झगड़ा-विद्वेष !

अभिमानपुर इलाक़े के पुराने ज़मींदार आनन्द पट्टनायक बातें कर रहे थे मंगराजपुर इलाके के पुराने ज़मीदार केलू पाइकराय से। पास ही थे अभिमानपुर के मणि महान्ती, नारायण महापात्र; मंगराजपुर के जुगल जेना, कुशल पण्ड, गोविन्द हाती, रणभाड़िकुदा के मकद्दम योगेन्द्र दास। आनन्द पट्टनायक लम्बे-गोरे सजीले आदमी, सन-जैसे बाल, लम्बी-लम्बी सफ़ेद मूँछें, छोटी आँखें; काँच की तरह चमकता ललाट। साफ़ धोती पर धुली पंजाबी और उसपर अभी भी डाल रखी है लम्बी चादर। किन्तु अब अन्य ठाट-बाट नहीं। पान का डब्बा थामे कन्धे पर गमछा डालकर नाई पीछे-पीछे रहा करता था—वह तो कब का

गया। पट्नायकजी ने साइकिल चढ़ना सीख लिया है। उधर सेमल के पेड़ तले रखी है। उसकी सीट पर लाल कपड़ा बँधा है। केलू पाइकराय चौड़े, वज़नदार आदमी, साँवले रंग के, भारी-भरकम सिर, चिपटा चेहरा, सुग्गे की चोंच सरीखी नाक, पीली कमीज पेट पर तनकर पड़ी है। पान का आदान-प्रदान कर दोनों मित्र हँसते हुए अतीत की चर्चा कर रहे हैं। पाइकरायजी अभिमानपुर के बूढ़े पट्नायक की बेटी के लड़के हैं—रिश्ते में आनन्द पट्नायक के फुफेरे भाई होते हैं। बात चल पड़ी थी—उस ज़माने में पाइकरायजी जब अभिमानपुर जाते तो कैसे भोज हुआ करता था। एक वक़्त कम से कम बकरी तो जरूर कटती। खीर-पूरी भरे रहते, कहाँ गया अब वह ज़माना! वह ऐश! वह मौज! पट्टनायकजी बता रहे थे, "मंगराजपुर में तो उससे भी बढ़कर, घी खोजने पर मिल जाता पचास वर्ष का। मोटे-मोटे घी के कीड़ों के भाजे मिलते थे सिर्फ़ मगराजपुर में ही और, कितने बूढ़े कोठले! कितनी गायें। हठात् देखते ही देखते लोप हो गया!" पट्टनायकजी ने कहा और सबने रास खींची, "जो हम फेंक देते थे, वह भी हमें आज नहीं मिलता। छोटे लोगों का तो मुँह ऊपर हो गया है।"

"हमारे गाँव के हरि पट्टनायक का बेटा गदेई हल लेकर आप ही हे-हे-डी-डी कर रहा है। कच्छा पहनकर, गमछे की पगड़ी बना, हाथ में छड़ी लिये... जो दृश्य सामने आता है उसका क्या बताऊँ?" आनन्द पट्टनायक ने कहा, *"कन्धे पर बन्दूक डाल आरमपुलिस हुए थे, बडी-बडी मूँछें रखी थी। सरकार ने* यहाँ से लेकर काला हाण्डी काशीपुर बदली कर दी सो यह पोशाक छोड़कर हल पकड़ा है। लाज-सरम तो गयी, क्या करे, पहले पेट—"

"उसकी क्या कहते हैं," पाइकरायजी ने कहा, "हमारी काकीजी को ही देखो न! हाँ, काका मर गये, अवस्था ख़राब हो गयी, कोई मना करता है? अब स्वयं चीला, बड़ा, पकौड़ी, बड़ी, अचार आदि, देखो न, एकदम खुले बेचना शुरू कर दिया है। सुबह देखो, उनके टूटे छप्पर के पास भीड़, सारी जात के लोग, इस तरह भी कहीं कोई आदमी इज्जत-महत को खाता है?"

गोविन्द हाती बूढ़े आदमी ठहरे। शख के खिलौने की तरह गोरी देह सूखकर झुरझुरा गयी। झुक गये हैं। बोले, "जात गयी, पाँत गयी, इज्जत-महत गया, सत डूबा, धर्म का लोप ही हो गया। अब तो हम आँख मीच दें तो, बस। जो आयेंगे वे आयें, पर हम दायी न होंगे इन सबके।"

मकद्दम गोविन्द दास गोलमटोल नाटे आदमी। गोल चेहरा, छोटे-छोटे पतले होंठ। होठों को मरोड़ते हुए हँसी रोक रहे थे। एक भी बाल पका नहीं, या सुडौल चेहरे पर कहीं कोई रेखा उभरी नहीं। कहने लगे, "क्यों, तुम्हारे कोई बात की कमी है, हातीजी! उधर दो बेटे नौकरी कर रहे हैं, धन्धे-बाड़ीवाले आदमी, इधर धीरे-धीरे अधिकांश ज़मीन भी तो क़ब्जे में आ गयी। बाउरी प्रजा तो कोरे

कागद पर अँगूठा टेक-टेक कर बँधी पडी है, कोई रस्सी से बाँधता है, आपने तो महाराज सीधे लोहे की साँकल से बाँध रखा है, कौन खोल सकेगा? आपका तो जो था वही है, कुछ वढोतरी भले ही हुई हो, घटा कहाँ?"

"घटा नही? क्यो, देखा है तुमने? अब बूढे हो गये? तब के ज़माने मे अकेला काँसा-भर उडद की दाल, लोटा-भर दूध, एक पूरी इलसी मछली, बकरी का मास आधा सेर, दस चौका नारियल के काकरा पिठा..."

"वह तो भगवान् की लीला है, हातीजी, हम सभी तो बूढ़े होंगे। उस बात पर तो किसी का जोर नही चलता। असम में है यह चलनेवाली बात, आप तो पहले से ही हुशियार हो गये!"

"ये देखें और एक हुशियार आ गये"—मगराजपुर के जुगल जेना ने कहा। ठिगने, गोरे, सपाट माथा, घनी लम्वी झुकी मूँछें, चौडे मुँह में सदा पान और हँसी भरे रहते है, बस घनी बाँकी वरौनियों के नीचे चंचल दोनो आँखो की ओर देखने से लगता कि कैसे चालाक आदमी है! छिपे हुए चौड़े-चौड़े दोनों कान उसके माथे को जाने कैसे हवा में उडने की-सी भंगिमा प्रदान करते है। और उनके साथ मेल खा जाती उनकी पैनी नाक, उनकी नोक ऊपर की ओर मुड़ी है। लोगो का कहना है कि जुगल जेना फेर-फिकरवाले है, यह मगरमुँही लाठी लिये कमीज पर लाल गमछा डाले गाँव का एक चक्कर काट आये तो उनके कानों मे सारी खबरें पड जाती है।

कहने लगे, "वे वन्धमूलवाले बट महान्ती के बेटे रवि बाबू हैं, बी. ए. पास। बट महान्ती परमार्थी पुरुष कहाते है। इधर क्या हुआ कि...कितने ही बँटाईदारो को हटाकर सारी ज़मीन, बग़ीचा आदि खु़दकाश्त कर चुके हैं। ये तो आते ही लोगों को वहकाने लगे कि ज़मीन-जायदाद, उधारी लेन-देन सब अपनी निगाह में रहेगा। उधर वे होंगे नेता, देखना मेरी बात झूठ होती है या सच—ये भी एक दिन मन्त्री बनेंगे।"

आनन्द पट्टनायक ने हँसकर कहा, "नेता होना तो ज़रूरी है, सब क्या नेता बन सकते है? तुम नही बनते? पहले क्या था कि नेता बनना बाप-दादों, चौदह पीढी से चलता आता था, ज़मीन-ज़मीदारी के साथ-साथ, तुम बड़े घर में जनमे तो फिर छाजन से टपकते ही अँकुरा गये। और अब नेतागिरी के लिए खुद चेष्टा करनी पड़ेगी।"

पाइकरायजी ने बताया, "बुद्धि बल तो सदा से ही था, अब भी है। इस छोकरे मे तो नाक तक बुद्धि है। उधर भाई पुलिस मे, बाप है सो यश, इधर ये बैठ गये गाँव मे, कहते क्या हैं कि ग्राम-सगठन कर रहे हैं।...अरे पुकारो, बुलाओ-बुलाओ। दो बातें ही की जायें।"

जुगल जेना ने आवाज लगायी। पहले से ही परिचित थे। रवि आया तो

जुगल जेना ने एक-एक से परिचय करा दिया। रवि ने प्रणाम किया। और विनम्र भाव से खड़ा रहा।

पाइकराय ने बात शुरू की, "अच्छा हुआ कि आप गाँव में रह गये, इतनी पढ़ाई करने के बाद क्या गरज पड़ी थी कि आप चाकरी करें, इधर गाँव में तो कितना काम करने को पड़ा है। कैसे चल रहा है? लोगों की मति-गति कैसी है?"

रवि अवाक् खड़ा देखता रहा।

आनन्द पट्टनायक ने पूछा, "बापू मजे में तो है?"

"हाँ।"

"जो भी हो, पिताजी ने बहुत बुद्धिमानी का काम किया, बँटाईदारों को हटाकर जमीन अपने हाथ में ले ली, वे ठोस आदमी ठहरे। उनकी छाती है, कर सके। हम लोग पिछड़-पिछड़कर पछताते रहेंगे। क्यों, लोग कोई अण्डस तो नहीं लगाते?"

नयी बात। रवि का माथा चकरा गया, बात पर विश्वास भी नहीं आया। पूछा, "मुझे तो कोई खबर ही नहीं।"

रवि चला गया। जुगल जेना ने सिर हिला-हिलाकर कहा, "देखा तो, जैसा बाप, वैसा बेटा। बाप के मुँह से कोई बात ले सकता है? क्या इतना सहज है?"

दासपुर का चासी बूढ़ा जगू पधान खँजरी-भजनों के बीच से जल्दी में उठकर चला आया। जुगल जेना से पूछा, "बाबू, कौन है वे?" उसके पीछे और तीन लोग थे। जुगल जेना ने परिचय बता दिया। जगू पधान ने कहा, "चलें, खोजें उन्हें, गुहार करेंगे, दस बरस से खेती कर रहे थे, छीनकर जमीन पाणू पशायत को दे दी है। जो करेंगे, करेंगे, दो बातें कहकर तो देखें।"

जुगल जेना ने कहा, "जाओ, जाओ—"

"बाबू, बाबू!"

आवाज सुनकर रवि ने मुड़कर देखा। चार किसान। आगे जगू पधान बूढ़ा है। बिना किसी भूमिका के शुरू किया, "यह क्या ठीक हुआ, बाबू?" इसके बाद लगातार कहता चला गया अपना दुःख। रवि आश्चर्य से देखता रहा, धीरे-धीरे ये सारी नयी बातें सुन रहा है। विश्वास भी नहीं हो रहा। जिसे वह घृणा करता है, जिसके विरुद्ध उसका सारा विचार है, प्रचार है, वही है उसकी अपनी बुनियाद में ही। भाव-प्रवण हो व्यथा में भरा देखता रह गया। उसे लगा, माटी कुछ कह रही है, या उसे पहचान रही है। उसका दुःख-कष्ट। सिर्फ किताबों की पढ़ाई, कुछ बातें, ढेरों भावनाएँ। इधर उसके पिता बँटाईदारों को जमीन से उठा रहे हैं।

वराह-दशमी का 'महोछव' चल रहा है। सूरज ढलने को आया। भीड़-भड़क्का, काफी लोग, अनेक रंग। आगे वहाँ खड़ा है जगू पधान, गँठीली देह पर

चमड़ी झुर्रा रही है, चेहरे पर कई लकीरें, कई गड्ढे, भौहों पर थोड़े-से बाल, आँखें जैसे धुंधली-नीली दिख रही हैं, मानो सुलग रही है। काली-भूरी मूँछों पर केकड़े-सी नाक खड़ी है। कुल मिलाकर गम्भीर भंगिमा, मामूली धूप की ओट मे छाया पड़कर और भी गम्भीर लग रहा है। जगू पधान शब्द खोज रहा है।

"बच्चों ने कहा—बापू, नही छोड़ेंगे, जो होना होगा हो जायेगा, ऐसे अगर सभी अपनी-अपनी ज़मीन छुड़वा लेंगे तो हम खायेंगे क्या, चलेगा कैसे ? मैंने कहा, 'नही, ऐसी बात कैसे होगी, बुढ़ापे मे मैं सत छोड़ूँगा ? बात तो माननी ही पड़ेगी। बाद मे देखेंगे...' "

"ठीक है, इस बारे मे समझूँगा, पधानजी !" रवि ने कहा।

"बस, यही चाहिए।"

वे चले गये।

पर बात वही नही खतम हुई। बात जाने कैसे फैलती हुई अन्यान्य बँटाईदार किसानों के बीच भी गयी। और लोग भी रवि के पीछे पड़े।

परन्तु अबकी बार उसने नये रूप मे देखा अपनी नीव को। जिस अत्याचार और शोषण से उसने घृणा करना सीखा है, वह उसके अपने घर में ही है। यही उसके संघर्ष का आरम्भ है—पाप से, शोषण से, निर्ममता से। मन मे चाहे जो सोचे या मुँह से कुछ भी कहे, पर असल में वही हो रहा है।

रवि ने अनुभव किया कि सामने से है कि संघर्ष आता दिख रहा है ! अपनी नीति के विरुद्ध चलने को वह स्वीकार कर नही सकेगा। वह बदलेगा नही, पिता बदलेंगे नही, अत: रास्ता भिन्न है। याद आया—पाटेली गाँव के सिन्धु चौधरी के घर से जो भले व्यक्ति बात लेकर आये थे, गालियाँ खाकर लौट गये। उस दिन पिता की वह ज़िद और क्रोध ! और वह दिन जब कर्ज़दार आकर अनुनय लगा रहे थे सूद छोड़ने के लिए ! ऐसी ही और कई बातें। जिस रास्ते पर वे अपने जीवन को चलाये लिये जा रहे हैं, उसे बदलने की ग़रज उन्हें पड़ेगी नही, वे मुरब्बी ठहरे ! वे घर की सम्पत्ति के मालिक ठहरे। वे पिता है। अथच रवि खुद अनुभव कर रहा है कि उसकी अपनी स्वतन्त्रता है। मन, विचार, कल्पना सब उसके अपने है, उन्हें छोड़कर मानो उसका अस्तित्व नही है।

उदास होकर चेहरा घुमाये ख़ाली खेती की ओर ताकता रहा, खुद मानो कोई पत्थर की मूर्ति हो, कितने ज़माने की मूर्ति, माटी तले से खोदकर निकाली गयी। वही पत्थर की मूर्ति चेतना पाकर मानो विचार रही है, कितनी बार इस धरती पर ऐसा घटा है कि पिता का बसाया रास्ता छोड़कर बेटे ने भिन्न रास्ता पकड़ा है, अपनी स्वतन्त्र नीति पर चलकर, अपनी अनुभूति मे इस जीवन को अनुभव करने, और फिर परखने के लिए।

अन्यमनस्कता से चौककर उसने देखा, औरतें दल की दल यात्रा स्थल से

लौट रही है। साँझ हो आयी, कितनी लौटेंगी। चली जाती धारा मे से किसी के धूमिल चेहरे पर एक और चेहरे की झलक देखी उसने। धारा चली गयी। फिर जाग उठी वह स्मृति।

सामने आना ही पड़ेगा। वरना माँ को कहने पर कहेंगी कि पिता से कह, मै क्या जानूँ। औरत जात ! याद आया कि उस बार जब वह प्रतिरोध करने गया था कालेज के प्रिंसिपल के सामने, कि फ़ीस न देने के कारण जिन पाँच लड़कों के नाम काट दिये गये है, उनके सम्बन्ध में अपना आदेश उठा लें। उन्हें एक महीने का और समय दिया जाये। प्रिंसिपल की स्थिर पुतलियां और होठों के कोने मे हँसी से पडी टेढ़ी रेखा अब भी याद आती है तो मन डूबने लगता है। एक ओर उसके हृदय का उच्छ्वास—दूसरी ओर एक स्थल जहाँ उसका अधिकार नही, व्यक्तिगत सम्बन्ध भी स्पष्ट नही। रास्ता दिखाया था उसके विश्वास ने, जिसे वह उचित और सत्य मानता है।

घर से तनिक हटकर बैठक की कोठरी मे दीवार का सहारा लिये चटाई पर बट महान्ती बैठे थे, आँखों पर चश्मा, हाथ में एकादश स्कन्द भागवत। मझ दोपहर से तनिक पूर्व खा-पीकर वे यहाँ चले आते हैं, दिन के लिए मानो यह उनका दूसरा घर हो। चटाई पर तकिया रखा है, पास में एक बिस्तर, जिस पर लाल कपड़ा बिछा है। और रखा है एक पीकदान, दीवार से सटकर दो आलमारियाँ खड़ी हैं, छोटी खिड़की के नीचे एक टेबुल, टेबुल के पास कुरसी। एक कोने मे सन्दूक पड़ी है।

रवि की स्कूल की पढाई, उसके लिए चार वर्ष शहर रहा। फिर कालेज में चार वर्ष, तब भी शहर में। गाँव का बस नाम-भर था। मन के लिए केवल कुछ एक चित्र, ऊँघे कबूतर। कभी याद आते आम का निचोड़ना, घर के आगे छिलके और गुठलियों का ढेर, कभी और कुछ, और हमेशा उसमे बस घर ही घर की धारणा रहती। घर के साथ सम्पर्क इसी तरह याद आ जाता। पर वृत्ति-बाड़ी का हिसाब-किताब, संसार चलाने के सम्बन्ध में पिता के व्यक्तित्व का स्वरूप उसके लिए अनजाना था, उसके परिसर के बाहर। ऐसे समय याद आता—पिता सबसे अधिक अपने होने पर भी उससे कितने अलग है, इतने पास रहकर भी कितनी दूर है। आदमी ख़ुद अपना इतिहास है, दूसरे से अलग है। वहाँ से उसने स्नेह-आदर पाया है, जो कुछ जरूरी है सब पाया है। उसी बरगद की झूलती जड़ बनकर बढ़ा है, फिर भी दोनों भिन्न आदमी है, उन्हे वह नही पहचानता !

हिम्मत कर उसने पूछ ही डाला। पहले तो अवाक् रह गये और उसकी ओर ताकने लगे। इसके बाद धीरे-धीरे उनकी भौंहें तनती गयी। उन्होंने कहा, "हूँ, मुझे भी पूछना था तुमसे। क्यों, पढ़ाई ने तुम्हें यही सिखाया ? इसी के लिए

पैसा खर्च कर तुझे पढ़ाया था ? तूने यही सीखा कि जिस डाल पर तू बैठा है उसी पर कुल्हाड़ी चलाये ? नौकरी-चाकरी तो की नहीं, सोचा आलसी बनकर घर में पड़ा रहूँ, फिर यह घर-जायदाद कैसे सँभालेगा ? लोगों को कैसे जीत सकेगा ? इधर ही ध्यान देने की बात है और तू है ठीक उलटा ? जिनकी छाया पड़ने पर आदमी दूर हट जाता है, तू जाकर उन्हीं से मिलता है। इन छोटे-छोटे आदमियों के आगे बड़ी-बड़ी बातें कहता है। ऐसे लोगों को भी कोई बुद्धि देता है ? वे पहले जो दबे-दबे थे, अब और भी जोश में आकर सिर उठायेंगे। एक बेटा तो चाकरीवाले गाँव में रह गया, पर का कभी नाम भी नहीं लेता। तू हुआ ऐसा कि मेरी आँख मूँदते ही सब कुछ उजड़ जायेगा रे ! भूत खायेंगे। कुछ नहीं रहेगा।''

कल्पित आशंका में उनकी भौंहें मिनट-भर के लिए उठी रहीं, माथे के चमड़े पर कई सिकुड़नें पड़ गयीं, मानो वे देख पा रहे हैं। जैसे इन्हीं आँखों के आगे सब अभी ही गुजर रहा है।

फिर कहा, "अरे जमीन तो मेरी है, उसपर उनका क्या अधिकार है ? जो करने पर लाभ होगा, आदमी अपनी सम्पत्ति-बाड़ी के बारे में वही करेगा, या भूतों को खिला देगा ? तब जमीन बँटाई पर दी थी क्योंकि उसमें लाभ था, अब नुकसान है। अब देने पर लोग दाब लेंगे, भाग वसूलना कितना मुश्किल है। और अधिक क्या कहना है ? मेरी जमीन, मैंने छुड़ा ली, किसी और को दी, या जो मन में आया सो किया, किसी के बाप का क्या जाता है ! तुझे इन सारी बातों में मगज लड़ाने की क्या जरूरत है ? सम्पत्ति कैसे आती है, कैसे रखी जाती है, कैसे दाब सँभाला जाता है, तुझे कुछ मालूम है ? तू ऐसा कैसे हो गया जो परायों की बात में पड़ मुझसे तर्क करने आया है ! अरे, तेरी कमाई की आस नहीं रखी मैंने। वह समय कभी आयेगा, तो कहना मुझसे। देखना ख़बरदार ! फिर कभी नहीं खोलना जबान !"

गरज-गरजकर गुस्सा जब थोड़ा उतरा तो समझाते हुए-से कहने लगे, "घर पर बैठा है, ये सारे काम कैसे होते हैं, तनिक इधर भी ध्यान दे। इतनी सहज नहीं हैं वे बातें, सीधी अँगुली से भी कहीं घी निकलता है ? अच्छी पढ़ाई करो, टोकरी-टोकरी-भर अच्छी बातें कहो, कोई मना करता है, काम के समय इतने सीधे-सरल होने से नहीं चलेगा। संसार में रहोगे तो संसारी बनकर रहना पड़ता है। उसका धर्म भिन्न है। समझा रे, उल्लू ! जिस काम का जो रास्ता हो— जमीन-बाड़ी का काम, महाजनी का काम, ये सारा दायित्व तुमपर ही पड़ेगा। अभी धोती-कुरता डालकर लम्बे-लम्बे भाषण हाँककर जिस काम के लिए नाक-भौंह सिकोड़ रहा है ! तू खा-पीकर आदमी बना है, पाला-पोसा गया है जिस-जिस तरह, उसकी निन्दा तो न कर ! अधिक दया-धर्म दिखायेगा तो सब उड़ जायेगा,

पीछे फिर झेलता रहेगा, और फिर आजकल जो जमाना है, उसके बारे मे तो कुछ न कहें सो ही अच्छा। बैठा रहेगा अरखित होकर पराये हाथ के उठने की आशा लिये।"

भाषण समाप्त करने पर विज्ञ आदमी की तरह ख़ुद अपने अन्दर विश्वास उपजाते; सिर हिलाते, कहने लगे, "इस संसार में कितने लोग है, हम उन कितने मे क्या हैं ? क्या केवल हमारी ही ज़मीन चास करने को नज़र पड़ी और किसी की नही ? अपने बाप-दादा चौदह पीढ़ी जैसा करते आये हम भी वैसा ही करेंगे। लोग चाहे जितनी तरह से कहें, उसमे अपना क्या आता-जाता है ?"

फिर उन्होने भागवत के एकादश स्कन्ध में मन लगाया। रवि सिर झुकाये लौट आया।

ज़मीन से हटाये गये बँटाईदारों की बात कही चूल्हे मे गयी। लाज और दुख के मारे रवि का चेहरा झुलस गया था, कान झाँय-झाँय कर रहे थे, उसे लगा जैसे सामने खड़े हैं वे ही चासी, सबके आगे वही बूढ़ा है, उनका नाम उसे याद नहीं।

सामने वो लोग खडे है, जो इस देश के चासी के प्रतिरूप है। इधर वह है, पढा-लिखा, आशावान्, आदर्शवादी युवक ! मानो सब मिलकर पूछ रहे है, "क्यो, क्या किया हमारी बात का ?"

कोई उपाय नज़र नही आता। उसके हाथ-पैर बँधे हैं। माँ के आगे उसने अपना दुख बताया नही, मन ही नही किया कि उसे इस फेर में डालें। जो कोई कुछ माँगता, दीन-दुखी, माँ उसे अपनी समरथ के मुताबिक़ कुछ देती। कभी ब्राह्मण-भोजन, कभी बाल-लीला भी कराती, किन्तु घर की या ज़मीन-जायदाद की बातों में वह नही पड़ती। कितनी ही बार बात ही बात में उसने कहा भी, "बेटा और पति जो लाकर देंगे, हम उसे ही तो पीस-पोकर देंगी, बाहर की बातो मे हमारा क्या दखल ?"

रवि ने भी पिता की जीवन-चर्या की ओर निगाह की। वहाँ सब कुछ बँधी लीक पर है। बड़ी सुबह उठना, बिस्तर पर बैठ नाम जपना, नाम जपते-जपते नदी नहाने जाना, फिर नदी से लौटना, कुछ खाकर कन्धे पर गमछा डाले काम-काज *देखने गाँव में फिरना, फिर लौटकर भात खाने से पहले ठाकुरजी की पूजा,* ठाकुरजी को नहला-धुलाकर स्तोत्र से अर्चना कर भोग लगाना, फिर कोठरी, वहाँ नींद आने तक भागवत पढना, उठने पर कागज-पत्र देखना, डाकिया अखबार दे जाता तो अखबार पढ़ना, मित्रों से चर्चा, साँझ-सवेरे अकेले बैठ राम का नाम लेना, रात मे कभी-कभी रामपोथी बाँचना, कभी न्याय-फ़ैसले मे बैठना, जल्दी खा-पीकर फिर ठाकुरजी का नाम लेकर अपनी आत्मा की सद्गति के लिए गद्गद हो कहते-कहते सो जाना। ऐसे ही चलता आया है हमेशा से। वह जीवन

किसी की प्रतीक्षा नही करता और न ही किसी का भला या आदर या सहायता। यहाँ तक कि चारों ओर से हटते-हटते आ पिता अपनी इसी बँधी-बँधायी दिनचर्या के बीच रहकर अपने चारो ओर घर बनाकर रह गये हैं। गढ़ा है एक अजेय गढ़। इसका सब कुछ केवल कर्तव्य में बदल गया है, जैसे ठाकुरजी की पूजा, भागवत पाठ, वैसे ही अपनी जमीन-जायदाद की देख-रेख। वे किसी से परामर्श माँगते नही, सहायता चाहते नही, यहाँ तक कि अपना विस्तर भी स्वय बिछाकर स्वय ही लपेटकर रखना उनकी आदत बन गयी है। रवि अनुमान कर सकता है, जिस परिमाण मे वे वड़े बेटे को स्नेह करते थे, आशा रखी थी कि बेटे, बहू, पोते-पोतियो को एक साथ कर यहाँ तक कि अपने चारो ओर समेटकर जीवन बितायेंगे उसमे बाधा पाकर उन्होंने अपने लिए ऐसा एक खोल गढ़ लिया है। यों भी हो सकता है कि बहुत बरसो तक रोज एक नाम लेते-लेते, भागवत पढ़ते इस जीवन की नश्वरता और परलोक की गुरुत्व की बात सोच-सोचकर अनासक्त हुए बिना भी वे इस तरह एकदम अकेले-अकेले हो गये हैं। कारण जो हो, हाव-भाव, दृष्टि से सबमे अकेलापन है। उसमे घुसा नही जा सकता, दूर ही रहना पड़ता है। कभी बचपन में वे उसे लाड़-प्यार करते थे, उसके साथ बैठकर बातें करते थे, यह सब उसकी स्मृति तले दबा है, पुरानी चिट्ठी खोलकर पढ़ने की तरह। कभी-कभी अवसर मिलता है तो याद आ जाता है। बाहर खोजने पर नहीं मिलता। रवि दूर ही रहता है, सहम जाता है। कुछ लोग हैं जैसे मूसी पण्डा, दीनबन्धु मिश्र या अरि तिआडी या काशी अवधानजी। उनके आने पर पिता उनसे सुख-दुख की बातें करते, वरना और किसी से नही। वे भूल कर रहे हैं—ऐसा समझ-बूझकर वे यह गलती नही कर रहे; सब कुछ कर्तव्य है, चिराचरित पद्धति के अनुसार कर्तव्य है! उसी में उनका विश्वास है—बँटाईदारों से लेकर भागवत का एकादश स्कन्ध पढ़ने तक।

इन लोगों का कहना है कि छोटे-बड़े रहे बिना संसार कैसे रहेगा? वे कहते है यह नया युग, यह नया चलन, यह सब दो दिन का है। ऐसे कितने युग आये और गये हैं। नये विचार, नयी बातें—यह सब भी उड़ जायेंगी। उनका विश्वास है कि गति-मुक्ति के लिए आदमी मुँह पर हरि का नाम लेता रहे, कानों से सुनता रहे, आँखों से देखता रहे शुभ चीजें। पर काम के समय किसे लोभ नही, मोह नही, स्वार्थ नही। नही कहना असत्य होगा, सत्य नही। संसार मे आदमी होकर जनम लिया, कम से कम जितना चाहिए उतने नरक में तो घुटना ही पड़ेगा, जितना भी कोई बाबाजी बने, कोई शौच नही जाता? या हाथ से पानी नही छूता? किस मे नही है, गू, मूत, रक्त, मवाद, लार? लोग दौड़-दौड़कर सुँभे-गँडासे से मछली को पीट-पीटकर मारते हैं, भेड़-बकरी काटते हैं, माँस बनाते है, खाते हैं, फिर हरि का नाम लेते है। कुछ काम कड़े मन से करने ही पड़ेंगे। उसमे

दूसरों को कष्ट होता है। सच कहना उचित है, पर उन्हें विश्वास होता नही कि कोई सदा सच ही कहता भी है। कभी अपनी सुविधा के लिए झूठ कहना होगा, इसके लिए पुराणो से उदाहरण दिया करते हैं।

उनका कहना है कि आदमी की इसी देह में नरक है, फिर ब्रह्म भी है, इसी जन्म में पाप है, पुण्य है, परायों के लिए ममता है, फिर स्वार्थ भी है। सबमे दो-दो रूप हैं, प्रकाश है तो अँधेरा भी है। आदमी देवता बनने की चेष्टा मे है, पर यह बेकार की चेष्टा है, इस देह से वह नही हो सकेगा। उनका विश्वास है, आदमी सिद्ध हो सकता है, महात्मा बन सकता है, पर वह सब आदमियों के लिए सम्भव नही। कोई करोड़ों में एक होगा। पूर्व जन्म के सुकृत हों तो अपने आप होगा, उसके लिए इच्छा करना समय गँवाना है। उस आदर्श को वे प्रणाम करते हैं, आशा नहीं लगाते। इस जनम मे बस एक नीति के पालन करने की जरूरत है—मात्रा पर निगाह रखना, बहुत अधिक हो जाना बिलकुल ठीक नही। इधर बढ जाये तो आदमी बाबाजी हो जायेगा, ससारी काम नही कर सकेगा। उधर बढ गया तो पाखण्डी बन जायेगा, भ्रष्ट-नष्ट पिशाच ! समाज को, देश-काल को और फिर ख़ुद को अच्छा लगे उस विचार को, मछली खा, जरूरत-भर मिथ्या कह, फिर न्याय-नीतिमान, ठाकुरजी की पूजा कर, आदमी को बीचवाले रास्ते पर चलना है। चलती रीति को माने, सुख-दुख मे काट दे। हुर्र—हुर्र नही करे।

यही भावधारा चलती है देश की सारी बातों के बारे मे, जब जो बात पडे, अँगरेज राजा राज करते थे, उतने दिन उन्हें भोग करना था इसलिए। उनके भोग का समय पूरा हुआ, भाग्य मे और नही था। वह चला गया। ये आये। कहते हैं, लोग जो हल्ला करते हैं, 'देश के लिए ये किया, वो किया' वे सारी झूठी बातें हैं। कोई कुछ नही करता। करता है भाग्य या काल या भगवान्। कहा भी है कि इतना बड़ा महाभारत युद्ध हुआ—देखनेवाले ने कहा, शख बज रहा है, चक्र भेद ही रहा है और कुछ नही, बस वैसे ही यह है ! कलजुग है यह, अब देवता छुप गये हैं, बाहर हो गये हैं। अब सब उलट-पलट मचेगी, कोई किसी को नहीं मानेगा। बाउरी कहेगा, मैं ब्राह्मण के साथ बैठूंगा; ब्राह्मण कहेगा, मैं चमार के साथ बैठूंगा। इस जुग में छोटे लोग बड़े होंगे, सज्जनों का मान जायेगा। बस अब अपनी जगह रह अपना काम काम करो, अपना महत् ख़ुद रखना होगा। चारों ओर बुराई हो रही है, और होगी। पहले सब होगे एकाकार, बाद मे कलि पूरा होगा तो मरेंगे सब। ये जितने आन्दोलन देख रहे हो, राजाओं का राज गया, ज़मींदारों की ज़मीदारी अब ज़मीन मालिक के हाथ से चली जाने की बात हो रही है। जिधर सुनोगे, टिक्कस बैठ रहा है, बस यही जानो कलियुग का प्रमाण और देखते क्या हो ? भाव तो छू-छू बढ रहे हैं, इन्द्र तो पहले की तरह

पालन करता नही, कितने वर्ष सूखा पड़ता है, पता नहीं। फ़सल पहले से पाँच आना-छह आना रह गयी। मरने की ख़बर ज्यादा। हैजा, चेचक, नये-नये रोग, जिनका पहले कभी नाम तक सुना नहीं, बस फैल गया समझो। उमर घट गयी, कभी था कि कलि बठा साठ, अब तो कितने ही लोग पचास भी पार नहीं कर पाते। चोरी-डकैती कलह-टाउटरी बढ़ रही है, जिधर सुनो सिर्फ अशान्ति। लड़ाई छिड़ने की बात कर रहे हैं, छिड़ी तो धरती जलकर भस्म हो जायेगी। क्या जमाना चल रहा है।

इसी से उनकी दृष्टि भंगिमा का पता चलता था।

वे अपना नाम या बड़ाई नहीं खोजते थे। नयी बातों के प्रति उन्हें कोई उत्साह न था। पुरानी रीति चलाकर सब में सुखी, निरापद और लाभ में रहता था उनका उद्देश्य। ऐसे ही चलता आया था। दूर से देखकर ध्यानपूर्वक उनके बारे मे रवि ने इस तरह सोच-सोचकर धारणा बना ली थी। सोच रहा था कि इस प्रतिक्रियाहीन अचेत माटी में क्या वह चेतना उपजा सकेगा!

सिर्फ दूर से देखकर सोचने की बात। पिता के आमने-सामने कहना सम्भव नहीं हो सका। अपनी धारणा है उसकी, पर वह अच्छा लड़का है—बस इसी संज्ञा के अनुसार जीवन जीने के लिए वह गुम-सुम चुप रह जाता। पिता से घुड़की सुनते ही लगता कि वह मानो दौड़कर कहीं छुप जाये।

विचार और आदत, विवेक और कार्य—इसमे जो अन्तर आ गया था, उस-पर उसने तीक्ष्णता से, गहराई से सोचना शुरू कर दिया। क्यों और किस तरह क्रमश: युगों से इतने आदर्शवादी धीरे-धीरे अपना रूप बदलकर साधारण संसारी आदमी बन जाते हैं। उसे लगा जैसे वह इसका कोई कारण पा गया है। जन्तु का जीवन-संघर्ष टालकर, सुख और सुरक्षा ही खोजता-फिरता है आदमी। इसको कितने लोग हैं जो काट सके हैं? मन चाहे कितनी ही युक्तियाँ करे, प्रवृत्ति आदमियों को खींचकर ले चलती है सहज सुख के बँधे रास्ते पर। कभी आदमी अपने विचार और युक्ति को परिस्थिति में खप जाने की तरह नवा देता है, समझौता करता है, कभी वह बात उठाता भी नहीं, भूल जाता है। आँखों के आगे है उदाहरण। बचपन से जितने लोगों को वह नेता-नेता सोचता था, उनमें कितनों ने रूप बदल लिया है।

गहन चिन्तन के बीच वे भी याद आते हैं। किसी निपट ठेठ देहात मे माटी के घर के चबूतरे पर बैठ वह आकाश को देखता है खोये शरत् की अवर्णनीय नीलिमा जो कभी-कभार ज़रा-सा आकाश पर दिखाई पड़ती है, कभी कर्कश नील तो कभी राख-सा भूरा, धूमिल दिखता है फागुन का आकाश। दूर के विस्तार पर ध्यान देने से धूप की चमक मे तैरने की तरह कहीं-कहीं हलका सब्ज भाप की भाँति बिछा हुआ-सा लगता है एक-आध पेड़...लाल-लाल, मैदान मे गाय-

गोरू, आकाश मे उड़ते-फिरते दो चील। उसी पृष्ठभूमि में दूर से दूर तक देखते हुए उन्ही बन्धुओं की याद आती है...किसके साथ चाक्षुप परिचय तो किसी से अखबारों के द्वारा पहचान, सिर्फ तसवीर देखकर, ख़बर सुनकर। वहीं याद आ जाती परिवर्तन की बात।

सुन्दरराय—'मज़दूर'-'मज़दूर' चिल्ला-चिल्लाकर धरती को कँपा देते थे। तरुण नेता, कितने लोगों के आशा-दीप बन अगुआ बने चमकते थे। भूखे-सर्वहारा की जीत के गीत गाते-गाते अन्त मे जा रहे कम्पनी की नौकरी में। बड़ी नौकरी—कोठा-बाड़ी, गाडी। अधिकारी बन गये, कर्मचारी नही रहे अब। चक्रवर्ती—लोकसेवा का नाम आते ही लोग पहले उन्हे याद करते, खाना-पीना भूल, छोटी-सी धोती पहने ही, अँधेरी रातों मे भी, कीचड़-वर्षा मे, दूर-देहातो मे घूमते, रोगी की ख़बर लेते गहरे खेतों होकर गाँव-गाँव पैदल घूमते, सब छोड-छाडकर क्षमतावान् हो गये—सिगरेट दबाये, फिट-फाट काले साहब, गले मे फाँस, पहचान मे ही नही आते। दधिवामन मिश्र—साइकिल चढे नगे बदन, लम्बे क़द के हडीले आदमी को अभी भी देश भूला नहीं। तीखी नाक, गड्ढो मे सुलगती-सी दो आँखें, जिधर भी जाते पुलिस पीछे पड़ी रहती, जहाँ जाते लोगो को जूटा लेते, धनवानो के बीच घबराहट फैल जाती, करज उतर जाता, बँधा हुआ मजूर मुक्त हो जाता। उसी दधिवामन का पुनर्जन्म हुआ है। यह वह आदमी नही, यह तो ख़ुद बँटाईदारों को हटाकर ज़मीन पर ख़ुदकाश्त करने लगा है। और भी राज-भर के जाने-माने लोग। उनके बेशुमार नाम हैं। कल तक वे सर्वस्व पानी में डुबोकर हँसते-हँसते विपद् का वरण कर, कितना दु:ख-कष्ट सहते थे, आज वे बने हैं पूँजी के अधिकारी, क्षमता के सुख-लालसा के अधिकारी अवधूत बन गये हैं मठ के महन्त। अपने छोटे-से जीवन की अभिज्ञता से भी अँजुरी-भर लेकर रवि सोचने लगा और देखा कि परिवर्तनशील दुनिया मे आदमी के दम्भ और उद्देश्य के बीच कितनी जगह कितना परिवर्तन हुआ है, फिर कितना और अन्तर आ गया है। कितना कुछ इधर-उधर हो रहा है, कल की सूँडी आज तितली बन चुकी है। चल रही है क्रिया-प्रक्रिया।

उसके अन्दर वह रास्ता खोज रहा था। अपने आदर्श को आँखों के आगे रख, सीधा हो, नीति में अटल रहकर वह कार्य कर सके—उसका क्या उपाय है?

इसके बाद एक दिन आया मूली दलेई, विधवा मोती कालुणी का बेटा। दस बरस हुए बिदेस गया था, कोई खबर ही नही। बत्तीस का जब था तो स्त्री और बेटा चेचक मे मर चुके थे। बयालीस की उमर मे बासठ बरस का बूढा बनकर लौटा मूली दलेई। सिर के बाल जूट की तरह हो गये, पिचके चेहरे पर सारा माथा रेखाओं से भरा, बाँस की तरह हाथ-पैर, खपच्चियों की तरह छाती

के हाड़ गिन लो चाहे।

बेटे को पाकर बुढ़िया मोती कालुणी मानो पहले से कितनी चंगी हो गयी है। बुढ़िया के एक पैर मे फीलपाँव है, सिर गंजा किसी सूखे फल की तरह, जैसे बाढ़ के समय कही से बहकर आते है, उसी तरह। कमर झुका-झुकाकर चलती है। जब देखो उसका चेहरा नीचे की ओर, हाथ में लकड़ी। लगता जैसे तीन पैरों से घिसटती चल रही है।

उस दिन साँझ ढलते समय बट महान्ती कोठरी से घर की ओर लौट रहे थे कि दोनों घर के दरवाजे के पास आमने-सामने पड़ गये। बूढ़ी और उसका बेटा मूली। पैरों मे गिर पड़े। कितनी अनुनय-विनय नही की! उसी के पिता के सामने रिरिया रहे थे वे दोनों। उस दिन रवि को मालूम हुआ कि पिता की आलूजमीन पर खेती का असल इतिहास क्या है—मूली दलेई नगद सौ रुपये और बाकी पचास ब्याज के बदले पाँच एकड़ जमीन रेहन रख गया था, पाँच वर्ष के लिए।

बूढ़ी भेड की तरह मोती बुढ़िया कमर से मुड़कर जमीन पर झुकी बातें कह रही थी—"तुम्हारी असीस से मेरा बेटा घर बसायेगा। बिदेस जाकर भूखा-प्यासा रहा, देख-भाल के अभाव मे कितना सूख गया। यहाँ गाँव मे छाया तले चैन से रहेगा।" आगे कहा, "अभी कौन-सी उमर हो गयी, दो बीसी भी पूरी नही हुई होगी, कल का लडका है, आपकी आसीस से कही से बहू लाऊँगी। फिर पोते-पोतियों का मुँह देखकर आँख नही मूदूँगी—कौन जाने?" सुबककर बुढ़िया ने फिर कहा, "गाय-बाछी, दोनों के दोनों चले गये, मेरा ही करम फूटा है, क्या करूँ? घर जलने पर लोग फिर से घर खड़ा करते ही हैं, क्या करें।"

बट महान्ती सब कुछ सुनते रहे, फिर गम्भीर होकर कहने लगे, "गाँव का लडका गाँव लौट आया, घर बसायेगा, किसे बुरा लगेगा? यह तो बहुत अच्छी बात है। पैसा है तो जमीन भी कुछ कर ले, क्यो! बिदेस गया था, कुछ लाया है या नही? नही। ठीक है, पहले बँटाई मे खेती करे, हम तो अब वैसे देते नहीं गाँव मे, औरों से पूछ लो, मयुरी या कुज या अदेई किसी से बात कर लो। बँटाई मे चास करते-करते अपनी कमर मे भी तो ज़ोर पैदा हो सकता है।"

"आपके पैरों पडती हूँ, उसके बाप-दादे के जमाने की वह पाँच एकड जमीन उसे छोड़ दें, इसी आशा से वह दौडा आया है।"

"अब, उसकी आस क्यो?" मानो मुँह कसैला हो गया हो, बट महान्ती ने कहा, "गिरवी रखी थी पाँच बरस के लिए। पाँच बरस मे रुपये लौटाते तो अपनी ज़मीन वापस लेता; रुपये भी कोई कम थे क्या—नगद एक सौ। तब के सौ और आज के सात सौ बराबर हैं। धान का भाव ही देखो! फिर इधर बेपार की हेर-फेर देखने लगे तो तब के सौ आज बढ़कर हजार होते हैं। पाँच

बरस की मियाद को आज हो गये बारह बरस, तब किसी चीज़ में सौ रुपया डाल देता तो आज हो जाते दस-बारह हज़ार।"

मूली दलेई ने कहा, "क्या करूँ, मूल-मूल के सौ रुपये उतार सकता हूँ, और कहाँ से लाऊँ?"

"अरे, बावला हुआ है, रुपयों की बाबत तो कह ही दिया, तब के सौ अब कितने हो गये! फिर उस ज़मीन पर कितना ख़रच जो कर दिया? हिसाब कर सकोगे? ज़मीन क्या यही थी? कितना खुदवाया, कितने बोरे हाड़ों का चूरा, विलायती खाद, खली, कितनी गाड़ियाँ गोबर की खाद दी हैं। कितनी बार ज़मीन में घनिचा और सन डालकर ज़मीन पर हल चलवाया है, कितनी चीज़ें डालकर ज़मीन को सुधारा है उसका कोई हिसाब है, रुपयों का? बस समझो, वहाँ रुपये ही उँड़ेल दिया है। हाथ-हाथ पर रुपया बिछाया है। इतना किया तब जाकर आलू की ज़मीन हुई। फिर और भी ख़र्चा लगा है। किसी लाभ की आस से? नहीं, एक शौक़ था मुझे।"

"जी, ज़मीन तो मेरी इतनी ही थी, मेरे तो जीवन का आधार है, गिरवी रख दी थी। अब वापस नहीं देंगे तो मैं मर नहीं जाऊँगा?"

"गिरवी नहीं रे, मियादी! मियाद पूरी हुए सात बरस हो गये। ज़मीन तो मेरी हो चुकी, अब तेरी कैसी ज़मीन? वह तो कागज़-पत्तर की बात है, तेरे-मेरे कहने से क्या होगा?"

फफक उठी बुढ़िया, बारम्बार पैरों पड़ रही थी। मूली दलेई निहोरा कर रहा था। बट महान्ती ने पीठ फेरकर कहा, "जाओ, जाओ, घर जाओ। परायी बातों में पड़कर मत नाचो। न होनेवाली बात पर मन को मत चलाओ। जाओ!"

रवि ने घर में से ही देखा—वे चले गये हैं। उसकी बाहर निकलने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। अपने मन में इनके लिए इतनी सहानुभूति सहेजकर रखने के बावजूद वह कुछ नहीं कर सका, दो बात भी नहीं कह सका।

केवल देखता रहा। उसकी आँखों के सामने दोनों आदमी जैसे आये थे, लाश जैसे होकर लौटे।

उत्तेजित होकर रवि ने अन्दर दौड़ते हुए ऊँची आवाज़ में कहा, "माँ, माँ, सुना तो?"

माँ के आगे कितना भी ज़ोर डालकर कहे, उसकी आशा मिटी नहीं।

"मैं तो औरत जात, मुझे इन सब का क्या पता? जो कार-बार करते है, वे जानें!"

हँसते हँसते अचानक माँ का चेहरा गम्भीर हो गया। कहा, "पिता से कुछ न कहना, वे उल्टा समझते हैं; सोचते ,उनकी बात की आलोचना करते हो।"

अकेली माँ ने ही नहीं, कुज भाई, मूसी पण्डा ने भी ऐसा ही कहा था, और घुमा-फिराकर जोतसी काशी अवधान ने भी। बेटे ने चाकरी नहीं की इसलिए उनके मन मे कोई दुख नहीं है, परन्तु किताबों से पढ़ी, शहरी भाषणों से सीखी बेचलन समाजनीति के ढाँचे की खण्ड-खण्ड बेमेल बातें गाँव के लोगों के आगे कह रहा है—इसी बात का उनके मन मे दुख है।

रवि ने गुम-सुम रहकर अपनी कोठरी मे ही सारा दिन बिता दिया। उसे अनुभव हो रहा था मानो चारों ओर एक पिंजरे का घेरा है। वह देखता है, सोचता है, और कहने के समय अटक गया है। जो शक्ति उसके अन्दर हिलोर ले रही है, अस्थिर कर रही है, वह भी कभी मर जायेगी। इस तरह शान्त सुबोध होकर, पिता के आयत्त में रहा तो उससे कुछ हो नहीं सकेगा। वह भी मामूली बन जायेगा, बिलकुल आम लोगों की तरह।

दिन ढले मिल गये काशी अवधान। कोठरी से लौट रहे थे, गोल चेहरे से पसीना चू रहा था, कदम फूलिया दाढी चेहरे पर भरी थी। पान चबाने के लिए घूमते जबड़े रोककर नीरव हँसी में मुँह इतना चौड़ा कर लिया कि जबड़े के पास ऊपर-नीचे के दो दाँतों के बीच अटका पान भी दिख गया। हँसकर कहने लगे, "हमारी बख्शीश रखे रहना। खोजते-खोजते एक जगह ऐसा मेल मिल गया, कि क्या बताऊँ, जिसे कहते है शिव-पार्वती का मेल। फल फलता रहेगा, आप देखेंगे फिर मुझे कहेंगे।"

रवि ने पूछा, "कैसा बख्शीश, गुरुजी ? हम तो हलवाहे आदमी, हम लोगों का तो हवा-पानी के साथ, खेती-बाड़ी के साथ मेल चाहिए। और किसी मेल से हमें क्या लेना-देना ?"

आँख मारकर गुरुजी ने कहा, "यह मेल जीवन के साथ जीवन का है, और क्या कोई मामूली बात है ? तालकणा गाँव के चरण पट्टनायक की पोती, भालू पट्टनायक की बेटी। भालू पट्टनायक कितने बड़े आदमी हैं। शहर मे लम्बा-चौड़ा कारोबार, काफी जमीन खुदकाश्त, चाहे तो क्या न क्या उँड़ेल दें। पिताजी को बहुत भा गया है रिश्ता, सगाई का दिन तय कर रहे हैं, अब तो लक्ष्मी की प्राप्ति होगी। ऐसा मेल जुटा है कि बहू के घर में पैर पड़ते ही धन-धान्य से घर भर उठेगा। ऐसी है वह कन्या ! शहर की पढ़ी-लिखी, गाना-बजाना भी जानती है। पिता तो कहते हैं साँस ढले वह भजन गाकर सुनाया करेगी।"

गम्भीर होकर रवि ने कहा, "यह काम होनेवाला तो नहीं लगता।"

"बात पक्की कर ली। उत्तर जा रहा है—होनेवाला कैसे नहीं ?"

"नहीं, नहीं हो सकता।"

"यह तो बड़े आश्चर्य की बात है, रे, बाबू !"

"पिताजी से कह दें मैं तो वहाँ ब्याह नहीं करूँगा। यों हड़बड़ी में इधर-

उधर बात देने से बाद में केवल सिर नीचा करने की बात होगी। क्यों इतना हो-हा लगाये हैं !"

"जरा देखिए, सुनिए..." अवधानजी ने समझाया।

रवि ने कहा, "बस, और उन सबकी चर्चा क्यों करते है ? पिताजी से कह देना।"

अवधानजी सिर के खप्पर के बीच में तपकर कुछ दप्-दप् जलता-सा लग रहा था। आँखों के अन्दर से गरमी की धार बही आ रही थी। लगता था जैसे जीवन केवल चारों ओर से मुँदा पिंजरा ही नही है बल्कि वह पिंजरा चारों ओर से सिमटता आ रहा है !

जैसे आर्त होकर लोग पुकारते हैं—'भगवान्, भला कर दो।' वैसे ही 'भला कर दो, ठीक कर दो !' पुकारता, उपाय खोजता रवि पहुँच गया अनादिदास की समाधिवाले मैदान में। बरगद की छाया लम्बी हो गयी है। नदी मे बालू ठण्डी पड़ने लगी है। सामने यह माटी का टीला, उनकी समाधि। लोग कहते हैं, सकट के समय यहाँ धरती पर लोटने से दर्शन देते है स्वप्न मे। फिर बताते है कि क्या करना पड़ेगा, क्या होगा, आगे की बात दिख जाती।

कोहनी पर टिका रवि थक-सा चुका था, मन में बारम्बार वही उलझा हुआ सवाल है, वह क्या करे ?

सामने वही परिचित दृश्य, खेत का मैदान, बाग, नदी की धारा, नदी के उस पार की सघन श्यामलता, हवा मे वही चीन्ही-चीन्ही-सी महक, गाँव से दूर जाने पर जैसे याद आती है। जो देखता है, जो अनुभव कर रहा है, उन सब जगहों से उसका अपना सम्पर्क है। सब उसके अतीत के चिह्न, एक साथ गूँथने पर उसका जीवन। अतीत से आ रहा है, भविष्य की ओर फैल जायेगा। इसी माटी के मोह में धीरे-धीरे डूब-डूब रहा है वह स्वयं। मानो कि इस गाँव की माटी के असंख्य रूपों में से एक रूप है वह !

सच, जैसे, इस बूढे बरगद की झूलती हुई जड़ों में से एक, प्रकृति के नियम से नीचे ही नीचे बढ रहा है, उस तरह असख्य हैं उसकी सम्भावनाएँ।

अथवा सामने जो एक-एक गयश के पेड़ सारे मैदान मे उगे है, उनमें वह भी एक छोटा-सा गाछ है।

—नही तो ये जो गिलहरी, चटर-चटर करती तनिक नाचती-नाचती बरगद की ओर आ रही है, अटक-अटककर आ रही है, फिर पीछे मुड़ जाती है।

—नही तो यह भूरी चीटी, कमर सीधी कर चारो ओर देख रही है, फिर आगे बढ़ जाती है।

उन्ही का साथी बन नित का परम्परागत आदमी, अन्तर मे वृद्धि का स्पन्दन, जन्म उसका अनचीन्हा, क्षय उसकी भावना के वाहन, चेतना मे जीवन का स्वाद

है। सनातन आदमी, वैसा ही है वह।

और सामने अनादिदास की गद्दी, वे भी सनातन, चिरकाल से गाँव के आदर्श गाँव के गुरु, आश्वासन और विश्वास के स्वरूप—सदा से।

दूर देखते हुए वह अनुभव कर रहा था—अपने में स्वच्छ मन की शान्ति, बल का सुख, उम्र की आशा।

और वसन्त ऋतु, उसकी बौराई महक, उसका रंग, उसका तेज।

मन के अन्दर बात की धार फैल गयी, ढीला होकर बहता चला गया।...

नया बाग अच्छा हुआ है।

लाल गाय बिया गयी है, कैसी होगी उसकी बछिया, बड़ी जात की, या ओछी?

झुण्ड में से उसने दो बछड़े चुन लिये हैं, बड़े होने पर अच्छे जोड़ीदार होंगे। पहले इन्हें बधिया कराना पड़ेगा, वरना ये साँड़ हो जायेंगे।

दोनों कोमल-से छौने! मक्खन-से सफ़ेद, कितने गिलगिले, उछलकूद मचाते। दो दिन पहले तो उसकी ओर मुँह हिला-हिलाकर मानो खेलने को बुला रहे थे, उसके चारो ओर उछलते-कूदते खेल रहे थे। उन्हें पकड़ के खस्सी कराना पड़ेगा। फटे बाँस के बीच सदा बाउरी उन्हें भीच देगा।

ओः कितना कष्ट! कितना दर्द!

उसी कल्पित कष्ट मे रवि की आँखों पर नदी के ऊपर दिन छिपने की छाया घिर आयी थी। रवि सिर उठाये हुए अनादिदास की समाधि की ओर देखता रह गया, मानो वे आँखें उससे गुहार कर रही हैं।

और उसकी चेतना के आगे तैर गया है कोई जुलूस, झुण्ड के झुण्ड बधियाये बैल और बकरे, मानो फन्दे मे फँस, सहमे-सिमटे-से बधियाये आदमी हैं।

वसन्त उसकी क्षति-पूर्ति नहीं करता। गाँव की शान्ति नकली कलई है इस रंग से नही चल सकता। बस खाली-खाली-से चेहरे में बेतरतीब रूखे बाल, धँसे हुए गाल, निस्तेज मुँह के बन्धन मे दम घटे आधे-आदमी के दल और उनमे शामिल वह भी!

इस दुर्दशाग्रस्त संसार में दुर्बल है जोगीनाथ।

हे महापुरुष, यह बन्धन क्यों?

सामाजिक संस्था में शोषण, सामाजिक नीति में अन्धे संस्कार—सहने ही पड़ेंगे, पर क्यों?

फिर वही चेहरा—छवि! अपने अन्दर तूफान की साँय-साँय। अनदेखे अनादिदास का अनुमान लगा पाता है, मानो उनका आसन काँप रहा है, आँखें खोल रहे है। शान्त, स्थिर दृष्टि चाँदनी की तरह चेहरे पर दिख रही है। अनादिदास कह रहे है—"बन्धन का कारण भय है, भय दुःख का कारण है।

अपने दुर्बल मन का भय खुद को ही दबोच लेता है। आदमी अपने रास्ते को छोड़कर युगों का परिचित रास्ता ही पकड़ेगा, उसपर वैसे काँटे या खड्डे नहीं, वैसा मान-सम्मान नहीं है। बस कैदियों के रास्ते। बन्धन सस्कार बनकर डराता है।"

चौंककर अपने आप में वह लौट आया था। गद्दी की तरफ प्रणाम कर लौट गया घर की ओर।

एक रौ में चला आया है। वह कहेगा, प्रतिभा की आँच से सिर में दप-दप हो रहा है। बार-बार चेहरे पर आँच की लहर फैल जाती है। कभी न कहनेवाली बात, आज वह कहेगा। अँधेरे गर्भ-गृह में से निकल पहले वह अपनी छलछलायी आँखोंवाली माँ के आगे खड़ा होगा। फिर उसकी अपनी अत्यन्त लाज-शरमवाली बात...कि क्षण-भर देखकर ही किसी को उसने चाहा है। छोटे बच्चे का प्रेम नहीं, जैसे युग-युग से पुरुष प्रेम करता आया है—वैसा।

धूल लाकर उसपर पानी डाल-डालकर उसने रूप गढ़ा था, रूप को जीवन मिला है, रूप सच हो गया है। अब उसके अस्तित्व के साथ लिपट गयी है छवि। वह मोह नहीं है।

नित्यकर्म कर लिए हैं, पोखर में नहा-धोकर आया है, छाती धक्-धक् कर रही है—समय पास आता जा रहा है, वह कह देगा। लगता है, इस तरह पहले किसी ने नहीं कहा, वही पहला है।

आँगन-दरवाजे में अन्धकार के ऊपर टगर के फूलों की तरह तारे खिले हैं। आकाश का अन्त नहीं, तारों के प्रकाश का क्षय नहीं। कुछ क्षण खड़ा हो खुद को दृढ़ किया—खुलकर बात कहने में आपत्ति क्या है? रसोई के दरवाजे पर जाकर बुलाया—"माँ!"

वे बरामदे की सीढ़ी पर खड़ी है, आँगन में रवि। पता नहीं कैसे उसने शुरू किया, पर उसने सब कह दिया है। अन्दर का रूप स्पष्टतर हो गया है। एक ही झटके में अपने को बचपन से अलग कर आँगन में खूँटे की तरह खड़ा किया है उसने—एक मजबूत आदमी के रूप में।

कितनी बातें कही है, अपने हृदय की फिर वे युक्तियाँ दीं कि बिना कारण ही लोग उसके नाम पर अफ़वाहें उड़ा रहे है, उस लड़की को लेकर। उसकी जिन्दगी बरबाद होगी। ऐसे में उसका भी कुछ कर्त्तव्य है।

इतनी सारी बातें वह कह तो गया पर माँ ने मुँह नहीं खोला।

बातें पूरी होने के बाद सिर के अन्दर जा रही हैं—बातें नहीं, बातों की

प्रतिध्वनि। अवाक् यह देख रही है, आँगन में यह कौन है?

बेटा नहीं, कोई पराया आदमी।

बेटा तो खिलौने के गुड्डे-जैसा है, मलाई-मक्खनवाला बालगोपाल है।

बेटा तो, माँ का है, वह जनमा जब से याद आता है, वह इत्ता-सा चार अंगुल का था, कितना नि:सहाय! उस दिन से उसकी बातें याद पड़ते ही लगता है वह कितना निःसहाय नन्हा-सा है, सरल और सहज-सा। किसी स्त्री की छाया तक उसपर नहीं पड़ती।

मगर यह जो बातें कह गया, यह तो बच्चा नहीं, कोई बड़ा आदमी है। बेटा नहीं, पराया है। पराये आदमी ने कहा, उसे उससे क्या? वह अपने रास्ते जायेगा, अपना कर्म भोगेगा, मन खोलकर बातें कहीं, दो शब्द सहानुभूति के ही पायेगा, बस इतना ही सम्बन्ध है उसके साथ।

"माँ!" यह आवाज उसके बेटे की है।

अपने आप झरने लगी स्नेह की धारा, "क्या कहता है रे बाबू? तू अपने बापू से कह।"

बेटा नहीं, पराया आदमी, चेतना ने समझा। स्वत: आयी शत्रुता! उसने ही उत्तर दिया—"तू कह न।"

मुड़कर रसोई में चली गयी। चूल्हा फूंकने की आवाज सुनाई पड़ रही है।

किन्तु वह न सुन रहा था और न देख रहा था कि माँ की चेतना में कितना बड़ा तूफान उठ रहा है। चूल्हा जलाते-जलाते आँखों से धारा बह रही थी। बेटा पराया हो गया। इतनी बातें कह दी। पहला झटका खाती हुई-सी वह चौंक पड़ी। वह बात गयी, इसके बाद उसे अनुभव हुआ कि उसके हृदय में चोट लगी है, अपने लिए ही वह सिसक रही थी, अन्दर ही अन्दर।

रवि को हलका-हलका महसूस हो रहा था। उसने माँ को कह दिया है। और किससे कहता? माँ तो सदा माँ ही है—माँ ठहरी, सारी बातें सहेगी, बचपन के गू-मूत से लेकर मुक्का-धुक्का और बड़ा होने पर बड़ी-बड़ी बातों तक। वहाँ छल क्या? मान-अपमान भी क्या?

रवि बाहर चला गया। उधर रवि की माँ रसोई के काम में लग गयी। जागने पर अधिकांश समय कटता यहीं रसोई में, किन्तु हाथ ढीले पड़ रहे हैं। क्यों? किसके लिए यह सब? लगता है जैसे साधारण जीवन की हर बात के सारे 'क्यों' के उत्तर खो बैठी है। मन में सिर्फ व्यर्थता का बोध भर गया है।

याद आता है बड़ा बेटा कवि और उसकी स्त्री। घर बसाने के लिए बहू

लाये थे—बेटे का हाथ पकड बहू विदेस जाकर बस गयी। कभी तो पूछती सास को! बस हर बार बच्चे के जन्म से पहले फ़रमाइश आती—लाचार आदमी, सास के बिना विदेस मे जच्चा-बच्चा और घर कौन सँभालेगा? पति तो काम-धन्धे में लगे रहते हैं, दिन-भर अपनी ड्यूटी मे, इधर इसकी सुविधा-असुविधा देखने को फुरसत कहाँ? और यह छोटा लडका, कितना शान्त, धीर, मानो माँ के मन की बात इसी ने समझी थी...पर इसके मन में एक नया आदमी है, आज से नही कब से रहता आया है। उधर ही उसका मन है, माँ की ओर नहीं। यह बेटा भी, सचमुच, पराया हो गया...!

होठ काँप रहे है, मन ही मन कुछ बडबडा रही हैं। ख़ुद को चिकोटी काटने की तरह चौककर उन्होने सोचा—वे क्या कुछ सोच रही है? यह तो ख़ुशी होने की बात है, बेटा अपने मन ही मन से बहू चुन रहा है। पिता व्यर्थ ही जिद कर अड़ते हुए इनकार कर रहे हैं। बेटा सुख से रहे!

पर हँस नही सकी, हँसने की बात सोचते-सोचते फिर आँसू बह निकले। आँसुओं मे शराबोर आशीर्वाद देते-देते फिर याद आयी अपने सुख की बात—मन लायक बहू आयेगी, घर हँस उठेगा।

सामने यह चूल्हा जल रहा है, भात की हाँडी चढ़ी है। ये सब है जीवन-भर के साखी। यही बैठ-बैठकर कितनी आशा, कितने विचार आये है। सब भूल गयी, किसी ख़ालीपन मे भीतर डूब गयीं। इस घर में बहू बनकर वे स्वयं आयीं थी। दरवाज़ा आदमियों की भीड़ से भरा-पूरा था। शख, हुलुहुलि, बाजे-गाजे, मगलाष्टक बोल, पल्लू पकड़, सिर पर चारों ओर चँदोवा तानकर बाहर दरवाजे से एकदम भीतर सोने के कमरे तक स्वागत कर ले गये थे। झुकी-झुकी-सी चावल-सुपारी की अँजुरी भरकर घर में गयी तो चारों ओर से फूल बरस रहे थे। तब हवा में तैरती आयी एक महक, विनम्र चेहरे पर निरीह शोभा के अन्तराल में जल रही थी आशा की तीव्र उत्तेजना। सामने था एक स्वप्न, जिसे हँसते-हँसते वास्तव रूप देना होगा।

घर-ससार की लीला चली। बच्चे हुए, पख लगे, वे उड़ गये। और साथ-साथ जीवन भी धीमा पडा, चाकी पीसने की तरह अपने-आप घडड़-घड़ड़...बस चाकी चल रही है।

रवि ब्याह करेगा। बहू आयेगी।

हाँडी मे दाल छौक रही है। छौक की चड़-चड़ और तीव्र गन्ध नाको मे घुस जाती है। सोचते-सोचते मन का परदा हट जाता है। सोचने लगी—रवि ने ऐसा क्या कहा? ऐसा क्या होता है? मन की हूक पर मन पर ताला डाल लोग दुनिया बसा लेते है। छाती पत्थर की कर लेते हैं! नये जुग में सब उलटा है। मरद हो रहे हैं हिजड़े, औरतें हो रही है मरदानी। रवि ने उस नये जुग के विघटन

में मन को उकसाया है। वह गया कहाँ ?

आवाज दी—"रवि ! रवि !"

रवि नहीं है।

मन मे घाल-मेल होने लगा। पिता अकारण ही अस्वीकार कर रहे है, सहज बात को असहज कर रहे है। बात को घोंटने से बढ़ती है।

अपने अतीत से अनजान लहरें आकर टकरा रही है। केवल गहरी गाँस—एक ओर से देखने पर लगता है कि वे अपनी इच्छानुसार नहीं कर सके, बस, बहाव के जोर मे बहे जा रहे है।

आदमी का जनम ही तो वैसा है, वह स्वाधीनता का सपना देखता है, परायी बातों पर नाचता है, स्वच्छ हँसी से जीवन को पूज नहीं सकता, आँसू से उसे अर्घ्य देता है।

अँधेरे मे घूमते-फिरते रवि भी वही बात सोच रहा था, पर उसका सोचने का ढग अलग था। बिस्तर में पड़े रोगी की तरह वह नही सोच रहा था, वह रास्ता खोज रहा था।

शान्त अँधेरा घिर आया है। रात यहाँ रात ही है, बूँद-बूँद बिजली की रोशनी के घाव नही। इस रात में असीम व्याप्ति की धारणा आती है, फिर विराट् ऐश्वर्य की। दिन मे सीमा दिखती, केवल असम्भाव्य का पूर्ण विराम। रात मे लगता है, सब कुछ सम्भव है। यही तो उसका चैती-घोडा पंख लगा आकाश की ओर उड़ा जा रहा है, ऊपर तारे हँस रहे हैं, आगे यह पृथ्वी, एक और बड़ी। अँधेरे के नीचे चमकता सफ़ेद रास्ता दिख रहा है। रास्ता जरूर है।

अगले दिन नदी से नहा-लौटकर जब वह चिवड़ा और कन्द मिला रहा था, पास मे माँ बैठी-बैठी नारियल की कोर निकोर कर दे रही थी। माँ ने बताया, "बापू खोज रहे थे—।"

क्यों ?

"सो तो मैं क्या जानूँ ? बाहर बगीचे में हैं। कहा था, रवि को तनिक भेज देना।"

खा-पीकर मुँह धोया और बाहरवाले बगीचे की ओर चल पड़ा। फाटक खोलकर मधुमालती के जाल से स्वयं को मुक्त कर आगे बढ गया। दूर वे दिख

रहे हैं, घूम-फिरकर पेड़-पौधों को देख रहे हैं। ताजा हरी-हरी कोमल बाड़ पर वसन्त का विप्लव मूर्तिमान् था। झुरमुटों में फूल खिले थे। नन्ही-नन्ही चिड़ियाँ बाड़ के अन्दर आकर आँख-मिचौनी खेल रही थीं। चिड़ियों की दृष्टि बौराये कलमी आम पर गडी थी। वहाँ क्या देख रही हैं ? दीमक ?

अचानक उसकी ओर मुड़कर पिता ने उसे तेज निगाहों से देखा। पहले उस दृष्टि से चौंककर रवि ने थोड़ा-सा मुँह खोला, और पिता की तीक्ष्ण दृष्टि को सह लेने के लिए अपने को तैयार करने लगा। एड़ी से चोटी तक उनकी दृष्टि भेदती जा रही है। बग़ीचे में और कोई नहीं है। पेड़ किस पुराने दिनों की पट्टभूमि हैं। याद आ रहा है, पिता ने बचपन में कितनी बार सिर के बाल पकड कान खींच उसे उठाकर पटका है, पीटा है, अभी भी आँखें वैसे ही जल रही हैं। लेकिन आमने-सामने खड़ा होने पर वह उनसे और भी चार अंगुल ऊँचा है।

कहा, "मैंने बुलाया था।"

रवि प्रतीक्षा में है।

उन्होंने कहा, "बी. ए. तक पढ़ाया, तेरा मन करता तो और भी पढ़ता, मन करता तो नौकरी पकड़ता, नहीं की, वह तेरी मरज़ी—"

रवि ने कहा, "नहीं, मैंने नौकरी नहीं करने का निश्चय किया है। करने के लिए बहुत-सा काम है, नौकरी के लिए फ़ुरसत कहाँ है ?"

उन्होंने कहा, "अपनी बात तू जाने, मैं उस बारे में तुमसे कुछ कहना नहीं चाहता। हमारा तेरे प्रति एक कर्तव्य है। अबकी तेरा ब्याह कर देना है। लड़की ठीक की है, तालकणा गाँव के भालू पट्टनायक की बेटी। हमारे मन लायक है लड़की, इसी चैत-बैसाख में फेरा कर देना चाहता हूँ। सगाई कर आनी है। हमारे जमाने में तो बेटे को इतनी बातें नहीं कही जाती थीं, ब्याह के पहले दिन कह देने से चला जाता, ताकि अनुष्ठान के दिन वह घर में हो, कहीं गया न हो। अब तो कलजुग की बात, दूसरा ज़माना, तभी पहले से कह दिया। जाओ—।"

आमने-सामने खड़े हैं बाप-बेटे। गम्भीर होकर रवि ने कहा, "पिताजी, मैं तो वहाँ विवाह नहीं कर सकता !"

"नहीं करेगा ? क्यों ? वहाँ बुरा क्या है ?"

"वैसे विवाह की बात बिलकुल सोची भी नहीं। फिर अगर भविष्य में विवाह किया भी तो और एक जगह—"

"क्या कहा ?"

"पाटेली गाँव में हैं, सिन्धु चौधरी..."

बीच में रोककर गरजते हुए-से वट महान्ती बोले, "कुलांगार, नालायक, मैंने सुना था, मुझे पता न था। किसका बेटा है तू, किसका पोता ? तूने मेरा सिर नीचा कर दिया। मेरे वंश में कालिख लगा दी। तुझे त्याज्य पुत्र करने पर भी

कोई पास नहीं होगा। तुझे पढ़ाया, आदमी बनाया, अब तेरे ये गुण निकल रहे हैं, छिः, छिः, ऐसी बात सुनने से पहले मैं मरा क्यों नहीं।"

एक बार मुँह खोलने के बाद रवि का साहस बढ़ गया है। रवि ने कहा, "झूठ-मूठ ही उनके शत्रुओं ने कुछ अफ़वाहें फैला रखी हैं, आकाश से तोड़कर बातें कह रहे हैं, अकारण ही, बिना दोष ही, किसी भले आदमी की मान-इज़्ज़त नीचे घिसट रही है, एक निरीह बालिका का भविष्य नष्ट हो रहा है। यही तो पहला और विशेष कारण है, जिससे मैंने यह निर्णय लिया—"

"निर्णय ! ओहो रे तेरा निर्णय ! बाप के रहते, बड़े भाई के होते, अपने मन ही मन खाली निर्णय ! कल का छोकरा, मुँह का तोड़ तो देखो। मर क्यों नहीं जाता जो मेरे सामने खड़ा होकर बातें कह रहा है।"

"आप व्यर्थ ही क्रुद्ध हुए जा रहे हैं, पिताजी ! मेरा कोई दोष नहीं है।"

"...कुछ दोष नहीं। बिलकुल तुलसी है ! छिः छिः, कुलांगार कहीं का !"

बात बीच में ही रोककर वे बगीचे में पेड़ों के बीच टहलने लगे। चेहरा फूलकर कुप्पा हो गया था, गरदन फूल उठी थी, सिर की नसें तन गयी थीं, होंठ और गाल पत्थर की तरह कठोर दिख रहे थे, सब मिलाकर दिख रहा था जैसे उन्माद में हों। वहाँ मन की उग्र चिन्ता के अलावा और कुछ जा ही नहीं पाता। उनका इतना भयंकर क्रोध रवि ने कभी नहीं देखा था। उनकी आँखों से, कान से ज्वाला निकल रही है, चेहरा जल रहा है।

धीरे-धीरे वह वहाँ से लौट आया। लग रहा था मानो बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है इसी बीच; जो समस्या आयी थी उसका समाधान हो चुका है, अब रास्ता सीधा है।

उसपर गम्भीर भाव दबाव डाल रहा था, उसे लग रहा था जैसे उसकी उमर बढ़ गयी है। जीवन का एक अध्याय समाप्त हो चुका है, अब से नया दिन, नया उत्तरदायित्व। अपने हाथों से अपने बचपन का घरौंदा तोड़कर वह आगे बढ़ा है।

यही तो होना था—उसने सोचा। दो विपरीत धर्मों की तरह दो विपरीत मत एक साथ कैसे होते ? दो व्यक्तित्वों का संघर्ष, दो इतिहासों का। अथच वह स्वयं भी उनसे ही सम्भूत है। शायद उनमें भी यह दिशा थी, और है भी, कहीं गहरे दबी रह गयी है। हर आदमी में सब कुछ है, नाना रोगों के जीवाणु ही नहीं, नाना भावों के जीवाणु भी है, नाना पेड़ों के नाना प्रकार के बीज, परन्तु वे सब बढ़ते नहीं। कोई-कोई ही बढ़ता है।

वे क्यों नहीं आये, यह तो नयी बात है, ऐसा तो कभी होता नहीं—रवि की माँ सोच रही थीं, न जलपान किया, न पोथी पढ़ी, यहाँ तक कि पूजा भी नहीं की, भात खाने भी अब तक नही आये। धूप सिर पर आ गयी, यह बात क्या हो गयी, आज ? दिन के ग्यारह बज गये। वे अब तक नही आये। रवि की माँ ने पास से कुंज को, जो रिश्ते में देवर लगते थे, बुलाया।

"जाओ तो कुंज, अब तक वे क्यो नही आये ? ज़रा बुला लाना तो ! आज क्या उन्हे भूख-प्यास की याद ही नही रही ?"

और आधे घण्टे के बाद रवि कही घूम-फिरकर लौट आया। पसीना बह रहा है। हँसकर कहा, "भात देना हो तो दे, नहीं तो मैं चलता हूँ—"

"किधर ? इतनी जल्दी ?"

"फूलशरा जाऊँगा।"

"इतनी धूप मे ?"

"धूप में कोई काम अटकता है ?" रवि हँस पडा, "किस जमाने से पड़ा है, बेचारा फूलशरा, कोई पूछता भी नहीं, जमीदारी उठ गयी, घर पर अब छावनी-छप्पर होते है या नही, किसे पता। ढेरों ज़मीन है। अब कही उजाड़ जगल होकर पड़ी है। फूलशरा में डेरा डालकर रहने पर तो वहाँ बड़ा फ़ार्म बन सकता है ?"

माँ ने चिन्तित होकर पूछा, "क्यो अपने नन्द तहसीलदार कही गये क्या ? उनके ज़िम्मे तो सब था। गाछ, मछली, जमीन-जायदाद सब, सारी देख-रेख किया करते थे, अब क्या हो गया ?"

"सो तो मैं नही कह सकता। सोचता हूँ, मैं वहाँ जाकर बैठूंगा, पिताजी तो यहाँ देख-भाल कर ही रहे हैं। दोनों बाँटकर सब पर ध्यान रखेंगे।"

थाली लगायी गयी। रवि खा रहा है, माँ ने प्रश्न किया, "पिता से तुमने पूछा ?"

"तू कह देना, अच्छी बात के लिए वे क्यों इनकार करेंगे ?"

माँ कहती जा रही थी—"बहू लाने के लिए सारा बन्दोबस्त कर लिया था, पर—" वहीं रुककर बेटे के चेहरे की ओर देखा, वह सिर नीचा किये मन लगाये कच्ची मिरच को ही चबाये जा रहा है।

माँ ने बात घुमाकर कहा, "भाई-भौजाई तो चाकरी गाँव में हैं, पिता अपने धन्धे-व्यापार मे। तू मेरे पास रहेगा—यही आस की थी, पर तू भी चल पड़ा फूलशरा ?"

"मैं क्या फिर नही आऊँगा ?"

मेघाच्छन्न आकाश के बीच से सूरज की तीखी किरणों की तरह खिन्न हँसी हँसते हुए माँ ने कहा, "मरद बेटा ठहरा, कोई बेटी थोड़े ही है, जो लाज

करेगा। जो तेरा मन करे, वही होगा। सबर करनी पड़ेगी। सहकर, देख-भालकर काम करना ही पड़ता है, फिर इतनी चिन्ता क्यों? इतनी छटपटाहट क्यों? आत्मा को कष्ट देकर कुछ न करना। देख बाबू रे, आत्मा कुशले सर्व-सिधी—"

"उस आत्मा की कुशल करते-करते तो अपने देश-भर के लोग अपनी चोटी परायों के हाथ देकर रूखा-सूखा खाकर टूटे-फूटे झोंपड़ों में दिन काट रहे हैं, बस केवल कुली-मजूरों का झुण्ड पैदा हो रहा है।"

"इतनी ऊँची नाक क्यों करता है? रूखा-सूखा ही भला है। कुली-मजूरे कोई बुरे हैं? जिसके करम में है वह गाय चराता है, किसी के करम में लिखा है, वह आदमी चराता है, असल में आदमी के अपने मन की शान्ति है। वह है तो सब है।"

"पेट में आग भरकर कैसी शान्ति माँ?"

"और थोड़ा भात खा ले।"

"नहीं, नहीं, बस कर।"

"अरे भर पेट खा जा, यों हड़बड़ी न कर—"

"पेट भर गया, और खाया तो फट जायेगा।"

"जल्दी लौटना। वहाँ खायेगा क्या? रहेगा कहाँ? कैसे चलेगा?"

"वहाँ भी तो आदमी हैं, घर बसाकर है, वे जब चलते है, मैं क्या अचल रहूँगा?"

"नहीं, नहीं रे, वैसे असुविधा में जाकर पड़ने से क्या फ़ायदा? मैं क्या करूँ, मैं चलती...मै तो घड़ी-भर भी नहीं चल सकूँगी।"

"तू रहने दे। यही तो है फूलशरा, कोई विलायत या अमरीका तो नहीं, मेरे लिए इतनी चिन्ता किस बात की?"

दोपहर ही होगी, रवि ने जब अपने कपड़े-लत्ते, किताब-कागजों की गठड़ी बाँधी और आकर माँ के चरणों में झुका। रवि की माँ अवाक् रह गयी। मन में हलके-से मेघ घिरकर फिर साफ़ हो गया आकाश। रवि का चेहरा प्रफुल्ल था। फिर वही बात—"जल्दी आना रे? कब आयेगा? कल या परसों?" रवि के चेहरे पर खाली हँसी, "माँ, चलता हूँ, अच्छा...!"

परन्तु उसके जाने के बाद मन में सन्देह हुआ। आज यह सब कैसा विचित्र, अद्भुत...सोचने लगी। पहले से कुछ कहा, न पूछा; बस गठड़ी बाँधी और चल पड़ा फूलशरा, दिन के दोपहर हो गये, अब तक वे खाने भी नहीं आये।

बोझिल-बोझिल-सा लग रहा है, ऐसा तो कभी नहीं हुआ। कहीं वे रूठे तो नहीं हैं?

गुस्से में होने पर तो बराबर कहा करते है—"जानती हो, मैं दुनिया को

भूल सकता हूँ—इतनी ममता मुझमें नही है, जाते समय क्या कुछ बाँधकर ले जाना है ?"

उनकी बात सुनकर डर लगता। लोग सहम जाते। कहते, "बात के पक्के ठहरे। पक्के आदमी, टूट जायँ भले ही, झुकेंगे नही।"

अवस्था के अनुसार खुद को ढालकर परिस्थिति के साथ समझौता कर लेने की शक्ति उनमे नही है। पर लोगों के मुँह से ऐसा सुनना उन्हें अच्छा लगता, उन्हे लगता जैसे यह गौरव की बात है! हँसकर कहते, "मैं तो सीधा आदमी हूँ, मेरी तो बस एक ही बात है।"

वे समझते नही कि उनके अपने बडप्पन की इन दो-चार बातों को चरितार्थ करने मे औरों को कितना परिश्रम करना पडता है। कितना सुख का रास्ता छोडकर कदम-क़दम पर डरते-डरते जैसे तलवार की धार पर चलना पडता है। लोगों को हैरान किये बिना 'एक बात' वाले आदमी कैसे कहलायेंगे? क्या दुनिया मे यही वास्तविक बडप्पन है? नही, इतना कठोर न होकर दूसरों का मन जान-कर अपने को दूसरो के साथ मिलाकर हँसते-हँसाते जीवन बिता देना ही असली बड़प्पन है?

कौन-सी बात बड़ी है? अपनी टेक या दूसरों का हृदय?

खुद भी खाया नहीं, प्रतीक्षा कर रही है। उनकी यह आदत है। परन्तु मन अशान्त है, आशंका की छाया भी पडती है वहाँ। उधर पति, और इधर बेटा, मन झूल रहा है। और उसके साथ-साथ वे। धूप मे तपते-तपते पहले बरामदे मे टहल रही थीं। बाड़ से उचककर दूर देखती कि वे आ रहे होंगे। देर हो गयी तो कमरे मे चली आयी।

अपना बेटा नया रूप लेकर आत्मप्रकाश कर रहा है। बट महान्ती गुस्से मे जर्जरित मन होकर बगीचे के कुज मे चले गये, मानो यही उनका वानप्रस्थ है।

जिसे पाला था, जिससे आशा की थी, अचानक एक दिन देखा तो वह नहीं है, *कहीं उड गया है। चेहरे पर छद्मवेश लिये खड़ा है अन्य कोई। समकक्ष होता-*सा खड़ा है। वह अनुशासन मानने को राजी नही, उन्ही के घर में रहकर वह चलायेगा एक नया शासन, सम्पत्ति उजाड़ेगा, नीचेवालों को बिगाड़ेगा, मनमाना ब्याह करेगा, चाकरी भी नही करेगा।

अचानक लगा जैसे बन्दरों के यूथ के बीच भाग-दौड़ में दो मुखिया बड़े बन्दर सामने हों और वह आगन्तुक दूसरा कोई नही, उनका ही अतीत है, उनका यौवन। जो दब गया था फिर उठ पडा है उनके बुढापे के सामने अपनी आत्म-प्रतिष्ठा के लिए। अतः वह उनकी आँखों से आँख मिला सब कुछ देख पा रहा था, उसकी बातो में विनय के साथ-साथ दृढता थी, कातरता न थी।

जब उन्होंने रवि से कहा, "तू मर क्यों नही गया!" तो वे अपनी सारी

इच्छा-शक्ति लगाकर उस अजेय यौवन के विलय की बात मना रहे थे। इसके बाद वह वहाँ से चला गया।

बगीचे में जगह-जगह पर टगर और मन्दार के पौधों का झुण्ड, ऊपर ही ऊपर लताएँ फैली है, सींग की तरह एक-एक लाल फूल खड़े हैं, नीचे गुफा की तरह हो गया है। और उसके दरवाज़े पर मधुमालती मानो परदा किये है, झुके हुए अमरूद मे उसके फूल भरे हैं, इधर-उधर के पेड़ों पर मधुमालती लिपटी हुई हैं। उसके आगे केले की बाड़ी, वहाँ लम्बे-लम्बे पत्ते फैलाये भिन्न-भिन्न ऊँचाई के केले के झाड खड़े हैं।

बगीचे का यह भाग मानो कोई भूला हुआ राज है। मन्दार की गुँथी गुफा में अपने को निढाल किये पड़े थे, गाल पर हाथ रखे बैठे-बैठे सोच रहे थे।

आज उनकी दुनिया उलट गयी थी।

उनके मन में एक रागिनी बज रही थी। उस संगीत की एक ही टेर थी—'जिस बेटे को आदमी किया, वही हुआ पराया!'

एक बात का छोर पकड़ते-पकड़ते मानो वे साधारण सत्य तक पहुँच गये—कोई किसी का नही, बड़े होने पर आदमी के सँपोले भी नाग बनकर चले जाते हैं, दुनिया जंगल है, आदमी यहाँ हिंस्र जन्तु है।

इस हिंस्र अविश्वास का विष उनके मन मे फैल रहा था। उलट-पुलट गरम माथे में डूबते-उठते काले-काले अस्थिर द्वीप की तरह एक-एक धारणा ऊपर उठती, फिर डूब जाती। बाढ़ का उफनता पानी गरज उठा—"मन चाहे ब्याह करेंगे! मन मालिक चलेंगे! फिर हम कौन है? घास काटनेवाले? बाप क्या है? बेटा कौन है? घर क्या है? समाज किसे कहते हैं?"

'मैं' पन का बोड़ा साँप अपनी पूँछ मे से थोड़ा चबाकर छटपटा रहा था। समय का होश न था।

उत्तेजित आहत जन्तु की तरह बट महान्ती उस झुरमुटे मे बहुत दूर तक पड़े-पड़े साँसों मे भर गये। धूप का तीखापन कम हो गया था, उसके साथ झर-कर कम हो गयी उनकी उमर की एक सुबह।

क्रमशः क्रोध ठण्डा पड़ता गया और क्षति का विषाद आया। बारम्बार सोच रहे थे, ऐसा बेटा भी कोई बेटा होता है, इसका तो मुँह भी नही देखना चाहिए।

उसी गुस्से की लपेट में आ गयी रवि की माँ। बट महान्ती सोच रहे थे, उसी ने तो हौसला बढ़ाया है इसका!

और याद आ गया बड़ा बेटा कवि—रास्ता तो उसने खोल दिया है ! देहरी लाँघ, कुल की बहू को लेकर वही तो गया, उसका जो मन आया किया, उसमें किसी का क्या आता-जाता है ? घोड़े की पूँछ में बाल रहे तो दूसरे का क्या है ? सारी ख़राबी ही ख़राबी है—सब अविश्वास, सब पराये ! उनका अपना कोई नही है !

और वे। किन्तु, इस सारे झगड़े-टंटे में झींकते-झींकते जीवन बिता आये इन्ही के लिए, सिर्फ़ इन्हीं की ख़ातिर। इस कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए आदमी शेर होकर भी चूहे की तरह चलता है। आज तक जिनके वास्ते उन्होंने इतना दुख सहा, उनके पास कृतज्ञता भी नही, प्रत्युपकार की तो बात ही छोड़ो।

छोड़ो, कोई किसी का नहीं...मन कहता है, वे अब उस घर में और नही जायेंगे।

"भैया ! भैया !" कुंज पुकार रहा है। बगीचे में आकर इधर-उधर आवाज़ लगा रहा है। महान्ती और भी गुमट-सिमटकर बैठे रहे। गले में कुछ खसखसा-सा हो रहा है, खाँस लेते तो अच्छा होता, पर खाँसी को ज़बरदस्ती रोके बैठे रहे। कुंज लौटा जा रहा है। देखकर थोड़ा चैन आया।

जानी-पहचानी परिस्थिति के बीच अनजान-अपरिचित की तरह रहने का नया अनुभव देख रहे थे।

विषाद के बाद वैराग्य आया। उनकी चेतना उसी वैराग्य में डूबकर कितनी दूर तक फैल गयी, माटी को छोड़कर आकाश तक फैल गयी, और प्रेतपुरी तक पहुँच गयी। सोचने लगे, कोई किसी का नहीं है, 'घट छूटे पर तुझे कहेंगे भूत रे !' यह संसार पड़ा रहेगा, आदमी अदृश्य हो जायेगा।

इसके बाद ? सबको देखता होगा, कोई उसे देख नही सकेगा। सबकी बात सुनेगा, मन परखता रहेगा, पर कोई उसे जान नही सकेगा।

सुनाई पड़ रहा है कुंज बाहर कह रहा है—"कहाँ गये, दिखते तो नही !" गली मे कितनी बातें उनके बारे में उठ रही हैं, कि वे कहाँ गये, किधर गये, कहाँ रह गये !

ऐसे ही लोग हो-हल्ला करते रहेंगे। गया-गया कहकर बोलते-बतलाते रहेंगे। आत्मा इस माटी के घट को छोड़कर अन्तरिक्ष का मार्ग पकड़ेगी। कितने दिन का खेल है, यह किसका बेटा, किसकी बेटी, किसका घर और किसका बाहर ?

सब माया है।

उन्हें लगता है कि चित्त की चेतना उड़ी जा रही है, यह संसार छूटने को है। अचानक सब याद आ जाता है—बन्धक के कागज़ात, कर्ज की लिखा-पढ़ी, खातेदारों के चेहरे, बकसे-सन्दूक, गाय-गोरू, जमीन-जायदाद, अमराई-पोखर। इतनी सारी चीज़ों की छाया उनके मन में सहेजी हुई पड़ी है। इनमें से कोई भी

उसके साथ जानेवाली नही है।

इस वैराग्य की बात को सोचते हुए उनके साथ इनकी स्मृति भी पीछा कर रही है। इसके वाद और सोचना सम्भव नहीं। मानो देह का सारा बल चुक गया है। आलस-सा छा रहा है। जम्हाई पर जम्हाई आ रही है।

ज्वार की प्रतीक्षा करती किनारे पर एक जगह डोंगी पड़ी है। धूप बरस रही है। पेड-पौधों की लताओ के बीच, गाँव की भीड़ के बीच इस एकान्त मे दिख जाती है यही नयी दुनिया।

समाज के अगुआ वृद्ध बट महान्ती समय बिताकर देख रहे हैं—दो गिरगिट भाग-दौड करते गुँथ रहे है। पूंछ से पूंछ मिलाये दो तितलियाँ टगर पर बैठी पंख फरफरा रही है, मानो सृष्टि मे सबसे बड़ा काम है इस तरह बैठे रहकर पंख खोलना, बन्द करना।

पास सूखी डाल पर बैठा गिरगिट सिर हिला-हिलाकर इस बात का समर्थन कर रहा है।

ठीक है, ठीक है, यही तो जीवन का चलन है, न बड़ा न छोटा। कोटि-कोटि घटों में कोटि-कोटि उपायो से वर्णछटा में जीवनीशक्ति का प्रकाश है। विश्वरूप—

रवि की ज़िद, अपना वैराग्य, खेती पर से बँटाईदार को हटाने की चिन्ता, खातेदार से पुराना ब्याज वसूलने का विचार, बूढ़ा गिरगिट, भागवत और अपना अतीत—सग मिलकर एक साथ गड्डमड्ड हो गये। जिस तरह सिवार से भरे थमे पानी मे रह-रहकर मछलियों का रूप दिख जाता है। किसी बात का कोई अश रह-रहकर मन की निगाह के आगे फैल जाता, मानो किसी के फडफडाते पख हों। किसी की पूंछ की पडती छाया हो। किसी के लाल मुह की नोंक हो, या किसी की एक आँख।

पुराने पानी खाये हुए काठ की देह में कुकुरमुत्ते के उगने की तरह बट महान्ती के व्यक्तित्व पर बढ रहा है एक नया व्यक्तित्व।

वे अधलेटे देख रहे हैं—चीं-चीं करती गिलहरी रोयें फुलाकर आ रही है, रुक जाती है, तनिक आगे बढती है और फिर रुक जाती है।

एक मोटी गोह अपनी पतली, फटी हुई काली जीभ तीर की तरह लपलपाती फिर अन्दर खींचती घिसटती-घिसटती बाड़ की ओर चली गयी।

दो नेवले आगे-पीछे दौड़ते भाग गये।

केंचुआ रेंग रहा है, अपने-आपको खींचते-से ले जा रहे हैं छोटे-छोटे घोंघे।

चमकती धूप मे दिखता है—झुण्ड के झुण्ड कितने कीट-पतंग उड़ रहे हैं। छोटे-बड़े—कहाँ से आते है, कहाँ उड़कर जा रहे हैं। मधुमालती लता की झूलती हुई डाल पर खेल रही है कोई नन्ही चिड़िया। अपनी पैनी चोंच बार-बार पूनों

के गुच्छे में डाल रही है, निकल रही है। उसकी नीली-हरी पीठ पत्तों के हरे रंग के साथ-साथ मिल गयी है।

सबको अपना-अपना काम पडा है। सब अपने-अपने काम मे कैसे जुटे हुए हैं !

छोटी-सी मकड़ी भी एक टगर की दो डालों के बीच जाला बुन रही है। सूंडी उनके देखते ही देखते एक पत्ते को छलनी किये दे रही है। काले और लाल-लाल छोटे-छोटे दाने गूँथकर बनायी माला की तरह उसकी छोटी-सी देह।

सहलाती-सी, सिहराती-सी हवा बहने लगी है। दवणा, तुलसी, कुकुरौधा आदि की महक स्पष्ट पहचान में आ रही है।

दूर कहीं शंखचील की आवाज आ रही है—चें चें चें...

इतना ही सकेत चाहिए था। इसकी आवाज के साथ-साथ याद आ गया ठाकुरजी के पोखर का एकदम काला पानी, पद्मवन की सुगन्ध, सोयी स्त्री के खुले केशों की तरह के सिवार का जाल, थिर पानी पर ऊँचे पेड़ो की छाया, काग़ज़ की नावो की तरह तैरते हंसों की पाँत। स्मृति में धूप मुरझा गयी, आकाश में बादल छा गये।

बट महान्ती सो गये।

सुलाने के लिए टिटहरी ने जैसे लोरी शुरू कर दी—"चट्र-चट्र-चट्र-ट्र-र-र।" और कपोत ने गुटर-गूँ की।

इस झुरमुटो के ससार ने उन्हें निविड़ भाव से अपना लिया है। सूखा काठ का टुकड़ा पड़ा है—पेड खडे है—कोई बूढा सोया है—सो रहा है—मानो ठीक यही सम्बन्ध बनाकर वे सदा से सोये हैं। यह उनकी सहज जैविक क्रिया है।

और वसन्त की सुराही मे जल झरने की तरह शून्य से समय बहकर चू रहा है बूंद-बूंद, ढुलक गया है, बहने लगा है।

नीद टूटी तब सारी देह मे नाना प्रकार की अनुभूतियाँ थी। कही जलन, कही सनसनाहट, कही कुलबुलाहट। नाक पर लाल-लाल हृष्ट-पुष्ट तितली बैठी थी, उड गयी। पीठ पर जगह-जगह मोटी चीटियाँ चिपकी है। सिर के बालों मे माटी के नन्हे-नन्हे जीव जल्दी-जल्दी बस्ती खडी करने में लग गये है। घुटनों के नीचे सूंड़ी सोयी है। तलुवों की ओर से छोटे-छोटे कीड़े चढ रहे हैं।

हडबड़ाकर बट महान्ती उठ खड़े हुए। जल्दी से अपनी देह झाड़ी। हाथ की मार से कितनी तेजी से सब साफ होते जा रहे है। तभी रवि की याद आयी, और लगा, कि इसी तरह एक ही थप्पड़ में सब कुछ साफ हो जाता, सहज हो जाता,

होगा भी ।

बहुत देर हो गयी । ठाकुरजी उपवास कर रहे होंगे । देह थकी-थकी लग रही है । बट महान्ती ने पहली बार अपने आगे स्वयं स्वीकार किया कि वे बूढ़े हो चले हैं।

दोल पूनम के बाद ही उनका जन्मदिन पड़ता है, अठावनवां चलेगा । बहुत दिनों से जन्मदिन नहीं मनाया । बहुत दिन बाद उन्हें अपने पिता और माँ याद आये। वे सब सुखी थे, वे स्वयं भी सुपुत्र थे, तब का जमाना और था। वह आजकल की तरह---

घर पहुँचते ही देर का कारण समझाने से पूर्व अपनी स्त्री से पूछा, "रवि कहाँ गया ?"

"आपके साथ कुछ बातचीत कर आया और फूलशरा गया । कह रहा था कि यहाँ आप देख-रेख कर ही रहे है, वहाँ वह देख-भाल रखेगा । ऐसा क्या उजड़ रहा है वहाँ जो बन्दोबस्त करेगा । बहुत सारी बातें कह रहा था । कहा, बापू से कह देना, वे मना थोड़े ही करेंगे ?"

भौचक खड़े रह गये, मानो चेहरा पथरा गया हो । दो क्षण बीते, और फिर उनके मुँह से निकला, "दो बेटे हुए, दोनों अपने-अपने रास्ते चले गये। हम बूढ़े-बूढ़ियों के मरने-जीने की खोज-खबर अब किसे रहेगी?" छोटा बच्चा व्याकुल होकर जैसे जिद करता हो रवि की माँ की देह में छन् से बातें टकरायीं । हृदय से हूक-सी उठी। जीभ थरथराकर जैसे रूठे स्वर में कहा, "आपने तो समझा नहीं, वह अब कोई बच्चा थोड़े ही रह गया ? उसका मन न माना । उसकी बात न रहे तो वह चैन पायेगा ? हो जाता ब्याह उन सिन्धु चौधरी के घर में, कौन-सी दुनिया उलट जाती ? फिर लोग जात-कुजात में भी तो ब्याह करते हैं, मेम लाकर बैठा लेते हैं, तुम तो बस केवल बारीकी से जाँच करते रहोगे । खैर छोड़ो, अपने भाग में नहीं लिखा !"

बट महान्ती अचानक फिर कड़े पड़ गये । कहा, "तुम समझती तो हो नहीं, जाये जहाँ उसका मन करे । मुलायम लोहे को बिल्ली भी काटती है---नहीं क्या? कुत्ते को चूमो, वह भी मुँह चाटेगा । ठीक है, जाने दो, देखें, पानी किस क्यारी की ओर मुड़ता है।"

अब फिर उनका चेहरा कठोर हो गया है, किन्तु उनकी भंगिमा में बच्चों की-सी निरीहता न थी, कठोरता के साथ उदासीनता ही पहचान में आ रही थी।

कहा, "यह सब मत सोच। पैर हुए हैं, चलेंगे; पंख उगे हैं, उड़ेंगे ही, कोई तेरे-मेरे साथ-साथ नहीं चलेंगे। झूठी माया को सच मानकर क्यों तड़प रही हो? आदमी कर्तव्य करने आया है, कर्तव्य करते-करते लुढ़क जायेगा। किसी से कुछ पाने की या लेने की तो आशा है नहीं । तुम जिसके लिए इतना सोच रही हो,

उसने क्या तुम्हारी बात पर ध्यान दिया, या वह तुम्हारा मान ही रखता है ? जीते जी मैं बाघ के घर मे मिरग का नाच नही होने दूंगा। मेरे पिता ने मुझे नही सिखाया।"

वे चले गये ठाकुरजी की पूजा करने।

रवि की माँ के विचारों से मानो कुहासे का परदा उठ गया। रवि के फूलशरा जाने की बात साफ़ हो गयी।

साथ ही आँखों के आगे कुहासा-सा छा गया। जीभ थर्रा गयी। घर खाने को दौड़ रहा था। जाये वह, मरद बेटा है, जहाँ जाये, अपना करम अपने साथ है। ऊपर धर्म है। वह बड़बड़ा रही है। रवि का भला मनाते हुए ठाकुरजी की देहरी पर सिर बारम्बार टेकने पर भी नासमझ आँसू कोई रोक-टोक मानने को तैयार नही।

आँगन मे कौवे ने काँव-काँव की। मुड़कर छलछलायी आँखों से उसकी ओर देखकर कहा, "क्या कहता है रे ? शुभ कौवे, शुभ से ही बोल ! क्यों, रवि शाम को लौट आयेगा तो ?"

पर अपना मन ही ख़ुद को डराकर उत्तर दे रहा था—वह इतनी जल्दी लौटनेवाला नही है।

सुनाई दे रहा था, रवि के पिता ने घण्टी टनटनाकर ठाकुरजी की पूजा शुरू कर दी है। सूने रास्ते की ओर देखते बीच का घर उढ़काये रवि की माँ खड़ी है। इस घण्टी की टनटन के साथ याद आ जाता है—कोई नन्हा, जो किलकारी मारता दौड़ता चला आता है। उसके सिर के घुँघराले बाल लहरों की तरह नाच रहे हैं। चेहरे पर, आँखों में उत्तेजना है। उस घण्टी की टनटन के साथ याद आ रहा है—थोड़ा-सा गुड़ या छेना, उसमें तुलसीपत्ते लगे होंगे एक-आध। वही प्रसाद पाने के लिए कोई दूर से दौडा आ रहा है। वे रवि के बचपन के दिन थे, हँसमुख बालक, गले में पतली सोने की लड़। कहाँ, कितने दिन की बात हो गयी !

दृष्टि गयी—चिड़ियाँ छान के नीचे फुर्र-फुर्र करती उड़ रही हैं। एक-एक कर बाहर उड़ती जा रही है। कितनी ही इस प्रकार उड़ती गयी है ! कब से !

और इधर बच्चे नही आते। कभी मन किया तो बस्ती से बुलाने पर ही कोई आयेगा। नही तो नही।

खाली घर। ख़ाली चौक। ऊँची आवाज़ मे बट महान्ती भागवत पढ़ रहे हैं, जल्दी-जल्दी छटपटाते हुए, मानो कोई शब्द-समुद्र हो। अर्थ खिलने तक की प्रतीक्षा वहाँ नही है। बस केवल नाद-ब्रह्म, इहलोक मे आत्मा शीतल होगी, परलोक मे मुक्ति मिलेगी।

परन्तु उस रागिनी से, स्वर की उस भंगिमा से मानो सुनाई पड़ रही है—

गहन मन की हिलोर लेती अभिमान के शब्दों की तरंग।
दीर्घ सांस छोड़ती-छोड़ती रवि की माँ परोसने के लिए चली गयी।

बई मलिक छाजन तले बैठा अमिया के साथ पखाल खा रहा था। दरवाज़े पर छोटे साआन्त को देख ठहाकेदार हँसी के साथ उठ खड़ा हुआ। हाथ जोड़ नमस्कार किया। जल्दी से आवाज़ दी, "माँ, पानी से हाथ धुलाना तो!"

"यों हड़बड़ी मत करो, खा लो, मैं कहता हूँ।" रवि ने कहा।

बई की माँ सेरेन्ती आयी। ख़ुशी से भरकर बोली, "कैसे आये? धनभाग, ग़रीब के घर साआन्त के पाँव पड़े, अब क्या करूँ! अरे बइया, ले निगल ले निवाले! देखता क्या है, कांसा लगा दे मुंह में—"

"रहने दो, रहने दो बई की माँ, एक जगह जाना है सो बई को साथ लेने आया था। काम तो कहीं जाता नहीं, उसे बैठकर आराम से खाने दो—"

साथ जाने के लिए साआन्त जी ख़ुद बुलाने आये है। "किसी से ख़बर भेज देते तो बइया ख़ुद दौड़ जाता। जायेगा नहीं क्यों! कहेंगे तो बीस कोस भाग जायेगा। आपकी जगह में घर खड़ा किया है। बाबू, सात पुश्त आपका ही दाना खाकर जीये है, आपका नहीं करेंगे तो किसका करेंगे?"

बई की बहन गेल्ही हाथ में लम्बी लग्गी लिये पीछे की ओर से निकलकर हँसते-हँसते खड़ी हुई और उसका छोटा भाई दस वर्ष का नंगा गई पीठ की ओर हाथ जोड़े रवि के पास आकर एकदम सीधे आदमी की तरह खड़ा हो गया। उसकी ओर चुपचाप देखने लगा।

पीछे की ओर से आ गयी बई मलिक की वछिया, चमकदार नाक उठाकर रवि को सूँघने लगी, और उसकी पीठ पर अपनी जीभ धीरे-धीरे बढ़ा दी, वह चाटने लगी।

झोंपड़ी के आगे पोई की बेल से बनी क्यारी टूट गयी है। पोई के झुरमुटे के बीच घूम रही बिल्ली हठात् उसे देख सहम गयी और उधर देखने लगी, एक प्रश्नवाची भंगिमा से।

बई मलिक निवाले पर निवाला ठूँसे जा रहा है, इधर मुँह में भात भरे गों-गों करता बातें कर रहा है।

सामने उसकी यह ढाई कोठरी की छोटी-सी झोंपड़ी। टूटना-फूटना, मरम्मत करना लगा ही रहता है। हलकी-हलकी छाया किये घर और आँगन को ढाँपे खड़े हैं पाँच-सात सहजन के पेड़। उसपर कच्ची-कच्ची फलियाँ लम्बे-लम्बे पतले कीड़ों की तरह झूल रही है, गाँठ-गाँठ पर पीला गोंद और सूँड़ी भरी हैं मानो पेड़

गरम कोट पहने है। पास ही मे केवड़े की बाड, छोटा-सा पोखर, बाँस का झुरमुट और अमराई हैं।

जल्दी से खा-पीकर पान डाला मुँह मे और वहँगी लेकर निकला। तबतक दस मिनट भी नही हुए थे। अखाड़े के बरामदे मे रखी थी रवि की छोटी-सी गठरी, और छोटा सूटकेस।

रवि बोला, "वैसे कोई खास बोझ-वाझ नही है रे बई, मैं ही ले जाता। पर चारो ओर से सोचकर देखा, रास्ते के लिए एक साथी चाहिए।"

"मेरे रहते हुए आप सामान ढोयें ?" बई ने कहा।

बई उसकी ही उमर का होगा, बचपन का साथी। रवि जानता है उसकी ख़ातिर बई पानी मे भी छलाँग लगा देगा।

किन्तु साहस कर बई मलिक को साथ लिये नये रास्ते पर चलते समय पग-पग पर पुरानी माटी का मोह मन को खीच रहा था। बचपन से वह अपने और इस गाँव मे रहा। यहाँ की हर जगह की स्मृति घुल-मिल गयी है। इस गाँव का बहुत कुछ ऋण उसपर है, उतार न सका तिल-भर भी। गाँव के अभावों को लेकर सोचा है, पर कभी कुछ कर न सका।

गाँव से निकल किनारे-किनारे कुछ दूर जाने पर उसका टीसता मन पुनः दृढ़ होकर फिर अपनी सहजता में लौट आया।

लम्बे-लम्बे डग भरता चल रहा है बई मलिक। सुनता रहा रवि की बातें, पर वह बिलकुल ही नही समझ सका कि रवि आज इस तरह क्यों बक रहा है। रवि का उत्साह देख वह भी जोश से भर उठा। और समझे चाहे न समझे, रवि का जी-जान से समर्थन करता हुआ कहने लगा, "ठीक है, बिलकुल ठीक—"

किनारे-किनारे खूब उत्साह में गप्पें मारते चले जा रहे है दोनों युवक। उन्हे न धूप काट रही थी, न रास्ते की थकान ही छू रही थी। टपटप पसीना चू रहा था, अपने सपनो का गढा सस्कार-कार्य चल रहा था जबानी ही जबानी, जल्दी-जल्दी।

"इस पुराने बाग को देखो बई", रवि ने बताया, "जो कुछ यहाँ देख रहे हो सब मान्धाता के ज़माने से लगाया हुआ है। अब यहाँ नया कुछ लगा सकता है कोई, या इसमे कही जगह है उसके लिए ? केवल न फलनेवाले पेड़ ही खडे हैं, वे भी ढग से नही। काटकर साफ कर देते तो ये काठ ही काम आते। पर क्या बूढे-बडे मानेंगे ? कह देंगे किसी ने लगाये थे, रहने दो—"

बई हँस पडा। कहा, "कुछ भी नया करने जाओगे तो लोग आडे आयेंगे।"

रवि ने कहा, "इस पुराने आम के बाग की तरह ही अपने समाज का चलन है, बई ! इस चलन से ही इतने बड़े-बड़े आदमी पैदा होते थे, पर आज सब बंजर हो गया। उसमे जितना कुछ भला है, उसे रख लो, बाकी नये सिरे से गढ़ सके

तब न सबका भला होगा; वरना क्या होना है? जिधर देखो, किसी के पास कम है तो किसी के पास मन। जात-पाँत, छुआ-छूत, दलबन्दी, ईर्ष्या-द्वेष—यही तो है अपना समाज। आदमीयत तो ख़त्म हो गयी; खाली मुरदे पर अतर छिड़कने की तरह बाहर से चिकना-चुपड़ा देखने के लिए कहीं थोड़ी सड़क तो कहीं पोखर...बस इधर-उधर यही कुछ करा देने से क्या होगा?"

बई मलिक ने कहा, "सच बाबू, एक-एक बात सच है! किसका क्या जाता है? दबाव तो पड़ता है हम गरीब आम आदमी पर! सब थोड़ा-बहुत कुछ कर-करा लेते है, हमारी बारी आने तक कुछ नही।"

"यह अवस्था बदलनी पड़ेगी, नया समाज गढ़ना ही पड़ेगा।" रवि ने कहा। धूप, गरमा-गरम बातें, पसीना और ऊसम सब मिलाकर उसका चेहरा कैसा अजीब-सा दिख रहा था। बई मलिक ने प्रकाश में चमकते उसके चेहरे की ओर देखा। नदी के किनारे एक बड़े जामुन के पेड़ के नीचे कुछ समय के लिए ठहरे। थकावट उतनी नही, यों ही बातें करने के लिए। रवि कह रहा था, "सब फटा-फटा दिख रहा है, सबका मन समाज की ओर से खट्टा हो चुका है। क्या होगा ऐसे समाज का? इससे कभी उद्धार होगा?"

बई मलिक ने सहारा दिया, "कैसे होगा उद्धार? यह तो भस्म होगा।"

रवि ने कहा, "यदि सब भस्म होगा तब हम-तुम हैं किस लिए? ऐसे ही अपने जैसे करोड़ों लोग हैं, वे सब चाहते हैं कि कैसे सब मिल-जुलकर सुख से जीयें। किसी का किसी से झगड़ा न हो, मनान्तर न हो। इस तरह के इतने लोग रहते हुए भी यह दुनिया राख होगी?"

बई ने उत्साह मे भरकर कहा, "कदापि नहीं।"

रवि ने कहा, "केवल कहने-भर से नही चलेगा, सोचने से कुछ नही होगा, काम करना पड़ेगा। कौन करेगा? हमी तो। प्रत्येक घर बनेगा ईर्ष्या को निकाल-कर निर्मल करने के लिए एक-एक दुर्ग, हर आदमी होगा शान्ति और मैत्री का अग्रदूत, एक विराट् भाईचारा गढा जायेगा घर-घर मे, गाँव-गाँव में। इस तरह ज़ुबान से कह देने-भर से नही होगा, कार्य मे दिखा देना पड़ेगा, सुख मे, दुख मे, सुख-दुख मे सब आदमी भाई-भाई—"

बई उसके चेहरे की ओर ताक रहा था। तन्मय हो डूबा सुन रहा था। बात का अर्थ समझे या न समझे, वह एक भावना में खो गया था। उस भावना मे आशा थी, उत्साह था, विपुल आनन्द था। मानो मन के गहरे से कोई संगीत गुन रहा था। उसकी एक-एक लहर पर उठ-गिर रही थी उसकी चेतना।

उल्लास मे भर वह चिल्लाने लगा, "वैसा ही होगा। वही होगा।"

रवि ने कहा, "हमें गढ़ना पड़ेगा। सब गाँवों मे, देश भर मे। अपने आप सब ओर से आकर मशालें इकट्ठी हो जायेंगी, अँधेरा फिर नहीं रहेगा।"

देह हिलाकर सिर डुलाकर वई ने उसकी बात का समर्थन किया। दोनों आशावान् युवकों के मन में कोई अवसाद न था। कुछ असम्भव नहीं दिख रहा था उनकी धारणा में, बस केवल प्रकाश, आशा और तेज झलक रहा था।

चल रहे हैं गढ़ जीतने सैनिकों की तरह दो युवक। आँखों में उत्साह भरा है, उन्हें सामने स्वप्न और विश्वास दिख रहा है।

इसी पुराने नदी के किनारे ने देखा है कितने महापुरुष गये हैं इसी रास्ते। जाना खत्म नहीं हुआ, चल रहा है बारम्बार। प्रकाश बुझा है फिर जला है; नदी किनारे की हवा में घर टूटा है, फिर खड़ा किया गया है।

आशा की धारा सूखी नहीं, जीवन के आनन्द के लिए झोंक भी कम नहीं, आदमी इसमें अब भी लगा हुआ है। आनन्द है।

बायीं ओर रास्ता है। किनारे से उतरकर नीचे की ओर चला गया है। किनारे के नीचे अकेले-दुकेले घने पेड़, केवड़े के झुरमुट, जगह-जगह बाँस के झुण्ड, उनके उस तरफ़ ऊँचे टीलों से भरा रास्ता, वहाँ पर बीच-बीच में दीमक की बाम्बियाँ। वहाँ कुछ बेरों की झाड़ियाँ। मोम लगाने की तरह चमकदार ढेरों हरे-भरे पत्ते, उनके ऊपर सफ़ेद फूलों के गुच्छे। जगह-जगह हाथ उठाये नागफनी, पतली हथेली की तरह मोटे-मोटे हरे टुकड़े, काँटों में कदम के-से फूल, नाकों पर कलियाँ, जगह-जगह लाल फूल हैं। एक-एक बाम्बी से लताएँ जाल की तरह लिपटी हैं, रंग-बिरंगे फूल बड़े तरीक़े के साथ सजे हैं। आम के पेड़ से मधुमक्खियों की गुनगुनाहट, कटहल के पेड़ से महक आ रही है। चिड़ियाँ एक-दूसरी को कहती-पुकारती चें-चाँ कर रही हैं, या बदा-बदी कर गीत गा रही है।

फूलशरा गाँव का रास्ता इधर से ही गया है। खेतों के किनारे-किनारे पगडण्डी साँप-जैसी टेढ़ी-मेढ़ी होती चली गयी है।

वई ने कहा, "ये सारी बाम्बियाँ। मानो सभा में बैठे लोग हों। बैठे-बैठे कुछ सोच रहे थे, और फिर बाम्बी बन गये।"

रवि ने उत्तर दिया, "वाल्मीकि ध्यान करते-करते बाम्बी बन गये। कितने ही वैसे हुए। काईपदर जाओ, वहाँ देखोगे एक बड़ा और एक छोटा माटी का टीला है, चन्दन पुता है। लोग कहते है—बड़ा पीर है, छोटा है चेला। वे भी ध्यान करते-करते बाम्बी हो गये।"

वई ने कहा, "यह भी किसी योगी ऋषि के स्थान की तरह लगता है, कितने काठचम्पा यहाँ हैं, और उधर देखो वे मौलसिरी के पेड़।"

रवि ने कहा, "अरे, और कब तक आदमी बाम्बी बनकर बैठा रहेगा? बाम्बी की भी नींद टूटती है। तभी तो बाम्बी की चोटी में सफ़ेद फूल खिले हैं। बाम्बी भी नया जीवन पाकर खड़ी हो रही है। सूखे काठ में भी रस-संचार हो रहा है। अब आदमी के हृदय में ईर्ष्या भी स्नेह बन जायेगी, दुनिया नयी होगी।

उद्‌वुद्ध होकर वई मलिक ने कहा, "सब होगा, मन हो तो सब होगा। कहते हैं, सबसे बड़ा मानव जीवन है। देवता भी तरसते है इसके लिए, पाते नही।"

असख्य ताड के पेड खड़े है, क़तार के क़तार खजूर के पेड। गाये चर रही है। इधर-उधर पगडण्डी होकर कितने लोग आ-जा रहे हैं। बाग की छाया, फिर कड़ी धूप। जगह-जगह दाहिनी ओर के घने बाग के बीच से, बाँस के झुरमुटों की फाँक मे से गाँव के झोपड़े दिख रहे है।

बाते करते दोनो युवक उत्साह मे भरे चले जा रहे है।

रवि कह रहा था, "दुनिया-भर मे हमारे जैसे कई लोग कितने प्रकार से चेप्टा कर रहे है। कैसे सब लोग सुख-शान्ति से रहें, सदा के लिए, ताकि युद्ध वन्द हो जाये। किसी की चमडी सफ़ेद है, किसी की काली, किसी की हलद। किसी का कैसा चेहरा है, कैसी भापा, कैसी पोशाक है। सबके हृदय मे एक उद्देश्य—सवके प्रति स्नेह, विश्वास।"

वई ने कहा, "आदमी क्या बुरा है? सब आदमी अच्छे है। सकल घटे नारायण।"

रवि ने कहा, "स्नेह किये से आदमी होता है आदमी। डर, भय, जीत सका तो मरण को भी जीता जा सकता है। आदमी का जीवन कोई कम सुन्दर है!"

वई ने कहा, "वो आगे दिख रहा है फूलशरा गाँव, जो भी कहें, नाम कितना चुनकर दिया लगता है। और इतने पुराने पेड इस खण्ड मण्डल में न होगे।"

तो, यह आ गया फूलशरा गाँव—रवि की चेतना पर हल्की लहर-सी बह गयी। कुछ हटकर एक ऊँचान पर रुककर खडे है दोनो—रवि और उसकी ही उमर का वई मलिक, एक जैसे दिख रहे है पास-पास। एक गोरा, रवि, और दूसरा काला चमचमाता, वई—खुली देह, तराशे गये-से गँठीले हाथ-पैर, चौड़े कन्धे, सिर पर बालो का गुच्छा भँवरदार, मुड़कर इधर-उधर हो रहे हैं। अपने गाँव बन्धमूल से रवि के साथ-साथ वह चलकर आया है, कन्धे से वोझ उतारा नही, कन्धा भी नही वदला। यहाँ नीचे रख दिया, पसीना टप-टप चू रहा था, सो पल्लू से पोंछ लिया। सिर पर पुराना एक वरगद। पास ही वरगद की जटाएँ जमीन मे खम्भों की तरह कतार मे सटी खड़ी है। पास ही पेड की जड़ों मे सहारा देकर रखी हुई है एक पत्थर की मूर्ति। उसपर बहुत-सा सिन्दूर लगाया हुआ है, सो रूप का पता ही नही चलता। हो सकता है ये किसी पुराने मन्दिर की टूटी सिह मूर्ति का एक भाग हो। या कोई ध्यान वुद्ध हों, नही तो होगी कोई अलसकन्या की मूर्ति या कोई नर्तकी, वृपभ या गरुड़, कार्तिकेय, या फिर दुर्गा की मूर्ति होगी। ये क्या हैं,—उसमे क्या होता है, लोग मानते है कि इस गाँव की वे ग्रामदेवी हैं, गाँव के हानिलाभ उन्ही पर निर्भर हैं। माटी की अनेकों पुतलियाँ रखी हुई हैं वहाँ, मानो वे उनके वाल-बच्चे हों। यान-वाहन भी

रखे हैं, माटी के हाथी-घोड़े, बसे ज्यादा घोड़े ही हैं। पीछे की ओर पेड़ के तने पर भी सिन्दूर लगा दी है, घोंघर में काले कपड़े ठूंसे गये हैं, किस भक्त ने कब पहनाये होंगे। पान-भोग चढ़ाते-चढाते टूटे ठीकरों का ढेर हो गया है सामने। पुराने गाँव की पुरानी देवी, लोग पूछते होंगे, कितनों को स्वप्न-आदेश देती होंगी।

ओझे पर उतरती होंगी। इसी तरह होते-होते उनका एक विशिष्ट रूप, विशिष्ट वेश भी लोगों ने मन ही मन सहेज लिया होगा, कि वे देखने में वृद्धा या किशोरी हैं, नाक में नथ पहनी हैं या दण्डी या गुना। फिर उनकी रुचि-अरुचि के बारे में कि उन्हें कौन-सा पिठऊ प्रिय है, अण्डुरी पिठऊ या पाणि गईंठा, मण्डा या तले काकरे।

उसी रूप को, उसी वशिष्टता का मन ही मन ध्यान कर कितने भक्त मन्नत मानते होंगे। रगुन-कलकत्ता जैसे सुदूर शहर या अपने गाँव बस्ती में या अपने ही चबूतरे पर। बच्चे के जन्म पर, कान बींधने, जनेऊ, ब्याह-शादी के समय और यहाँ तक कि मृत्यु क्रिया की शुद्धि पर वरण हो जाती होंगी ये ही ग्रामदेवी!

उसकी इस गाँव से नये सिरे से जान-पहचान यही से शुरू हो!—रवि हँसते हँसते सोचने लगा। पहले एक-दो बार रवि आया था, पता नहीं कब? आइ. ए. परीक्षा के बाद गरमियों की छुट्टियों में आख़िरी बार आया था। पाँच दिन रहकर गया था। तब इस गाँव में रामनवमी की यात्रा हो रही थी। अनंग नरेन्द्र रचित रामायण की छन्दमाला। ख़ूब सरल और सुललित ढग से हुआ करती। गाँववालों ने निहोरा कर बुलाया था प्रसिद्ध वादक और गायक फेतसिंह को। फेतसिंह ख़ुद पखावज बजाकर जब रामलीला गाते—सारी पोथी उन्हें कण्ठस्थ है—तो सारा गाँव तन्मय होकर सुनता। उनके उस अत्यन्त ऊँचे गम्भीर स्वर में मानो कोई मोहिनी है। सबों का कहना है कि स्वयं रामलीला लेखक कवि राघव बइरिगजन उनके कण्ठ पर प्रसन्न हैं। सोचने पर इस गाँव के कितने दृश्य याद आ जाते हैं। गाँव के उस छोर पर शीर्णा चेरेंगी नदी का किनारा है; लगभग बारह बीघा ज़मीन पर झुरमुटदार जंगल की छावनी है।

गाँव के वड़े पोखरे में, जहाँ इमली के पेड़ के नीचे वह बैठा था, पद्म फूल देख रहा था। अचानक उसमें एक मछली उछल पड़ी। कोई-कोई आदमी भी उसे याद आ जाते। कहाँ रहती है इन सब लोगों की स्मृतियाँ मन में सहेजी हुई। वह सोच रहा था—किसी जगह पर पैर पड़ते ही अपने आप ये निकल आती है।

उस बार वह आया था—बाहरी दर्शक बनकर, अबकी उसका उद्देश्य भिन्न है। वहाँ खड़े होकर सामने दिखते गाँव के सघन पेड़ों की ओर देखा उसने, और साथ ही साथ मन दौड़ गया अपने गाँव बन्धमूल की ओर। पहले माँ याद आयी,

फिर पिता, और बाद में गाँव से याद आ गया पाटेली गाँव में सिन्धु चौधरी के घर का दृश्य। वहाँ किवाड़ की आड में खड़ी उसकी मानसप्रिया, छवि! इन सबको एक साथ मिलाकर इस माटी पर चलता उसका नया जीवन! उसने दीर्घश्वास छोड़ा।

छाया लौट आयी है। कितने ऊँचे और आकाशी दिख रहे हैं इस गाँव के बड़े-बड़े घने पेड़—चकवड़, सिरस, सेमल, बरगद, पीपल। उनकी निचली थाक में दिख जाते है वैसे ही घने-घने आम के पेड़, और पता नहीं क्या-क्या। नीचे से ऊपर तक सारी थाकों मे दिख जाती हैं—नारियल के पेड़ों की फुनगियाँ। नीचे बांस की बनी की दीवार दिख रही है। बीच-बीच में केवड़े के झुरमुट और घनी बाड के घेरे के बीच सकरा रास्ता पड़ा है गाँव मे घुसने को। खेतों की ओर से आकर अनायास उसी रास्ते से घड़र-घड़र करती घुस गयी एक बैलगाड़ी। डाला बंधा है, धूल उड़ती जा रही है।

बाहर, आठ-दस वर्ष के चार बच्चे निकले। दो के हाथ में बाँस की बंसी। एक के हाथ मे टोकरी, और एक नारियल की काँचली लिये है।

"क्यों रे बच्चो, किधर निकल पड़े?" रवि ने आवाज़ दी। बिखरकर लड़के भाग गये।

दोनों हँस पड़े। बई ने कहा, "सारी दोपहर तो धूप में फिरते रहे हैं, ये मन मे धुड़क-धुड़क है। किसी ने आवाज़ लगायी कि बस छू-मन्तर।"

"एक स्कूल होता तो ये दो अक्षर सीखते।" रवि ने कहा, "जिधर जाओ, बस यही सवाल! क्या होगा? बच्चों पर कौन नज़र रखता है? लोगों की नज़र तो बड़े-बड़ो पर है, मतलब, अभी जो है, उसी पर। कल क्या होगा, वह तो बाद की बात है। ठीक है, बदलेगा तो। चलो, चलें। ज़मीदारी के ज़माने का कचहरी-घर तो उस सिरे पर है।"

वे लोग गाँव मे घुसे। वही पुराना दृश्य। थोड़ा-थोड़ा हटकर बस्तियाँ। रास्ते में बगीचा, बाड़ी का घेरा, छोटा पोखर, पोखरी। घर के सामने खुला गुहाल, जगह-जगह मूत, कीचड, गोबर की कुरी। दीवार पर चिपके कण्डे, कहीं पिठोऊ की रेखा। टूटे-फूटे गरीबों के कई मकान। जगह-जगह ढेंकी गड़ी है, कुटाई चल रही है। अनजान आदमी को देख जगह-जगह बच्चे सहमकर पीछे हट जाते हैं। राह चलती स्त्रियाँ सिर पर घूँघट खींचकर मुँह और नाक के नीचे तक मूँदकर पीठ फेर खड़ी हो जाती है।

चल रहा है, चला जा रहा है, वही पुराना रास्ता। किसी-किसी घर के सामने पत्थर की सीढ़ियाँ। हर घर के सामने तुलसी चौरा। गाय बाँधने का खूँटा, रास्ते के किनारे बाड़ी मे अभी भी सूखे गेंदा के फूल कहीं-कहीं खड़े हैं। उसके पीछे पहले रोपे गये बैंगनों की क्यारी, फिर नये बैंगनों की क्यारी, हरी मिरच।

बूढ़े हो रहे भिण्डी के पौधे, एक-एक मुड़ी हुई भिण्डी डाल की नोक पर लगी है। बाड में बासक, कंचन, पालधी के फूल खिले हैं। छुपती-छुपती कहीं से आ रही है नागेश्वर के फूलो की सुगन्ध, और कटहल के फूलो की भी। फूलों से भरे सहजन चारों ओर शाखा फैलाये है, पत्ते बहुत कम हैं, छान पर अभी भी लौकी की लता, सेम की लता लिपटी हुई हैं, सूखने को आयी है, एक-आध लौकी लटक भी रही है। जगह-जगह नाना प्रकार की भगिमा मे नारियल के पेड़, सीधे, तिरछे बांके। बाडी में केले के पेड़।

वही पुराना दृश्य। कितने घर, खाली ढूह, कितनी बस्ती—मैदान। कही-कहीं दह। सब पर ढांप रखने की तरह गांव के स्वभाव की विशिष्ट सत्ता दिखाई दे रही है। भला-बुरा; धनी-दुखी, सब उसी के नीचे हैं।

मानो ऐसे ही चलता आया है युग-युग से, गांव के उस सिरे पर कुछ हटकर ज़मीदार के घर का अहाता है, चारो ओर जगल की तरह फैला झाड-झंखाड़। छान दब गयी, घर की दीवारों का पलस्तर फटा-फटा, बाम्बियां, पेड़, गड्ढे, अहाते के अन्दर इधर-उधर टूटे हुए मकान।

बई ने थूककर मन की बात खोलकर कह दी, "थू! आदमी रहते है यहां?' छान के नीचे बोझ रखकर चारों ओर लापरवाही से नज़र घुमायी।

रवि ने कहा, "यहां मैं रहूँगा अब। तू तो लौट जायेगा। बैठ, पसीना सुखा ले। मैं जाकर देखता हूँ, तुम्हारे लिए क्या कुछ खाने को मिलता है। मैं तो यहाँ रहने के लिए आया हूँ।" रवि जल्दी से चला गया। बई बैठकर पसीना सुखाने लगा। रवि के प्रति स्नेह और कृतज्ञता से उसका मन भर गया। ख़ुद विश्राम न लेकर वह गया है—बई क्या खायेगा यह देखने, ठीक करने। सोचने लगा, सदा वह ऐसे ही उदार रहा है, खुला आदमी, स्नेही। इतना भला, इतना सरल आदमी कही न होगा। बई मलिक जनम से समाज के निचले स्तर पर है, उसे अधिक कुछ चाहिए नही—पेट भरकर कुछ खाना और आदमी के रूप मे कोई उसे पूछे बस। वह भी मिलता नही उसे समाज के लोगो से। 'बई' कहकर भी कोई नही बुलाता, कोई पुकारता तो 'बइया' या 'अबे बइया।' यह व्यवहार उसे जनम से ही सहना पड़ रहा है। बई सोच रहा था, भगवान् ने जिसे जितने में रखा। अपना करम है और किसे दोष दें? सोच रहा था कि इस जनम मे जितनी निराशा है, मन के जितने अरमान हैं, अगले जनम में बडे घर में पैदा होकर वह मिटायेगा, तब तक सबर करनी होगी।

परन्तु रवि की बातों ने उसकी इस धारणा को ही उलट दिया था।

शुरू से ही उसमें रवि के प्रति विश्वास है। उसके जानते वही एक मात्र आदमी है जिसमें जाति-कुजाति का भेद नही, अपने-पराये का विचार नही। तभी तो वह सबका बन्धु है। उसी पर आशा है सबकी। बातें उसके मुंह से सुनने पर

अधिक सच लगती हैं। वई सोच रहा था, मान लें अगर दुनिया में छोटे-बड़े, धनी-गरीब की व्यवस्था भगवान् की बनायी न होकर केवल कुछ लोगों की बनाई हुई है, तब यह अवस्था कितनी भयावह है। कितनी शठता, ठगी, चोरी, डकैती। फिर भी यह पहले से चली आयी है इसलिए सहना पड़ रहा है।

"देखो वई, अपनी देह को देखो, पेट देखो। आदमी होकर भी तुम मन-इच्छा का खाना नहीं पाते, पहन नहीं पाते, यह क्या तुम्हारा कसूर है? नहीं। जो तुम्हारे जैसे गरीबों का ख़ून-पसीना जमा कर बड़े आदमी हो गये है, उन्हीं के कुचक्र से तेरी यह दशा है। एक बात समझ—भात बना है। घर के सब लोगों को खाने को मिले इस बात पर ध्यान न देकर दो-तीन लोग ही यदि सारा हड़प लें तो यह औरों के मुह से छीनकर खाना हुआ या नहीं? दुनिया-भर में धन का बँटवारा भी बिलकुल ऐसे ही है। कुछ लोग अगर मार-पीटकर, छीनकर महल बना लें तो और लोग भूखे तड़पने लगेंगे ही।"

रवि की बात सुनकर वई को लगा कि यदि कोई शत्रु पास होता तो वही पहले उसका सिर तोड़ता। उसे गुस्सा आया है, जैसे नदी में बाढ़ आती है। सरल आदमी के मन मे सन्देह उपजा है! बिन्दु की तरह नहीं दिखता। दिखता है विशाल मेघ की तरह।

नयी दृष्टि से उस धनी बेतरतीब बाड़ी को देख, दांत रगड़ फो-फों सांस छोड़ता वई मलिक कह रहा है—"ठग लिया हमें, ओफ़!" मानो कोई नया आविष्कार कर रहा है वह, अपनी दुरवस्था के साथ पृथ्वी की समाज नीति की तुलनाकर एक नये सूत्र की व्याख्या उसने सुनी है।

उसके मन की उस अवस्था के साथ समान रंग का दिखता है—जतन के बिना टूटे हुए अहाते का दृश्य। बड़ा अहाता, चारों ओर हरी बाढ़ जंगल की तरह उठी है। केवड़ा, थूहर, मेहँदी, रामजड़ा। जिधर चाहे उधर फैल गया है। एक साथ दीख रहा है असामंजस्य, कुत्सा। बाड़ में नाना प्रकार की बेलों की फैली-पसरी गुँथी-सुँथी, पीली अमरबेल, ख़ूब हरी शतमूली, गोल-गोल, लाल-लाल फलोंवाली बेल, घुँघची, खम्भ-आलू आदि की कितनी बेल-लतर पसरी-फैली है? कितने मरे-अधमरे और कितने ताजे हैं। अहाते के अन्दर जगह-जगह केवड़ा और थूहर के गोल घेरे हैं, टूटे-फूटे रामजड़ के पेड़, घुटनों तक की घनी घास, चकवड़, झाड़-झंखाड़। ढहा हुआ एक कुआँ भी दिख रहा है। उसकी पक्की मुँडेर फटकर टूट-टाट गयी है। उस तरफ़ टूटे घरों की कतार दिख रही है। टूटे टट्टर एक ओर ढुलककर पड़ गये हैं, मानो कोई काला-भूरा हाड़ों का ढेर पड़ा है। इधर-उधर झुकी हुई अधफटी दीवारें, जगह-जगह दीवारें ढेर हुई पड़ी हैं। उनपर अनजान पौधे उग आये हैं। बड़ी-बड़ी बाम्बियाँ शाखा फैलाये खड़ी हैं। पास-पास सटकर फूलों से लदे आक, धतूरा आदि के जंगली पौधे। यहाँ-वहाँ बड़े-

बड़े घने पेड़, सिरस, चकवड़, आम और दूर वह पुराना बरगद है। काम लायक दो ही कोठरी हैं। छान पर छावनी हुई नहीं, सारी दीवार में बाम्बियाँ और छेद, चबूतरा ऊँचा-नीचा। दोनों कोठरियों के आगे मोटे-मोटे चौंचदार दो हत्थेवाले दो कुलुफ झूल रहे हैं। मकड़ी के जाले छाये हुए हैं, उसी के सामने, कूड़े-करकटों के बीच से साफ़ दिख रही है पतली पगडण्डी। पुराना बिखरा-उलझा समाज मानो ज़मीदार की उस कचहरी के अहाते में आकर साकार बन गया है। चारों ओर सब कुछ धक्कम-धक्का, रेल-पेल, चढ-पड़ और लुढ़क-लुडकर एकाकार हो गया। रवि से सीखी नयी भाषा मे बई मलिक अकेला बैठा-बैठा चुपचाप देख रहा है; हाथों में चुनचुनाहट हो रही है।

अचानक उसकी नज़र पड़ गयी नीचे की घास-फूस पर जहाँ दो मैना ऊपर ही ऊपर ची-ची करती। चक्कर काट रही है। यहाँ से उड़ वहाँ बैठती हैं, फिर हलचल मचाकर उड जाती हैं। बई मलिक का कौतूहल बढ़ा। वह उठ खडा हुआ। उधर नज़र फेरी तो देखा, घास-फूस मे कुछ हलचल-सी हो रही है। कुछ आगे गया। हाथ उठाये इधर-उधर दृष्टि घुमाकर देखा तो फन फैलाये फूँ-फूँ करता बड़ा-सा गोखर नाग। मानो अपने अभिमान मे और भी फूल उठा है, और अधिक ऊँचा दिख रहा है। आकुल होकर चीख़ती मैना की ओर चोट करता हुआ मानो अपना अस्तित्व जता रहा है—'कि बड़ा मैं हूँ, क्योंकि मुझमे विष है।'

बई मलिक को याद आया—दशहरे पर एक बार वह शहर गया था। घूमते-घामते जाकर पहुँचा एक बड़े सभा-घर के सामने। वहाँ नाना भाँति की साज-सजावट, सटी-सटी चक-चक कर रही मोटर कारों की भीड, एक बडी मोटर से उतरकर सभा की ओर चले एक ऊँचे-पूरे देखने योग्य व्यक्ति। मानो दस आदमियों को मिलाकर गाँव की यात्रा में मच पर रावणेश्वर की तरह मानव-पर्वत चल रहा हो। वे गरदन ऐंठते हुए दर्प से छाती फुलाकर चारों ओर देख रहे थे। बई मलिक देखने के लिए आगे हुआ कि पुलिस की लाठी ठेलती-पेलती हटा ले गयी और तभी बाहर हो-हल्ला मचा। लाठी चली, फिर तो बस वे मैले-कुचैले लोग सिर बचाकर भागे, बई मलिक भी वहाँ से भाग आया और दूर उस आदमी को देखने लगा। फिर क्रोध के जहर से वह तड़प उठा। उसे लगा मानो वह आदमी अपनी दृष्टि द्वारा कह रहा है—

"मुझे देखो, मैं सबसे बड़ा हूँ, क्योंकि मेरे पास सम्पदा है, शक्ति है, और सबसे बड़ी चीज—विष है।"

पीठ सहलाते-सहलाते अपनी वह विषाक्त अनुभूति लेकर अछूत कण्डरा गति का बई मलिक उस स्थान से लौट आया। अब अर्द्ध स्मृति में अपने अवचेतन मन के अन्दर अनुभव कर रहा था—सचमुच, यह जन्तु वही है। पास पड़े हुए पुराने

मोटे बांस के टुकड़े को उठाकर बई मलिक ने आगा देखा न पीछा और आगे ब

गया। मस्तिष्क में एक ही गूंज—वह मारेगा। 'मैं'पन के इस विराट् बुलबुले को
फोड़ देगा। पहले ध्वस, फिर जो होना हो सो हो। पहली चोट खाकर सांप
उछलकर आक्रमण करने बढ़ा। पर उस नाचते, उलटते, सीधे होते उलटे-सीधे
सांप को मारता रहा वह हुण्डा आदमी—बुनियादी आदिम मानव! सिरस के
पेड की डाल पर बैठी दो मैनाओं ने हुलहुलि दी, गोखर सांप का वध हो गया!
बई बांस के सिरे पर मरे सांप को झुलाकर खड़ा हो देखने लगा। उसमे बच्चों
की-सी ख़ुशी भर गयी। उसकी इच्छा हुई, किसी के गले में लटका देता इसे।
किसके गले में? याद आ गया एक-एक चेहरा, गांवो के प्रेत जैसे लोग जो गरीब
मजूरो-मिहनतियो पर चरते-फिरते खटमलों की तरह नाता-गोता, वश-कुटुम्ब
बढ़ाते है, कहलाते है बडे आदमी, अछूत गरीब-दीन-दुखियों को अस्पृश्य समझकर
अवज्ञा की नज़र से देखते है, उन्ही में से किसी की गरदन में झुला देता इस मरे
सांप को। हो-हो कर वह ठहाका लगा बैठा। सांप को सँभाल कर रखा, रवि को
दिखायेगा।

आखर की धूप चमचमा उठी। बई मलिक ने नये दृश्य की ओर मन लगाया।
यह घास-लत्तर, उजाड़, सूना अहाता कितना सुन्दर दिख रहा है इस चमचमाती
धूप के रग के स्पर्श से, मानो मरा हुआ जी उठा है, और चारों तरफ़ भांति-
भांति के फूल खिल गये हैं। सिर नीचे किये दो हाथ की ऊँचाई पर बेशुमार
तितलियां उड रही है। सब फूलों की मिली-जुली महक का अनुभव हुआ। नज़र
चली गयी कचहरी के अहाते में सामने गुलमुहर पर। फूल भरे हैं, इधर-उधर
गुच्छे के गुच्छे फूल लदे हैं, फूलों की कलियां भरी है। अचानक उसकी चेतना मे
आया—यह पृथ्वी मरी नही, जीवित है, यद्यपि यहां झाड़-झंखाड़ हैं, यहां सांप
हैं, गोधि हैं। जीवन से स्वाद छूटा नही, अब भी है। यद्यपि जीवन अभाव, अत्या-
चारों से क्लिष्ट है, पीड़ित है, पर अंधेरे में प्रकाश है, अमंगल में श्री है। करने से
सब सोना हो जायेगा।

गांव को लौट जाने की बात वह भूल गया है।

रवि आ पहुंचा, साथ में नन्द तहसीलदार, झुका हुआ बूढ़ा आदमी, माथे
पर जैसे सन, चेहरे पर गड्ढे ही गड्ढे, नाक की नोंक तक खिसक आया है पतला
चश्मा, अपनी पहचान की तरह कान मे कलम खोसे है, तकिये के खोल की तरह
डोरिये की क़मीज डाले है, बटन नही हैं। छाती पर सूखी लकड़ी की तरह हाड
दिखा रहे हैं, गले मे माला। कूदते-से चल रहे हैं, एक हाथ में चावियों का मोटा
गुच्छा है, दूसरे में मैले गमछे में बँधी एक पोटली जैसी कुछ। दोनों बातें करते
आ रहे हैं।

नन्द ने कहा, "जी, आजकल तो ज़माना ही बदला हुआ है। उसपर ज़मीं-

दारी जाने के बाद की अवस्था, और फिर ले-देकर जो कुछ ज़मीदारी थी, वह बस यही गांव ! प्रजा लगान देगी नहीं, भाग मांगने पर लाठी उठायेगी—मैं तो वैसे ही पडा था । क्या करूँ, तनख्वाह न मिले न सही, सत कैसे डुबो दूँ ? और फिर दुरवस्था पर मेरा क्या वश है ? यहां तो और कुछ नहीं, बस थोडा धान है । ज़मीदार रुपये भेजते तो इस सबका संस्कार होता, और बस भेजते-भेजते तो ज़मीदारी ही उठ गयी । फिर हिस्से के धान का आजकल क्या भरोसा ! किसी वर्ष इन्द्र ने दया की तो किसी वर्ष बँटाईदार ठेंगा दिखा गये । यही तो हाल है । घर तो देख ही रहे हैं । आप यहां कैसे रहेंगे ?"

रवि ने कहा, "मैं यही रहूँगा ।"

बई मलिक ने बहुत आग्रह से सांप दिखाया । रवि चौककर चीख़ता-सा बोला—"यह क्या ?"

नन्द को कोई आश्चर्य नहीं हुआ । कहा, "ये सब तो यहां बहुत हैं । गाय-गोरू को काट लेंगे इस डर से तो लोग इसके अन्दर जानवरों को भी छोडते डरते हैं। मार दिया ! आज गुरुवार है न, ठीक है—सांप को देखते ही मारना !"

रवि ने कहा, "बई, कलेऊ आया है, यह चिवड़ा-केला खाकर जल्दी लौट जाना । देर बहुत हो गयी है, पहुँचते-पहुँचते रात हो जायेगी ।"

बई ने अवज्ञा दिखायी। फिर कहा, "कौन घर जायेगा । हूँ ! यह झाड-कांटे, यह वन, ये सांप, यह उजाड, ख़ुद यहां रहोगे और मैं घर चैन से लौट जाऊँगा ? तुम्हें यहां अकेले छोड़कर एक कदम भी नही जा सकता । और चाहे जो कहो करूँगा, बस यह बात नही होगी ।"

"अरे, भई, मुझे यहाँ कुछ दिन लग जायेंगे—"

नन्द ने मुँह बिचकाया । बई ने कहा, "मेरा वहाँ कौन-सा नन्हा बच्चा दूध पीने को रो रहा है ?"

सब हँस पड़े ।

बिना बुलाये मेहमान अनाहूत आया था—बादलों-भरी अँधेरी रात में । सुबह वह चला गया । दिन उगा, फिर आया-गया । कई दिन छवि की चेतना मे बना रहा अँधेरा । खाँ-खाँ रट लगाये गहरी साँसों मे वह चली उसके जीवन की अभिव्यक्ति । ख़ुद को सूने में खींचकर जब वह अपने अन्तर के संगीत की ओर कान लगाती तो वहाँ केवल सुनाई पड़ता—वेदना के स्पन्दन के आकुल संगीत गुनगुन । आशा बढ़ते-बढ़ते निराश होने की ध्वनि का समन्वय, केवल लौट जाते धीरे-धीरे दूर चले जाते पैरों की ध्वनि, हवा में घुलकर पतली पड़ती बुझती

गुकाठी की धीमी-धीमी धुआइन गन्ध, पूरा हो जाने के बाद गिरते पर का दृश्य, और फिर किसी नानी की कहानी में आखिरी बात—आया था, चला गया, राजा का बेटा, फिर आया नहीं।

पहले उसके चारों ओर इस धरती पर ही था प्रकाश और आनन्द। यह घर, पिता, माँ। थोड़े ही सही, उसके कुछ संगी-साथियों का मिलन। आनन्द था इस स्नेह पगे जीने में। देखने, खेलने, खाने-पीने, काम करने में। सब जगह उसके आनन्द के लिए उपकरण थे। उसके बाद आँखें चार हुईं, उसके बाद उसकी निभृत चेतना से जाग उठी एक और दूसरी छवि, एक व्यक्तित्व उसके मन के अनजाने में। गिर पड़ा अँधेरे तले, मानो जैसे पहना हुआ पुराना कपड़ा धीरे से खिसक पड़ता है। उसके बाद उसे जो प्रकाश मिला, वह पहले से कहीं सुन्दर, कहीं सरस था। उसमें बहुत अधिक पूर्णता थी, शक्ति थी। एक स्तर से कितनी जल्दी वह बढ़ गयी थी दूसरे स्तर होकर। मन में थी अपार आशा, आनन्द, स्नेह, करुणा। किस सिलसिले में नाना प्रकार की विचित्र मुद्राएँ खिल उठती थीं। मानो वह एक चिरन्तन समुद्र का ही दृश्य है, अलग-अलग क्षणों में सदैव नवीन-नूतन। सदा पूर्ण और सुन्दर।

भविष्य और जीवन की योजना के साथ मिलाकर उसने कभी हिसाब नहीं लगाया था; घटनाओं की समष्टि के विचार से जीवन को कभी नहीं देखा-समझा था, केवल वह बढ़ता गया था और बढ़ गया था।

बात कहते-कहते स्वर में कोई मोड़—हवा में खोने से पहले सुननेवालों को वह स्वर चौंका देता, उस दृष्टि पर पोत देता हलके से कोई नया रंग। चाल-चलन में अचानक कोई नयी भंगिमा खिल उठती। आँखों में कोई चित्र झाँककर फिर छुप जाता। कभी गद्गद होकर बह जाता खुली हँसी का झरना, फिर रुक जाता। वहीं कभी अस्थिर व्यंजना प्रकाश करता केवल सूचना से, कि यह मूर्ति अन्दर जाग रही है, चिन्मयी जाह्नवी की पवित्र धारा—युग-युग से सृष्टि करती आयी है और करेगी।

चुलबुलाती बयार की तरह बार-बार तैरती आती बाहर की खबर। खिलते फूल के चारों ओर पंखुड़ियाँ मानो धीरे से कड़ी होती जाती। रवि आया और गया, एक प्रचण्ड चमक से खिलकर फिर मुँदने लगा अपने परिचित मन के प्रकाश की परिवेष्टनी आशा और फिर प्रकाश मरता-मरता-सा लगा, उदास होकर छवि अपने अन्दर देखते-देखते सहम गयी।

किसी के घर दस घरों की लड़कियाँ जुटतीं उस दोपहर में, हँसी, ठट्ठा करतीं। पैरों के नूपुर, चूड़ियों की खनक सुनाई पड़ती और 'पुची खेल' चलता। 'पुची रे पुची जा रही है पुची (सरकी)।' कोई महीन आवाज में दबे-दबे स्वर से बहू का ससुराल जाते समय का रोना रोती, मुँह ही मुँह में रचित हो जाता गीत,

झूठ-मूठ का रोना, रोते समय सचमुच आँखें भर आतीं। देखा-देखी जितना अन्य लड़कियां मिलकर बहू का रोना रोती—दस मुंह से दस गीत बनकर अनलिखे ही बढ़ते जाते, हिचकने की मात्रा बढ़ जाते ही कोई दौड़ी आकर किवाड़ धड़-धडाकर कहती, "बस हो गया, अब खत्म करो—", लजाती-सकुचाती सब हँस पडतीं। आँखों से आंसू पोंछते समय और भी खिलखिला पड़ती।

गाँव की पंगत से छवि डरी-सी बचकर रहती। काम पूरा कर, पैर पसार, एक साथ बैठकर गांव की बहू-बेटियाँ सारी दोपहर हँसी-ठिठोली और आलोचना में बिता देती। कोई किसी का बाल सँवार देती। बारह घरों की बातें छिड़ती। मगर छवि वहां नहीं रहती।

छवि वहाँ नहीं होती।

घर मे तीन जनों की रसोई कोई बड़ी बात नही। मां, खुद चाहती साथ लगकर सारा काम कर डालें। कहती, 'तू जा थिर होकर बैठ, कौन ज्यादा काम है? समय काटने के लिए घर-द्वार का काम छोड़कर उसकी और कोई योजना नही। *वह जब शुरू होता कुछ समय कट जाता। बड़ी बनाना, गुण्डी (पान मे* डालने के लिए तम्बाकू) तैयार करना, पीठा बनाने के लिए उड़द-चावल भिगोना, पीसना, नारियल का कोर निकालना, सारी व्यवस्था करना, धान उसनना, सुखाना, कूटकर चावल निकालने के काम में मदद करना—ये ही सब तो ये घर के ख़ास-खास काम। बल खरच होता, समय जाता। पर रोज़ नही होते ये सब।

देहात मे और बहू-बेटियों की तरह उसके लिए भी एक प्रधान समस्या होती—दोपहर को समय कैसे काटा जाये—इसका उपाय खोजना।

तब माँ कहती, "ख़ाली इधर-उधर क्यों हो रही है छवि, सो ले घड़ी-आध घड़ी!" आलस लगता, किन्तु चाँव-चाँव-सा लगता। उस अवस्था मे नीद की कोई उम्मीद नही होती, बहुत अधिक क्लान्त हुए बिना।

पिता सूत कातने का उपदेश देते, और भागवत पढ़ने को कहते।

छवि अभ्यास करती, परन्तु रोज़ नही। मन नहीं लगता।

और इसी कारण वह सुन्दर-सुन्दर चीज़े बनाती, किन्तु उसके लिए आवश्यक सामग्री लाने को पैसे नही। जितना मिलता उतने से ही उसका काम होता। बडी के लिए पीसी गयी दाल से वह मेंढक बना देती, लाल गुंजों लगाकर उसकी आँखें बना देती। रंग-बिरंगी छोटे-छोटे काँच की मालाएँ गूँथकर उसने थैली बनायी है, बटुवा बनाया है। कलम-पेंसिल पर काँच की मालाएँ गूँथकर उसे सुन्दर रूप दिया है। मछली के कैंचुल इकट्ठे कर उनसे उसने मुर्गे और मयूर गढे है, इन्द्रयव के बीजों से थैला बनाया है, छोटी सफेद गुंजा के हार, सरकण्डों के बक्से, पंखे, फटे कपड़े की किनारी से परदे, तकिया के खोल बनाये हैं, गुंजा

और ख़स के रंग-रंगीले पंखे बनाये हैं, ताड़ पत्र, गुंजा आदि से,—उनमें रंग भरे हैं, झालर लगायी है, उस पर कलाकारी की है। एक टूटी पिटारी उसकी बनायी चीजों से भरी है। खोलने पर दिखता, नाना रंगों का समावेश, मानो अपना हृदय ही खोल दिया हो।

उस रात के बाद उस काम से भी मानो उसका मन हट गया था। हाथ मे एक अधबनी गुडिया थी, अन्दर पुआल, ऊपर कपड़े की सिलाई, रंग-बिरंगी मालाओं की पोशाक से सजी-धजी। रवि के साथ भेंट होने के बाद किसी दिन उसे शुरू किया था। उसके लिए कपड़े और सीक की छतरी बनाकर रखी है, बारीक कांच की मणियो से गुंथा आलट चंवर बनाने के लिए पुरानी चंवर मुण्डी अलकार लाकर रखे हैं, फिर जाकर वह गुड़िया पूरी बनती। फिर उसका जी भरकर अभिषेक करती, और खेलती उसे लेकर। पर वह सब कुछ रुक गया है।

दोपहर मे मुँह ढाँपे पड़ी रहती तो लू के समय गरम हवा में दूर से उसकी आवाज ही सुनाई पड़ती, क्लान्ति से देह और मन में आलस भर आता। वह राह नही तकती।

सूँघते-साँघते गांव की कोई बहू-बेटी घूमने आ जाती। उन्हें देखते ही उसका अंजुरी-भर रक्त सूख जाता। माँ या गुरु की माँ किसी एक को साथ किये बिना उसका जी में जी न आता, यद्यपि उन्हे देखते ही वह विनय से हँसती, बँधी बातों से स्वागत करती। कहती—"आज कैसे पधारी ? अहो भाग्य !" और वह चटाई बिछा देती, पान लगाती, बातचीत करती।

तभी वह सुनती अयाचित सहानुभूति—"अहा ! छवि की माँ, छवि इस तरह क्यों सूखती जा रही है ? सच रे ! कैसा रूप ! क्या हो गया ? मुई यह क्या...?"

"मानो किसी की नज़र लगी है रे ! जीजी, आदमी हो या पेड़-पौधा, या कोई जीव-जन्तु हो, छनछनी हो बढ़ जाता है, फिर किसी की लगती है नज़र, और सूख जाता है। तुम किसी को दिखाओ !"

"अरी, खाली नज़र की ही क्या कहती हो। जीजी," दूसरी कहती, "नज़र तो बाड़ी मे क्या, चारों ओर है। सब पर नज़र पड़ती होगी। सब न सूखकर एक क्यों सूखें ?"

"नही रे, पगली ! सब जाते है रास्ते ही से पर नजर किसी एक को ही तो लगती है। देवी किसी एक को ही तो पकड़ती है। चुड़ैल किसी एक को ही लगती है। अरी, उस 'भूतकेली' किताब मे क्या नही लिखा है ?"

चर्चा इस तरह यमक मे पहुँचती तो छवि जैसे चेतना-शक्ति खोकर सिर नीचा किये बैठी रहती। पान का डण्ठल तोड़कर नीचे लकीर खींच कोठी बनाना भी भूल जाती। छवि की माँ बदलने की चेष्टा करती। गुरु की माँ पीठ मोड़ लेती, नही तो और किसी के घर की बात उठाती। परन्तु जो लोग बात कहकर चोट

देने ही आतीं, वे भूलती नही। कहने की बात कहकर बाहर अपनी बहादुरी बखानती।

चर्चा चलती—

"आदमी क्या यों ही सूखता है ? रोग नहीं, बैराग नहीं, यों ही...?"

"अरी जीजी, कैसी बात कहती हो ? ख़ाली, शून्य ही में कुछ होता है कभी ? उसमे कोई बात 'होगी। पर किसी के मन की बात कौन जानेगा ? बाहर तो, भई, सब सुन्दर दिखते है ! यह चाम का ढक्कन बहुत चमकदार है, लेकिन भीतर ? भीतर घुसे कौन, बता ?"

"और ज़माना तो देख ही रही हो ? कलजुग आकर पूरा होने को है। कहावत भी तो है कि रात बीतते निशा ज्यादा गरजती है। अँधेरा बेसी गाढा होता है। वैसे ही। इस ज़माने में बेसी विघटन, अब न कोई मान्य है ना मान्यता। अब तो जिसे जो भाता है। चोरी-छुपे—"

"काला बाज़ार—"

"जो भी कहो, काला बाज़ार घिरा है सारी धरती पर। नहीं तो इतनी बड़ी बात, पहले ज़माने मे कहीं सुनी थी ? अब लड़के-लड़की अपना मनचाहे काम करेंगे, जिसका जहाँ जाने को मन होगा, जाते हैं, अगर किसी ने भला सोच कुछ कहा, वह हुआ बुरा। पर बात यह है कि तुम्हारी राय मानता कौन है ! अपने रास्ते वे जायेंगे ही, बीच में तुम पहचानी जाओगी। बेदी-ब्याह गया, बह गया। बस, घर से भागकर रजिस्टरी ब्याह कर रहे हैं। वह भी न करो तो कौन पीट रहा है ! आजकल ज़माना क्या हो गया, सच ! एक-एक कर कितनी घटनाएँ गिनाऊँ, बता। हेई, सुन—"

बात की पेटी खुल जाती। किसी ऐसी की बात जो उपस्थित नहीं कि प्रतिवाद करे। कोई एक बात कहती तो दूसरी दो बात उदाहरण-उपाख्यान सहित जोड देती। बस्ती की औरतें ठहरी वे, समाज की रीति-नीति के बारे में चर्चा करने का उन्हें अधिकार है, करेंगी। चल पड़ीं यों ही प्रसंग से दस बातें। मुँह के पास मुँह जोड़कर, निगल जाने की तरह, आँखें बड़ी-बडी कर बैठी सुनती होतीं बेटी-बहुएँ। हाँय-फाँय करता मन कम से कम कल्पना में ही चर-फिर आता होगा, बाहर ही बाहर से, अपने पैरों में चाहे बीस मन की रीति नीति छंदी हों। मुँह मे पान होने पर भी जबड़े चलते न होंगे, बहने की तरह आँखों से रोशनी उच्छरित होती होगी। कहानी पूरी होने पर दीर्घ निःश्वास, आकाश में नारंगी लाल बादलों को देखते-देखते वहाँ कोई आधी चीन्ही, आधी भूली गाँव-गली की छवि दिखती। अपने मन के गलियारे से उठकर बढी होती मनचाही चीज़। अचानक वह छुन गयी, अँधेरा पड़ गया। उठकर जाते-जाते मुँह पर निन्दावाद की ध्वनि—"छी कर ! छी कर !" "कहो मत वह बात !" "छिः छिः, क्या कर रहे हैं

ये लोग !"

इस गाँव की माटी से तो सब हुए हैं; यहाँ न कोई बड़ा है, न छोटा। गाँव के चारों ओर जो सौ साल पुराने बरगद हैं—बेटे से पोते, पोते के पोते हो, इसकी जटा से वह गाछ, उसकी जटा से वह गाछ—इसी तरह कुटुम्ब बढ़ाये हैं। इसी तरह इस गाँव के सारे पुराने घर भी, ब्राह्मण से डोम तक सभी। सबने सबको नये घूमते देखता है। उन्होंने देखा है, कब किसकी छान साफ़ कर नयी बनायी गयी है और कब किसका घर ढहकर पानी में बह गया है और कूड़े-करकट पड़े रह गये हैं। इस गाँव के कितने परदेस में जाकर बढ़े हैं और फिर घटते-घटते थाकर फिर इसी धरती पर नये सिरे से लगने की कोशिश की है। युग-युग में इन मटमैलों की रुचि-अरुचि को लेकर गाँव में राय बनी है, वह है सम्मिलित समाज का मत। वर्ष-भर के पुण्य, पर्व-त्योहारों का जंजाल, रोज सुबह-शाम ठाकुरजी के पास जय-जयकार, सन्ध्या के समय तुलसी के पास सन्ध्यादीप। घर-घर में चहल-पहल, अच्छे-बुरे में पूजा-पाठ...सब वही एक ही बात है कि पुराने गाँव की अपनी एक अलिखित नीति है, एक विराट् संविधान है, अनन्त समय का दबाव और तपिश से वह पगा है, अनगिनत घर-गिरस्तीवाले लोग अपनी जिन्दगी जीने के साथ-साथ उसे गढ़ रख गये है। अकेले आदमी की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, मतामत से बड़ा है वह, यह मानना पड़ेगा।

परन्तु उसमें भी था अपने स्वार्थ को पीछे छोड़ सबकी मंगल कामना को सामने करना, आप नष्ट हो जाये तो कोई बात नहीं, बस दूसरों का भला हो, उसमें था—इस गाँव-भर में कोई भूखा न रहे,' जैसे किसान को जमीन मिलेगी, और मजूर को मेहनताना। लुहार हो, कुम्हार हो, जो जिस धन्धेवाला आदमी है वह उसी धन्धे से बना घर-गिरस्ती चला सकेगा। उसमें था पालतू जानवर हो या गाँव का आदमी, अपाहिज हो जाये तो उसके जीने की व्यवस्था की जाये, दुर्बल के लिए गाँव-भर से सहायता मिलेगी, किसी की छोटी से छोटी ज़रूरत तक की कमी न रह जाये, भेद-भाव छोड़ गाँव-भर एक घर की तरह एक दूसरे को ले-देकर सुख से रहेंगे, ठाकुरजी की पूजा के समय, पितृ पुरुषों का तर्पण करते समय मन में रहेगा आत्मविश्वास-भरा निवेदन।

"इसी गाँव का आदमी हूँ मैं, नीति को गिराया नहीं सँभाले रखा हूँ, अतः मैं तुम्हारा उपयुक्त दायाद हूँ, तुम्हारे धर्म का अधिकारी हूँ।"

गया वह आदमी! मिट्टी के नीचे कितनी गहरी पर्त के नीचे दबी पड़ी होंगी उसकी हड्डियाँ। उसके चावल कहीं काले-काले अंगारों की तरह माटी के साथ मिल गये होंगे। उसी माटी के नीचे कहीं बिछी पड़ी होगी उसकी सती पत्नी की रक्तप्रवाल की कण्ठियाँ, हाथीदाँत की माला, मोती-हार, रंगीन मिट्टी के अलंकार, कर्णफूल, कहीं पड़ी होगी उसकी घर-गिरस्ती की लाख उलझनें। तुस से भरी बेंत

की पिटारी में, जो लोहे के सन्दूक में अच्छी तरह से बन्द हो किसी गहराई में गाड़ी गयी होंगी सौ-सौ साल पुरानी ताड़पोथियाँ, उनके शास्त्र, उनके इतिहास। और ऊपर सिर्फ रह गये हैं हँसी-ठिठोली करने के लिए एक-आध मन्दिर, जो कहता है—क्या थे क्या बन गये ! पुराने के साथ नये को रखकर तोलो, और आँखें फाड़-फाड़कर देखो, देखते रहो।

उसी पुराने को सिर्फ सिर झुकाकर आदमी दिन काट देता है। मुँह पर एक-आध अविश्वास का मन्तव्य, उस अपने अतीत के प्रति सम्भ्रम। वह दिन गया, और हमसे वो नहीं होगा।

कर्तव्य की बात भूल चुका है, अधिकार छूटता नहीं, पराई बात में दिमाग़ लगाकर मुँह की भड़ास मिटाने की बात। अतीत के हस्ताक्षर को सिर झुकाने की तरह इस गाँव का आदमी भी सिर झुका चुप रहता है। अतः उनकी बातें सुननी ही पड़ती हैं।

और तभी टेढ़ी-मेढ़ी खड़ी होकर फरसा फेंककर मारने की तरह किसी के ताने—"कितनी शान्त, धीर है, कितनी भली है, तुम्हारी छवि ! छल-कपट कुछ जानती ही नहीं, यहाँ से हज़ार कोस रहती है वह। यहाँ इतनी बातें हुईं—देखती हो उसे यहाँ ? ये सारी बातें सुनेगी वह ! वह और उसका काम, और किसी बात में उसका मुँह खुलेगा भी नहीं। उसे जो बहू बनाकर ले जायेगा उसके तो भाग ही समझो। जो कहो, बच्ची मन से हार गयी लगती है। मानो मन में चैन नहीं। क्या हो गया है इसे ? कहाँ पहुँच गयी ?"

गाँव की लुगाइयाँ ! इन्हें कहने का अधिकार है।—तुम इनकी बात लो चाहे न लो। जिनकी उमर बढ़ गयी, बाल पक गये, गाल गुठली बन गये, उनका अधिकार मानो एक सीढ़ी और भी ज़्यादा है।

"अरी छवि की माँ, मेरी बात मान, अरी अभी खाली क्या बैठी हो, बेटी को कहीं ब्याह दो न !"

कोई कुछ भी कहे, उन्हें हँसकर ही लेना होगा। बिछौना डालकर बैठाना होगा, उनके लिए समय ख़रचना होगा। पान बनाना होगा, वे कहेंगी सो सुनना होगा, सहना होगा।

घर में काम करते-करते छवि के कानों से टकराता। कान खड़े हो जाते, आँखों से धार छूट पड़ती। इस घर के मरे-जाये किसी की ज़बान से दो शब्द नहीं निकलेंगे, आज मन्तव्य देते समय उनके मुँह से पैने बाण छूट रहे हैं।

"दो, बोझ उतार दो, अब देर क्यों ?"

"दस-बारह में कन्या दान। नहीं तो पन्द्रह, और नहीं तो सत्रह में ज़रूर। नहीं तो क्या बूढ़ी होने तक बैठाओगी ?"

"फिर भी आदमी चेष्टा करता है, थिर होकर हाथ पर हाथ धरे, बैठने से

क्या होगा।"

"रिस्ता लेकर तोड़ती रहेंगी या और कुछ !"

आँख मूँदे चलो, भाग मे होगा तो सही जगह पैर पड़ेंगे। राजकुमारी की बात सुनी नही क्या ? तीन कौड़ियाँ लेकर अगम्य वन में उसने क्या नही कर दिखाया ! बोला—'एक मे भारी, दूजे मे तारी, तीजे में घर-दुआर करी।'"

"बिशलपाड़ा के जोगी महान्ती के बेटे भगिया के बारे में सम्बन्ध की बात आयी थी ? दूज वर है, पर उससे क्या होता है ? स्त्री को मरे आज पाँच बरस हो गये। दो बच्चे छोड़ गयी थी सो वे कोई गोद के या दूध पीते तो है नहीं जो इसे उनका गू-मूत करना पड़ेगा या पीठ पर लादे फिरना पड़ेगा। वे काम में हाथ बटायेंगे। भगिया कितना भला है, कितना घर-बारी है, ज़मीन-बाड़ी सब तो वही सँभाले है। माँ शीतला ज़रा छीट गयी है, एक आँख लेकर उमर देकर चली गयी। जो जिस समय घटता है न, तब कोई बस चलता है किसी का ?"

"खाली आँख ही नही री, एक पैर से भी ज़रा लँगड़ा-लँगड़ाकर चलता है।"

"हाँ-हाँ, चुगना है तो चुगते रहो, सारी कमलिया में बाल ही बाल भरे हैं। जमीन बाड़ी तो है, खा-पीकर साल-भर गुज़ारा हो जाता है—और फिर दरकार भी क्या है ?"

"और नही तो उदैपुर के शतमन् कानगोई के बेटे की बात ही क्यों नही लेती ? कांगरेस मे मिलकर काम करता था सो जेल भोगने चला गया इसीलिए अधिक ऊँची पढ़ाई नही कर सका। फिर भी क्या हुआ ? आज गाँव से चलता है तो उसके पीछे-पीछे बीस आदमी निकलते हैं। जहाँ जाता है लोग 'बीरबाबू' 'बीरबाबू' करते है। पूछते हैं हमारा अमुक काम कराया ? मन्त्रीजी ने कहा ? मुन्शी बाबू भी आते-जाते प्रणाम करते हैं। देखना, वही उठेगा ऊपर। ठहरो, दो ही बरस में रुपयों का ढेर लगाकर कोठी खड़ी कर लेगा। समझ लो।"

"यदि जमीन-बाड़ी खोजते हो तो मधु पधान के बेटे जगबन्धु के बारे में सोचते क्यों नही ? दो बेटी ब्याही, करण घराने में, बड़ी बहू लाया है करण (कायस्थ) के घर से। वह तो बाट देख रहा है। इधर चास, उधर व्यापार, आज के दिन देखो कहाँ जाकर कहाँ पहुँच गया ! आजकल जात-पाँत को कौन पूछता है ?"

उपदेश ! उपदेश ! सीख ! सीख ! हाथों से न मारकर सीख की मार से जीते जी गाड़ डालना चाहती हैं सब !

दुनिया लगती, मानो उपदेशों की ही भरमार है। लोग चले आते धर्म प्रचारक का उत्साह लिये, उपकार करने के ढोंग रचाकर। हम उपकारी मित्र हैं। सो हमारा उपदेश ग्रहण करो, वरना पड़ो चूल्हे के बीच ! छवि दूर से

ब्राह्मण मध्यस्थ दिज आचार्य पाटेली गाँव आये थे अपने कार्य की सफलता के बारे में निश्चिन्त होकर। देन नहीं, लेन नही, न कुण्डली शोधन, कुछ भी तो नही। कन्यावाले क्या कहेंगे, उलटे वर के घर से प्रस्ताव लेकर आया है। कन्या ग़रीब घर की है, वर के घरवाले कुछ हस्ती रखते है। इसमे और सोचने की क्या बात है ?

उनकी सारी सम्भव कल्पनाओं पर एक प्रचण्ड चोट कर मधुर हँसी में सिन्धु चौधरी ने जब अपनी असहमति सुना दी, तब मुँह 'आँ' किये रह जाने के अलावा और कोई उपाय न था।

"कह देना, मै राज़ी नही हूँ।"

बैठे-बैठे चरखा घुमा रहे थे सिन्धु चौधरी। सब कुछ सुनकर इतना-भर कहा। पीठ फेरकर उनकी स्त्री घर के अन्दर चली गयी।

सिन्धु चौधरी ने कोई सफ़ाई नही दी, उनकी आदत, रीति, नीति, ज़रा भी नही बदले, बिलकुल पहले की तरह, मानो कुछ हुआ ही न हो। तमतमायी हुई पत्नी घुमा-फिराकर छवि के ब्याह की बात छेड़ती हुई चोट कर रही है। अफ़सोस के मारे कभी रो पड़ती है, कभी रूठ जाती है। बेटी सूखती जा रही है, मन मे ज़रा भी खुशी नही। अवस्था समझ दुनिया हो-हो हँस रही है। पत्नी चोट कर रही है। फिर भी सब कुछ न सुनने की तरह चरखा चल रहा है, भागवत की पढ़ाई चल रही है।

छवि की माँ को अचानक सिर चकराने की बीमारी ने आ दबोचा। छाया ढलने की वेला। बैठे-बैठे ही धड़ाम से गिरकर अचेत हो गयी। घर मे रोना-धोना मच गया। मुँह पर पानी के छींटे देकर माथे पर शहद-नीबू का रस मिलाकर लगाया तब जाकर कुछ समय के बाद होश आया। तब तक उसे फ़र्श पर लिटा दिया गया था। छवि पास बैठी है। ख़ुद सिन्धु चौधरी पखा झल रहे हैं। हँसकर पूछा, "क्यों, ठीक तबीयत है अब ?"

मुँह के पास झुककर 'माँ-माँ' कह छवि आवाज़ दे रही है, गुरु देख रहा है। गुरु की माँ लम्बे घूँघट के अन्दर से झाँक रही है।

"पान क्या निगल गई कि अचानक सिर चकराने लगा।" छवि की माँ ने कैफियत दी, "ओह, कैसा तो लग रहा था ? जो हो, अब और कुछ नही। ठीक

तो एक अपने लिए भी ले आयें।"

"ठाकुर झूला झूलने जायेंगे अतः पालकी की धुलाई-पुंछाई हो रही है। बिना कह रहा था, अबकी होली पर फोडदारी होगी, अपने पिता से सुना था। फोड़-दारी क्या ? हमें फोउदारी देंगे ? हम भी घोड़ी लायें !"

ऐसे ही एक दिन दोपहर में, गुरु भागा-भागा आकर छवि के घुटनों में लिपटकर कहने लगा, "देख, आ छवि जीजी, चल, तेरा ब्याह होगा। देख, देख, चल !"

"धत् !"

"धत् क्या ? सच री, भला आदमी आया है री ! छज्जे के पास तेरी माँ। मेरी माँ और वह बतिया रहे है। मैंने पूछा, 'माँ वह कौन है ?' माँ ने कहा 'भला आदमी।' यह तो बस तेरे ब्याह की ही बातें कर रहा है। कितनी साफ़ धोती, और धुली चादर है, सिर पर यह लम्बा तिलक भी लगाये है। बापू को आने दे, मैं भी कहूँगा, मुझे सफ़ेद धोती-चादर लाकर दो। मैं भी भला आदमी बनूंगा, क्यों छवि जीजी, नही बनूंगा ?"

बहाना बनाकर छवि उठकर चली गयी। गुरु कहकर भाग गया फिर 'भले आदमी' के पास। छवि अँधेरे कमरे में जाकर खिडकी के पास खड़ी रही। छेद से झांका, गुरु की बात सच थी। गुरु की माँ और उसकी अपनी माँ किसी अनजान आदमी के साथ बातचीत कर रही हैं। गोरा, लम्बा, हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण है। कान लगाये; उसी के ब्याह की बात। बन्धमूलवाले वट महान्ती के घर से मध्यस्थ आया है। कहता है—उनकी बहुत इच्छा है, ख़ुद माँ ने कहलवा भेजा है।

और सुनने का धैर्य उसमें न था। उसे लग रहा था जैसे उसने कोई चोरी की है, चोरी का माल सँभाल नही पायेगी, पकड़ में आ जायेगी। चेहरा गरम हो गया। उस कमरे से निकल दरवाज़े तक आते-आते उसे लगा, बहुत परिश्रम किया है उसने, और नही कर सकेगी। इस घर से निकल उस घर में आकर उसने पिटारा खोला। अपनी दबी-नुची-मुड़ी चीज़ों में से उलट-पुलटकर निकाली सूखे रक्त के दाग़वाली एक लीर। वह रवि की धोती से चीरी गयी थी, पहली भेंट-वाले दिन उसके पैर में लपेटी गयी थी।

पिटारा वैसे ही खुला पड़ा है। छवि फफककर रो उठी और सिर झुका लिया। सारे भावप्रवण क्षणों की तरह उसे लगा, वह निःसहाय है, उसके पास कोई चारा नहीं।

ब्राह्मण मध्यस्थ दिज आचार्य पाटेली गाँव आये थे अपने कार्य की सफलता के बारे में निश्चिन्त होकर। देन नहीं, लेन नही, न कुण्डली शोधन, कुछ भी तो नही। कन्यावाले क्या कहेंगे, उलटे वर के घर से प्रस्ताव लेकर आया है। कन्या ग़रीब घर की है, वर के घरवाले कुछ हस्ती रखते है। इसमें और सोचने की क्या बात है?

उनकी सारी सम्भव कल्पनाओं पर एक प्रचण्ड चोट कर मधुर हँसी में सिन्धु चौधरी ने जब अपनी असहमति सुना दी, तब मुँह 'आँ' किये रह जाने के अलावा और कोई उपाय न था।

"कह देना, मैं राज़ी नही हूँ।"

बैठे-बैठे चरखा घुमा रहे थे सिन्धु चौधरी। सब कुछ सुनकर इतना-भर कहा। पीठ फेरकर उनकी स्त्री घर के अन्दर चली गयी।

सिन्धु चौधरी ने कोई सफ़ाई नही दी, उनकी आदत, रीति, नीति, ज़रा भी नही बदले, बिलकुल पहले की तरह, मानो कुछ हुआ ही न हो। तमतमायी हुई पत्नी घुमा-फिराकर छवि के ब्याह की बात छेड़ती हुई चोट कर रही है। अफ़सोस के मारे कभी रो पडती है, कभी रूठ जाती है। बेटी सूखती जा रही है, मन मे ज़रा भी खुशी नही। अवस्था समझ दुनिया हो-हो हँस रही है। पत्नी चोट कर रही है। फिर भी सब कुछ न सुनने की तरह चरखा चल रहा है, भागवत की पढ़ाई चल रही है।

छवि की माँ को अचानक सिर चकराने की बीमारी ने आ दबोचा। छाया ढलने की वेला। बैठे-बैठे ही धडाम से गिरकर अचेत हो गयी। घर में रोना-धोना मच गया। मुँह पर पानी के छींटे देकर माथे पर शहद-नीबू का रस मिलाकर लगाया तब जाकर कुछ समय के बाद होश आया। तब तक उसे फ़र्श पर लिटा दिया गया था। छवि पास बैठी है। ख़ुद सिन्धु चौधरी पखा झल रहे है। हँसकर पूछा, "क्यो, ठीक तबीयत है अब?"

मुँह के पास झुककर 'माँ-माँ' कह छवि आवाज़ दे रही है, गुरु देख रहा है। गुरु की माँ लम्बे घूँघट के अन्दर से झांक रही है।

"पान क्या निगल गई कि अचानक सिर चकराने लगा।" छवि की माँ ने कैफ़ियत दी, "ओह, कैसा तो लग रहा था? जो हो, अब और कुछ नही। ठीक

लगता है।"

"अरे, छवि, पानी में नीबू निचोड़कर पिला दे तो।" सिन्धु चौधरी ने छवि को भेज दिया।

छवि की माँ की आँखों के कोनों से आँसू की धार बहने लगी, किन्तु सिन्धु पिघले नहीं। कहा, "झूठी माया में मन देने पर झूठमूठ ही इस तरह रोना पड़ता है। तुम इन सबको इतना बड़ा क्यों समझती हो? सिर में चक्कर क्यों खाती हो, मूर्च्छा क्यों खा रही हो?"

छवि की माँ ने कुछ नहीं कहा। दोष देने की तरह देखकर प्रतीक्षा करने लगी। सिन्धु चौधरी उस दृष्टि की उपेक्षा कर कहते गये—

"भागवत क्या कहती है...?

ए पुत्र दारा बन्धु सग। ये सने समुद्र तरग॥
पथिक येन्हे वृक्ष तले। श्रमे बसन्ति एकमेले॥
श्रम सरिले ये जा मते। चलन्ति वृक्ष छाड़ि एथे॥"

मन को उधर लगाओ। समझो, इसका अर्थ कितना सरल है। सब जानती हो, सब समझती हो, फिर भी क्यों नही मानती? याद क्यों नही रखती? व्यर्थ ही इतना कष्ट पाती हो। आप ही पागल हो जाये तो उसे कोई ठीक कर सकेगा?"

छवि की माँ पल्लू से आँख पोंछ कहने लगी—"ऍ, सोचोगे नही, मन में रखोगे नही तो यह ससार बसाया क्यों था? बेटी का बोझ उठायेगा कौन? वह भी तो एक जीव है, भगवान् ने उसे भी तो जनम दिया है।"

हँसते हुए सिन्धु चौधरी ने कहा, "भगवान् ने जनम दिया, यही तो कहती हो? या कह रही हो कि तुमने जनम दिया है? जब उन्होंने जनम दिया है, तो वे जाने। तुम इतनी चिन्ता क्यों कर रही हो?"

"भगवान् ने सम्बन्ध भेजा, और तोड दिया तुमने। मैं तो कहती हूँ, अपनी बेटी को वही भेजूंगी। तुमने तोड़ दिया।"

"तुम फिर वही बात छेड़ रही हो।"

"बात करूँगी कैसे नही? तुम क्या समझो आदमी के मन को? तुम्हे चिन्ता क्या है? भागवत पढ़ो, बाबाजी बनो, खुशी से रहो।"

"तुम्हारे कहने पर लोका नायक को भेजकर देख लिया। नतीजा क्या निकला?"

छवि की माँ तर्क करने उठ बैठी। कहा, "मैं जानती हूँ कि तुम वही बात गाँठ बाँधे बैठे हो। बहुत अपमान लगा—यही तो? तुम्हारे मानापमान के बीच नुकसान किसका होगा? तुम्हारे ही बेटी का तो? गाँठ में बात को बाँधकर रखने से किसी के दिन नहीं बीतते।"

सिन्धु चौधरी स्थिर दृष्टि से स्त्री के मुँह की ओर देखने लगे। कहा, "समझ लो अपमान लगा। क्या हुआ? लोगों में छल भी तो घुसता है, अपमान भी लगता है। अब और उस बात को पकड़कर बैठने से क्या होगा?"

छवि की माँ ने कहा, "इस टूटी दीवार पर खड़े हो और तब भी मान-अपमान की बात सोचते हो न?"

सिन्धु चौधरी को गुस्सा नही आया। शान्त होकर उत्तर दिया, "तुम सोचती हो कि लोका नायक को उन लोगों ने दस बात कहकर लौटा दिया, इसीलिए मैंने भी उनके मध्यस्थ को लौटा दिया है? तुम्हारी धारणा ग़लत है। एक बार चेष्टा कर देखा था, पर ब्याह वहाँ होने का है नही। अब प्रलोभन में पड़कर वहाँ ब्याह करने का मतलब भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाना होगा।"

"तुम तो पागल..."

"ठीक है, तुम भली बनकर अब अन्दर जाओ तो!"

अवाक् देखती रह गयी उनकी ओर छवि की माँ। फिर सिर में धीरे-धीरे भँवर आने लगा। सिर मे 'चट्' से आवाज़ हुई, वहीं अटक गयी वह छवि। छवि की माँ का मन पति की ओर बिलकुल नरम पड़कर गद्गद हो आया। सारा मान बह चला दुनिया की ओर।

बहुत दिनों के बाद मानो आज स्पष्ट वह देख पा रही हो कि सामने यह जो आदमी दिख रहा है, इन कुछ वर्षों मे कितना कष्ट पाता आया है, कठोर हुआ है, बदला है। यही तो वह आदमी है जिसे किसी बात की परवाह न थी। पैसे को माटी-कंकड़ मानता था, मन का धनी कितना दिया है, कितना खिलाया है इसका कोई हिसाब नही।

आज इनके जैसे आदमी को भी सब कुछ सहना पड़ रहा है।

किसके लिए? स्त्री के लिए, सन्तान के लिए ही तो?

सिन्धु चौधरी स्त्री के चेहरे की ओर देख उसकी व्याकुल भावनाओं का उत्तर देते-से बोले, "मन को थिर करो, जीने पर सब कुछ देखना पड़ता है। इसके लिए डरना क्यों? भगवान् ने बेटी दी है, उसका उपाय वे करेंगे। और क्या नही करेंगे? विश्वास रखो। सब उन्हीं की लीला है।—

"करि कराउथाए मुँहि
मो बिनु आन केहि नाहिं।"

[सब मैं ही करता कराता हूँ] कहकर सिन्धु चौधरी बाहर चले आये।

छवि की माँ घर के अन्दर चली गयी। छवि सब सुन रही थी। इतनी बातों में सूर्यास्त होकर गोधूलि भी जा चुकी है। छवि कलसा लेकर बाड़ी की ओर पानी लाने चली गयी।

और धुंधले अँधेरे की ओर मुँह किये वह थकी-सी खड़ी रह गयी।

लगता है।"

"अरे, छवि, पानी में नींबू निचोड़कर पिला दे तो।" सिन्धु चौधरी ने छवि को भेज दिया।

छवि की माँ की आँखों के कोनों से आँसू की धार बहने लगी, किन्तु सिन्धु पिघले नहीं। कहा, "झूठी माया में मन देने पर झूठमूठ हो इस तरह रोना पड़ता है। तुम इन सबको इतना बड़ा क्यों समझती हो? सिर में चक्कर क्यों लाती हो, मूर्च्छा क्यों खा रही हो?"

छवि की माँ ने कुछ नहीं कहा। दोष देने की तरह देखकर प्रतीक्षा करने लगी। सिन्धु चौधरी उस दृष्टि की उपेक्षा कर कहते गये—

"भागवत क्या कहती है...?

ए पुत्र दारा बन्धु संग। ये सने समुद्र तरंग॥
पथिक येन्हे वृक्ष तले। श्रमे वसन्ति एकमेले॥
श्रम सरिले ये झा मते। चलन्ति वृक्ष छाड़ि एथे॥"

मन को उधर लगाओ। समझो, इसका अर्थ कितना सरल है। सब जानती हो, सब समझती हो, फिर भी क्यों नहीं मानती? याद क्यों नहीं रखती? व्यर्थ ही इतना कष्ट पाती हो। आप ही पागल हो जाये तो उसे कोई ठीक कर सकेगा?"

छवि की माँ पल्लू से आँख पोंछ कहने लगी—"एँ, सोचोगे नहीं, मन में रखोगे नहीं तो यह संसार बसाया क्यों था? बेटी का बोझ उठायेगा कौन? वह भी तो एक जीव है, भगवान् ने उसे भी तो जनम दिया है।"

हँसते हुए सिन्धु चौधरी ने कहा, "भगवान् ने जनम दिया, यही तो कहती हो? या कह रही हो कि तुमने जनम दिया है? जब उन्होंने जनम दिया है, तो वे जानें। तुम इतनी चिन्ता क्यों कर रही हो?"

"भगवान् ने सम्बन्ध भेजा, और तोड़ दिया तुमने। मैं तो कहती हूँ, अपनी बेटी को वहीं भेजूंगी। तुमने तोड़ दिया।"

"तुम फिर वही बात छेड़ रही हो।"

"बात कहूँगी कैसे नहीं? तुम क्या समझो आदमी के मन को? तुम्हें चिन्ता क्या है? भागवत पढ़ो, बाबाजी बनो, खुशी से रहो।"

"तुम्हारे कहने पर लोका नायक को भेजकर देख लिया। नतीजा क्या निकला?"

छवि की माँ तर्क करने उठ बैठी। कहा, "मैं जानती हूँ कि तुम वही बात गाँठ बाँधे बैठे हो। बहुत अपमान लगा—यही तो? तुम्हारे मानापमान के बीच नुक़सान किसका होगा? तुम्हारे ही बेटी का तो? गाँठ में बात को बाँधकर रखने से किसी के दिन नहीं बीतते।"

सिन्धु चौधरी स्थिर दृष्टि से स्त्री के मुँह की ओर देखने लगे। कहा, "समझ लो अपमान लगा। क्या हुआ ? लोगों मे छल भी तो घुसता है, अपमान भी लगता है। अब और उस बात को पकड़कर बैठने से क्या होगा ?"

छवि की माँ ने कहा, "इस टूटी दीवार पर खड़े हो और तब भी मान-अपमान की बात सोचते हो न ?"

सिन्धु चौधरी को गुस्सा नही आया। शान्त होकर उत्तर दिया, "तुम सोचती हो कि लोका .नायक को उन लोगों ने दस बात कहकर लौटा दिया, इसीलिए मैंने भी उनके मध्यस्थ को लौटा दिया है ? तुम्हारी धारणा ग़लत है। एक बार चेष्टा कर देखा था, पर ब्याह वहाँ होने का है नही। अब प्रलोभन में पड़कर वहाँ ब्याह करने का मतलब भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाना होगा।"

"तुम तो पागल..."

"ठीक है, तुम भली बनकर अब अन्दर जाओ तो !"

अवाक् देखती रह गयी उनकी ओर छवि की माँ। फिर सिर मे धीरे-धीरे भँवर आने लगा। सिर मे 'चट्' से आवाज़ हुई, वही अटक गयी वह छवि। छवि की माँ का मन पति की ओर बिलकुल नरम पड़कर गद्गद हो आया। सारा मान बह चला दुनिया की ओर।

बहुत दिनों के बाद मानो आज स्पष्ट वह देख पा रही हो कि सामने यह जो आदमी दिख रहा है, इन कुछ वर्षों में कितना कष्ट पाता आया है, कठोर हुआ है, बदला है। यही तो वह आदमी है जिसे किसी बात की परवाह न थी। पैसे को माटी-कंकड़ मानता था, मन का धनी कितना दिया है, कितना खिलाया है इसका कोई हिसाब नही।

आज इनके जैसे आदमी को भी सब कुछ सहना पड़ रहा है।

किसके लिए ? स्त्री के लिए, सन्तान के लिए ही तो ?

सिन्धु चौधरी स्त्री के चेहरे की ओर देख उसकी व्याकुल भावनाओं का उत्तर देते-से बोले, "मन को थिर करो, जीने पर सब कुछ देखना पड़ता है। इसके लिए डरना क्यों ? भगवान् ने बेटी दी है, उसका उपाय वे करेंगे। और क्या नहीं करेंगे ? विश्वास रखो। सब उन्ही की लीला है।—

"करि कराउथाए मुहिं
मो विनु आन केहि नाहिं।"

[सब मैं ही करता कराता हूँ] कहकर सिन्धु चौधरी बाहर चले आये।

छवि की माँ घर के अन्दर चली गयी। छवि सब सुन रही थी। इतनी बातों में सूर्यास्त होकर गोधूलि भी जा चुकी है। छवि कलसा लेकर बाड़ी की ओर पानी लाने चली गयी।

और धुंधले अँधेरे की ओर मुँह किये वह थकी-सी खड़ी रह गयी।

बैलों की ओर देखती, कौन किस गाँव का है, किसकी माँ कहाँ है! बछड़ा धूल उड़ाता, नाचता-नाचता लौटने के समय कितना रँभाता! किस गाँव का लड़का कहाँ आकर किसके लिए हल चला रहा है। और फिर माँ-बेटों की भेंट नहीं। ओस की बूँद जमने की तरह दोनों आँखों में आँसू डबडबा आते। आँसू सूख जाते, उड चलती उदास चिन्ता, निष्फल हवा के झोंके की तरह, चेतना में सूखे दुख की तरह, केवल धूल और अन्धड की तरह बार-बार लगा ही रहता, भुलाया नहीं जा सकता।

वट महान्ती सब कुछ जानकर भी चुप साधे रहते। उनकी स्त्री ने समझा-बुझाकर द्विजवर आचार्य को मध्यस्थ बनाकर भेजा। उसमें उनका मन नहीं लिया गया। वे चुप रहे, प्रतीक्षा कर रहे थे। द्विजवर नास्तिवाणी लेकर आया—इसपर वट महान्ती ने अपमान का अनुभव नहीं किया, क्रुद्ध भी नहीं हुए, उलटे उनका अहम् पूँगी बजाकर ऊपर उठा। उन्होंने अर्थ लगाया—सिन्धु चौधरी डर गया, उसने डरकर इनकार कर दिया है। फिर मन अपनी प्रशस्ति खुद बखानने लगा—वट महान्ती! वट महान्ती! उस स्थिति में बेटा भी एक प्रतिद्वन्द्वी के अलावा और कुछ नहीं है और वह हार गया है, कितना ही जोर लगाये हारता ही रहेगा।

दिन गया, रवि नहीं लौटा। पहले लगता था यह बच्चों का खेल है, मोटी बुद्धि का है वह, ज़िद्दी है, ग्रह का खिलौना हो गया है। जोतिषियों को बात-बात में उसने कहा था—देखो तो अभी उसकी क्या दशा है? जोतिषी ने बताया उसकी दशा अभी खूब 'कर्म' की चल रही है। काम ऐसा करायेगी कि लाभ और यश दिलाकर रहेगी। फिर भी मन नहीं भरा, वट महान्ती समझे—ये सब मन रखनेवाली बातें है। किसी से पूछकर क्या फ़ायदा? दैव की ठोकर लगेगी। कहना न माननेवाले बच्चे की तरह दोष मानकर चोर की तरह चुपके-छिपे लौट आकर सिर झुकाये हाथ-पैर जोड़े एक कोने में वह खड़ा हो जायेगा। वे उसी की प्रतीक्षा में थे।

उधर सारी ख़बर पाकर बड़े बेटे कवि ने लिख भेजा कि आप कठोर व्यवस्था का आसरा लें। फ़ालतू आदमी की तरह घूमता-फिरता यदि रवि कहीं राजनीति में घुस गया तो उसके इस रवैये से इधर मेरी चाकरी डगमगा जायेगी। घर पर होता तो मैं उसे ठिकाने लगा देता, किन्तु मुझे छुट्टी नहीं। कवि की चिट्ठी पढ़कर वट महान्ती तनिक हँसे, फिर चिट्ठी को दाब दिया।

किन्तु रवि बीमार पड़ा नहीं, ठोकर खायी नहीं; ख़बर मिली कि वह वहाँ छोकरों को मिलाकर जाने क्या-क्या कर रहा है। वे लोग गाँव में असमर्थ लोगों का घर बना देते हैं, खेत का काम कर देते हैं, गाँव में कूड़ा-कचरा साफ़ करते हैं, गड्ढों में माटी भर देते हैं, रात में बूढ़ों को पढ़ाते हैं, लोगों को नयी-नयी बातों

से प्रभावित करते हैं। फूलशरा गांव में हलचल मची है। जो आता है रवि की बड़ाई करता है।

रवि वहाँ भी नेता होगा ! टूटेगा नहीं वह !

सोचने की फुरसत नहीं। दोल पूनम सिर पर आ गयी, झांझ, मृदंग की झंकार में देश हुलसा था। ठाकुरजी यात्रा को निकलेंगे विमान में। वट महान्ती जुट पड़े। केवल ठाकुरजी का ही काम करने में लगे रहे।

इस व्यस्तता के बीच, जब मौका पाते, ठाकुरजी को वट महान्ती अपनी इच्छा जनाते और सान्त्वना खोजते। वट महान्ती पूछते—कौन-सा उपाय करूँ कि बेटा बात माने। उसका मन फिरे ?

रवि ने पैसे माँगे नहीं। इतने दिन हुए उसे गये, कोई सहायता के लिए ख़बर भी भेजी नहीं। उलटे उसके जाने के बाद दो बार फूलशरा गांव से सब्जी का टोकरा आ चुका है। फूलशरा तो नाम की जमीदारी है, फल-फूल वहाँ से कभी आते नहीं, लगान बाकी न रहने-भर से ही वहाँ के तहसीलदार धन्य भाग मानते। और फिर भारवाहे ने बताया कि वहाँ के कचहरीघर का चेहरा बदल गया है, कचरा साफ हो गया है, घर साफ़-सुथरा हो भीतों में माटी लीप दी गयी हैं, अहाते में नये घर बन रहे हैं, जब देखो बस गांव के लोग भरे हैं, और साथ-साथ रवि के बताये कितने ही नये-नये कामों में गांववाले भिड़ गये हैं, उद्यम चल रहा है कि सारा गांव मिलकर एक गोठ होगा।

तब नयी दुनिया गढ़नेवाले छोकरों की बचकानी बातों को वट महान्ती ने पतली बांकी हँसी में ऊपर ही ऊपर उड़ा दिया था, परन्तु अन्दर ही अन्दर कितनी ही काल्पनिक चिन्ताओं की कोंच खाकर वे चौंक पड़ते। मानो वे किसी और की बात सुन रहे हैं, जिसे वे नहीं जानते, बस दूर ही दूर से सुना-सुनाया परिचय मिल रहा है।

अपने अतीत को याद कर बेटे के मन की अवस्था समझने की चेष्टा भी की थी। कुछ याद नहीं आया, जिससे कि वे मन ही मन रवि का कोई रूप गढ़ सकते।

बेकार बचकानी हो-हा ! यह सब भी दो दिन में उड़ जायेगा। छोड़ो, बाधा देने की जरूरत नहीं, पुआल की आग की तरह अपने आप ही सुलग-सुलगकर सब काला पड़ जायेगा। सोचकर हँसी आ जाती, अभिज्ञ मन का सूक्ष्म विचार अर्थ निकालता—ब्याह होने से पहले छोकरों के मन में जब गरमी पैदा होती है, तब वे ऐसे ही कोई चिनगारी निकालकर झड़ जाते हैं।

इसी भावना में, अपनी जवानी के गरम दिनों की ओर मानो एक बारीक-सा छेद खुल गया। अल्हड़पने के दिनों में वे भी मत्त हुए थे एक नये उत्साह में, और उनके साथ मत्त थे कितने ही लोग। उनमें झोंक उठी कि गांव में ऐसा एक

यात्रा-दल खडा किया जाये जो सदा रहे। घर से लुक-छिपकर जाते गाँव के उस सिरे पर और किसी की उजड़ी झोंपडी मे वे सब इकट्ठे होते, सबके उद्यम से झोंपड़ी भी मानो नयी चमड़ी पाकर हँसकर जाग उठी थी, घनी बाड़ से घेरकर आँगन साफ किया गया और छोटे-छोटे रगीन, कनेर, टगर लगाये गये। घर में माँ के बक्से से चोरी कर या अपनी जेब के खर्चे में कटौती कर पैसे बचा एक जगह जोड़े गये और दल की पूँजी जमा हुई। शहर से खरीदकर लायी गयी—मूँछ, दाढी, गोंद, सिर के बाल, मुखौटे, पोशाक। किसी का पुराना हारमोनिया था उसे मरम्मत कर लाया गया, सिखाने के लिए गुरुजी आये। तब वट महान्ती मृदंग पीटते-पीटते बड़े उत्साह से हारमोनिया पर गीतों की झडी लगाते थे। हारमोनिया बजे चाहे किसी भी तरह, अँगुली टिके या फिसले, उसके नीचे कितने ही कागज़ दो या मीड़ पर कितनी ही थाप डालो, चाहे वहाँ गें गें लगी रहे, उस अद्भुत स्वर-समुद्र की ओर पीठ किये वहाँ चलता रहता अनवरत एक स्वर। उन दिनों के गीतो की एक-आध पक्तियाँ आज भी याद आ जाने पर उस खोये हुए पहाड़ के पीछे से यौवन का एक-आध झोका उनके अगुआ मन के सामने छिटक आता—

"आ रे आ रे सबीना—
तो पादे हेली मु किणा, आ रे हेलि मुं किणा—।"

बड़े-बूढ़ो से गाली खाकर सबकी ओर पीठ दिखा सब लग पड़े उस अखाडे घर को खड़ा करने मे। आशा थी कि अखाड़ा बन गया तो गाँव मे यात्रा की जा सकेगी। अपना कवित्व दिखाने पर गाँव के छोकरों को उत्साह मिलेगा। अखाड़े की तरफ़ से गाँव के छोकरो का भोज भी कई बार हो सकेगा, बाजी रखकर दो दलों का कबड्डी का खेल, पतंग का लड़ना, बकरो का भिड़ाना, और मृदग लेकर वाक् लड़ाई अर्थात् वादक-प्रतियोगिता भी की जा सकेगी। लगता जैसे इनसे गाँव मे मनुष्यता का ख़ूब विकास हो सकेगा। गाँव का नाम रौशन होगा। वे भी आदर्श को सामने रखकर लग पड़े थे। उनका दल मजबूत था। अतः फूले मन से कोई कितना गर्हित काम करे, बाहर सब दूध के धोये थे।

उस तगडे दल मे बँधकर वे एक काम कर सके थे, इसके लिए बड़े-बूढ़ों से धन्यवाद भी मिला था। गाँव मे स्वदेशी की धारणा मतवाले हाथी की तरह रौदती आ रही थी। शहर की आवाज़ गाँव मे सुनाई पड़ने लगी। फिर धूल और पसीने मे तरबतर थका हुआ प्रचारक आकर पानी और सहानुभूति माँग रहा था। उन लोगों ने प्रचारक सहित उन सब धारणाओ को दूर ठेलकर भगा दिया था। नयी धारणाएँ सिखाने आया था कि सब आदमी समान भाई-भाई है, जात-पाँत झूठ है, छूत-अछूत कोई नहीं, हिन्दू-पठान सबमें एक ही रक्त की धार है, ज़मीदार का अधिकार नही है, विदेशी चीजें छोड़ो, बिलायती कपड़े की होली

जलाओ, मिल-जुलकर अंगरेजों को भगाओ। पधानपुर गाँव के खेतिहरों ने तो गुरु मानकर उससे मन्त्र लिया था। नयी पताका उठायी थी, कपास बोयी थी, चरखा चलाया, लगान बन्द किया। ..परन्तु बन्धमूल गाँव में बट महान्ती के नेतृत्व में कुछ छोकरों ने मृदंग और हारमोनिया की लय पर मिलकर गाया "जय जॉर्ज मेरी" और साफ़ समझा दिया था कि यहाँ युग उलटाने की बात कहने पर मार के अलावा कुछ भी नही मिलेगा। अतः इस नयी धारणा के पीछे जब लाठी उठाये पुलिस दौड़ी आयी, घोड़े पर चढ़कर पुलिस के साहब आये, तब वे लोग रास्ते ही रास्ते सीधे चले गये पधानपुर। उस गाँव के लोगों ने मार खायी, बाँधे गये। पधानपुर तीन बार जला। और बन्धमूल गाँव के समाजपतियों ने यहाँ की युवाशक्ति को आशीर्वाद दिया। पधानपुर गाँव को धिनकारा जी भरकर।

वह तो उस जमाने की बात थी, ब्याह-शादी कर कुछ ही दिन जाते न जाते एक-एक कर सब अपने-अपने धन्धे में लग लिये। अखाड़ा टूट गया।

परन्तु वे दिन भी थे! कितने चेहरे याद आ जाते। वे सब अल्हड़ता के दिनों की मूर्खताएँ कही नही जा सकती। पर कभी याद आ जाती, तो मन को गुदगुदा जाती।

रवि का नया आन्दोलन उसी रास्ते का है, पर पानी बहेगा ही, रोकने से कुछ होगा नही।

कवि की बात पर उन्हें अब और विश्वास नही है। वह गाँव का नही, शहर का ठहरा। वह समझ नही पायेगा। वह घर कभी आता नही, घर की ख़बर लेता नही। दो-तीन महीने में एक-आध चिट्ठी। कवि की अपेक्षा रवि कल अधिक जुड़ा रहता है।

फूलशरा गाँव में—

कचहरी के अहाते से सटकर दाहिनी ओर साधु जेना का घर-द्वार था। कचहरी के अहाते में घर से थोड़ा हटकर बीच में एक बाड़ है। साधु जेना की बाड़ी इस नयी बाडी से मिल गयी है। उसकी भी मेड-बाड़ और नही है। उसके उधर गंगा हलवाई की बाड़ी, उमा पशायत की बाड़ी, रघुवा नाई की बाड़ी थी। सबकी बाड़ियाँ उठकर एक में शामिल हो गयी हैं। रघु जेना की बाड़ी के उधर पड़ता है जमीदार का एक तीन एकड़ का पुराना पोखर, चारों ओर से भरता आ रहा है। बीच में गड्ढे की तरह थोड़ा पानी रहता है। पोखर के उधर ऊबड-खाबड होकर पाँच एकड़ ज़मीन, नाम पाँचमाणिया है, बिना आबादी का वन है, केवल छोटी-छोटी काँटेदार झाड़ियाँ और इधर-उधर जगह-जगह बेंत के झुर-

मुट, बहुत सारे शरीफ़े के पेड़, थाक की थाक थूहर, केवड़े, कंसारी आदि, केवल गाँव के गोधि, साँप, गीदड़ के रहने की जगह। ऊँची बालुई जगह देखकर कतार की कतार नागफनी फैली पड़ी है, सिर पर एक-एक लाल फूल। उस वन के बीच टीले पर हाथ पकडे खड़े होने की तरह दो पालिधी के पेड, लाल-लाल फूलों से लदे हैं। अनापादी के पूर्व की ओर चेरेंगी नदी की पतली धारा तिरछी-तिरछी मुड़कर चली गयी है। नाम की नदी होने पर भी एक खाई-भर है, बजर ख़त्म होते ही खेत शुरू होता है।

चमचमाती दोपहर में उसी 'पाँचमाणिया' पर इधर-उधर गाछ काटनेवाले लोगों का कलरव सुनाई पड़ रहा था। स्त्री-पुरुषों का मिला-जुला स्वर। रवि के निर्देश में वे वन काटकर साफ़ कर रहे थे। टीले पर कँटीली झाड़ियाँ कटी पड़ी थीं, उनके ढेर के बगल में तीन जने युवक खडे थे कन्धे पर चमकती कुल्हा-डियाँ रखे हुए—रवि, बई मलिक और गगा हलवाई। बूढ़ा नन्द तहसीलदार 'आँ' किये पालिधी की ओर देख रहे थे, मानो वे उसके फूलों के सौन्दर्य से मुग्ध हों।

रवि ने कुल्हाडी उतारकर कहा, "बातों ही बातों में बहुत समय चला गया, अब काम हो।" इसके बाद पालिधी पर पहली चोट दी, फिर बई मलिक ने, फिर गंगा हलवाई ने। दूसरी बार चोट पडने से पहले ही नन्द तहसीलदार चिल्ला उठे, "ठहरो, बात तो सुनो!"

रवि हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। कुल्हाड़ी को कन्धे पर डाल पीछे कमर मोड़कर कहा, "अब ठहर-ठहर क्या, अब हमारी बातें करना और बाकी रह गया है, मौसा?" बूढ़े तहसीलदार बाबू को मौसा कहने में कब से उसकी जीभ अभ्यस्त हो गयी थी, उसी सूत्र से 'मौसा' पर ज़ोर भी दे देता। कहा, "लोगो ने जमकर काम करना शुरू कर दिया। अब जल्दी-जल्दी उस वन के झुरमुट को भी साफ़-सुथरा कर दे तो काम बने। और प्रतीक्षा किस लिए?"

नन्द ने कहा, "किस घर के बेटे हो, किस घर के पोते हो इस तरह इनके साथ मजदूरों की तरह बनकर काँटे-झाड़ी रौंदकर कुल्हाड़ी चलाये बिना क्या नहीं चलेगा, बाबू!"

रवि ने कहा, "हम सब मजदूर है, सिर से कोई कितना ही सोचे, हाथ से काम किये बिना आदमी आदमी होकर नहीं रह सकता। छोड़ो, तुम क्या कहते हो कहो, मौसा, मैं रुकूँ...ये काम करेंगे?"

"नहीं, काम और क्या करेंगे? जो भी हो, कँटीली झाड़ियाँ दो थी, काट लेते तो यह भी हो जाता पूरा। मै कहता था कि अभी रहने दें, साआन्त को पूछ लें, फिर जाकर काटते। इसे डाल रखेंगे, किसी को देंगे या तोड़कर ज़मीन करेंगे, फिर उनकी मरजी। अगर पिछली तारीख़ डालकर पावती लिखकर किसी के पट्टे कर देते तो कुछ नगद रुपये सलामी के मिल जाते। वो देखो,

नट साहू, आदिकन्द साहू हैं, पैसेवाले लोग ठहरे, उनकी जमीन यहाँ से कौन-सी दूर पर है ? कितनी बार दौड़ा होगा मेरे पास कि बाबू, पिछली तारीख से पावती करा दो और पिछले बारह बरस से हमें दखल दिखाकर दे दो, जो दर माँगोगे देंगे।"

पास ही झाड़ी काट रहा था कुरुपा बावरी, ताली बजाकर बोला, "यहीं तो भेद खुल गया। हूँ, तहसीलदार की अंटी में कुछ गया है, पाया है कुछ, अब छुपाये क्या होगा ?" झुरमुट की ओर से और भी लोग 'किरि-किरि' हँस पड़े। हँसी में हँसी फैल गयी, गोलमाल में से कुछ सुनाई पड़ा। एक दल के लोग हल्ला कर उठे—"हो हो हो—सियार बाबू चल पड़े, अरे देखो-देखो-देखो—" काम काम की तरह लगता ही नहीं, बस मौज, हँसी-मजाक की तरह है।

किन्तु नन्द तहसीलदार गुस्सा हो गये। गुस्सा होने पर वह बूढ़ा छप्पर फाड़ता-सा दिखता। सो-सों करते इधर-उधर होते-होते सब ढीला होकर उलट-पुलट हो जाता और पहले जीभ लड़खड़ाती। कुरुपा बावरी की ओर दो कदम बढ़ाकर बूढ़ा कहने लगा, "अरे तेरी-ते-ते—" गुस्से में बात गले में ही अटक गयी।

बई मलिक ने कुल्हाड़ी झुला दी। एक लोदा थूक फेंककर कहा, 'थू: !' इधर-उधर होकर काँटों की डालियों को पैरों से सरकाने लगा। कुरुपा ने जवाब दिया, "अरे मेरी मे-से-क्या, कहो न, क्या कहना है ? नये बाबू तो इस गाँव में नये आये हैं, वो कुछ जानते न हों, हम क्या जानते नहीं तुम्हारी खाई ! अच्छी-अच्छी खुदकाश्त जमीन, नारियल का बगीचा, बाग़। फ़ालतू पैसेवालों को जब पट्टा किया तब कहाँ था यह विचार ? क्या तब जमीदार ने कहा था ? या उनसे पूछा था ? या वे जानते थे ?"

"छोड़ो, छोड़ो," रवि ने कहा, "रहने दो यह वादानुवाद। कुरुपा, चुप कर !"

"हाँ, जमाना ही ऐसा हो गया है !" नन्द तहसीलदार कहने लगे, "नहीं तो ओछे आदमी, सामने खड़े होकर कमर मटकाकर बात कहे ?"

नाक उठाकर होंठ मरोडकर गंगा हलवाई ने नन्द को उत्तर दिया—"ए: ! सब खाली छोटे आदमी, छोटे आदमी है और ये ही एक हैं बड़े आदमी ! जिनको, बाबू, छोटा किया था, न्याय होने पर उन्ही के आगे परास्त होगे तुम। जमाने की बात कहते हो ! याद नहीं, बाबू, जिस बार काआलिघाई का बाँध तोड़कर नदी का पानी हिलोरे लेने लगा, मेरे घर की दीवार दड़-दड़ गिर पड़ी। कुछ समझ ही न आये कि क्या करूँ, तुम्हारे आगे कितने निहोरे किये कि अब कहाँ खूँटे गाड़ूँगा, रंगी की माँ केवटणी को टुकड़ा मिला था, उसके मरने के बाद तो वह वैसे ही खाली पड़ा है, वहाँ गीदड़ हगते हैं, तुमसे कहा था कि मुझे पट्टे पर कर

दो। दिया तो नही, उलटे तुमने क्या किया ?"

"छोड़ो, गगाधर, पिछली बातें भुला दो," रवि ने कहा, "आगे की बातों की ओर नज़र रखकर काम करो।"

नन्द चुप थे, पर वे गुस्से में उबल रहे थे। अचानक गरदन को पीछे मोड़कर बोले, "नही, यह खेल बहुत दूर तक चला गया है। यह समूह क्या ? यह दल क्या है, मेरी तो कुछ समझ मे आता नही। बाबू, तुम यह सब बन्द करो तो।"

रवि आया तब से ऐसे ऊँचे होकर कभी कुछ कहा नहीं, किसी काम में बाधा नहीं दी थी। उससे कहा, "पहले तुमने जब काम आरम्भ किया, मैने सोचा, यह खेल घर है।"

"खेल घर है !" पास के लोगों ने नक़ल की।

नन्द ने इन सब बातों की ओर ध्यान नही दिया, कहने लगे, "खेल घर नही तो और क्या है ? दस लोग इकट्ठे हुए, गाँव का झगडा-टण्टा मिटा, बाहर ही बाहर कलह सुलझ गयी, कितने लोगो के टूटे-फूटे घर की मरम्मत हुए, गन्दगी साफ़ हुई, गाँव का रास्ता सुधरा। मैने सोचा, खेल ही खेल मे यह जो चल रहा है सो अच्छी बात है। उसपर फिर क्या न बीच-बीच से बाड़ काटी जाकर कितने लोगों की बाड़ी शामिल की गयी ? फिर चली अब खाली ज़मीन पर चोट ! सब तो एकाकार होंगे, नही क्या ?"

शान्त होकर रवि ने कहा, "समझ रहा हूँ, कहाँ तुम्हारी ग़लती हो रही है। अकेले तुम्हारी ही नही, तुम्हारे जैसे जितने है सबकी। तुम सोचते हो कि अभी जो कुछ जैसा देखते हो, वह ऐसे ही रहेगा। देखो न, तुम्हारे बचपन से अब तक मे कितना कुछ बदल गया है !"

"देखता हूँ," नन्द ने कहा, "देखता कैसे नही ? कहाँ हमारे समय की मान-मान्यता, भद्रता, सज्जनता; ज़मीदार के बेटे ने पकड़ा हल, कुल्हाडी। अब और यह युग कितना बदलेगा ?"

"हुआ कहाँ ? हुआ नही। ज़मीदार का बेटा होने से क्या हो गया ? काम किये बिना कोई खाने को नही देगा। ज़मीदारी के रहते सब हो गये ख़ाली खोल। आख़िर मे वह भी गयी। इस पृथ्वी पर लोग बढ़ गये, खाने के लिए हाहाकार। वे लोग चारों ओर दबाते-दलते खेती किये जायेंगे। अब फ़सल का भाव हो गया कितने से कितना, मूल्य कहाँ से कहाँ चढ़ गये। अपने लिए न खटकर औरो के लिए क्यो कोई खटने जायेगा ? तभी तो गाँव-गाँव में मज़ूरों ने पैर फैलाये है।"

नन्द तहसीलदार ने खँखारकर कहा, "ओहो हो, बस करो, इनमें कुछ माटी पीटने लगे, कुछ मोटरों मे चढ़े, पाँच पावले की चीज़ का पाँच रुपया किया,

असतपने से दुनिया डूब रही है, कोई किसी को मानने को तैयार नहीं, इसी का नाम है नया युग, इसी के लिए इतना उछल रहे हो ? पर यह तो केवल सरपत के वन में कादम्बरी पीकर मतवाला होने की तरह..."

सरपत का वन ! कितनी बार सुनी है रवि ने यह बात ! चिन्तित हुआ। किन्तु उसकी चिन्ता को एक ठहाके में उडाकर उत्तर दिया कुरुपा बावरी ने। बोला, "हो होः—ये बिना साहू, कपिली विश्वाल, घडीनन्द, ऐसे लोगों की बाबत ही तो कहते हो बाबू ! हाँ, वे आवारा फिरते थे, अब हेरा-फेरी कर एक-एक घर खड़ा कर लिया है। उनकी लोहे की छड से बनी पक्की दीवार और टीन की छत तुम्हारी छाती में चुभती है। तभी पेट में दर्द हो रहा है, आखें सह नही पाती—क्यों ? अरे बाबू, जुग-जुग से कपाट बन्द थे, महात्मा गान्धी आये, उन्होंने किवाड़ खोल दिये। उन्होंने रास्ता खोला ताकि सत् घुसे, उनके साथ-साथ कितने रामनामी चादर ओढकर असत् भी घुस आये। यह असत् भी दो दिन का है। यह किवाड़ खुला है, इसलिए वे घुसे आये। यह किवाड़ खुला होगा, और इन्हें हम पीटकर इधर से ही विदा करेंगे, क्या समझते हो ?"

चौंककर रवि ने कुरुपा बावरी के चेहरे की ओर देखा। वह निपट मूर्ख है, फिर भी बात कह रहा है।

बई मलिक चुप था। अब वह भी नन्द तहसीलदार को आईन बताने लगा, "इतनी हो-हा में क्या है बाबू ? जिसकी सम्पत्ति है, उनका बेटा अपनी मन-इच्छा जैसा करे, निचले लोग कहना मानकर ही काम करें, इसमें आपत्ति उठानेवाला है कौन ? आदमी सरल बने तो क्या नौकर-चाकर भी घोड़ा चढ़ेंगे ?"

नन्द तहसीलदार का मुंह जल गया; किन्तु बई मलिक ने फिर कहा, "बूढ़े बाबू तो माला फेरनेवाले ठहरे, बडे बाबू विदेश मे रहते है, वहाँ वे भले और उनकी चाकरी भली। जमीन-बाड़ी, काम-कन्धा सब देखते हैं छोटे बाबू। खुद कर्ता ही खड़े होकर बता रहे हैं कि यह झाड़ी का वन साफ़ होगा, वह बाड़ कटेगी, वह पोखर खुदेगा, वह जमीन ऐसे नही वैसे काश्त होगी। अच्छा, उन्होने तुम्हे रखा है अपना काम करने के लिए ही न ! उन्हें जो भला लगा, वह करेंगे। उनकी 'हाँ-हाँ' मे तुम्हारी 'ना-ना' क्यों है बाबू ? काम बन्द करनेवाले तुम-हम कौन हैं, यही समझ में नही आता।"

अवाक् खडे बूढ़े नन्द रवि की ओर देखते रह गये। बई मलिक की चेतावनी से उनको होश आ गया। नज़र झुक गयी। सोचा, यह पागल है। इसमें मेरा क्या जाता है ? फ़ालतू विरोध करना ठीक है क्या !

याद आया, यहाँ का हालचाल बट महान्ती को बताने के लिए आदमी भेजा था। बट महान्ती ने सब सुना, कोई आदेश नही दिया। कण्डुरी बारीक ब्योरा लाया था। बूढ़े बाबू ने पूछा था कि 'रवि ठीक है तो ?'—'जी, हाँ।' 'सब गोविन्द

की लीला है !'—बूढ़े बाबू ने कहा था ।

याद आया, ऐसे ध्वंस हो गये हैं कितने ही बड़े-बड़े जमींदार, कितने राजा-महाराजा केवल अपने खयाल के पीछे-पीछे भागकर। किसी ने पहाड़ों पर पोखर खुदवाये हैं, तो किसी ने गड्ढों में महल चिनवाये, किसी ने कुत्तों का झुण्ड पाला है, तो किसी ने बाघ के झुण्ड की प्रतीक्षा की है, कोई एक-एक कर पत्नियाँ जुटाता गया, और किसी ने राज-भर के भाटों-नटों को जमा कर उनपर खज़ाना लुटाया है ।

आती-बाँकी हँसी को गाल मरोड़ मुँह बिचकाकर ढँक लिया । नन्द ने कहा, "अच्छा मैं चलता हूँ। ये सब देखेंगे तो पिता बिगड़ेंगे ।"

बीच में अचानक द्वन्द्व टूट गया, मानो समय से पहले ही तमाशा ख़त्म हो गया हो ।

रवि ने दूने उत्साह से कुल्हाड़ी उठाकर पालिधी पर आक्रमण किया, परन्तु लगता था जैसे आज काम पग-पग पर तर्क में ही उलझ जायेगा । बई मलिक ने हँसकर कहा, "ये दोनों पेड़ कैसे दिख रहे हैं ?"

रवि ने पूछा, "बोलो ।"

"ठीक जैसे दो बहुएँ, काटने को हाथ उठता ही नहीं ।"

सब 'हो-हो' कर हँस उठे। रघुआ ने ठट्ठा किया, "तब तू इनमें से एक को ब्याह ले ।" कुरुपा ने कहा, "सच भई, कुछ भी कह, सोहनी चीज को काटने के लिए हाथ उठता ही नहीं। गाँव के पास होते तो बच्चे ये फूल लेकर खेलते ही ।"

"ख़ाली खेल ही क्यों। इसके फूलो को ले जाकर साग बनाने से कितना स्वादिष्ट लगता है ! सच, दोनो गाछ, मानो इनपर आलता लगा दिया हो ।"

रवि कह पड़ा, "नदी की कछार में सफेद-सफ़ेद खस के फूल, पीले-पीले सन के फूल सुन्दर लगते है। फिर मनबारा धान का खेत भी सुन्दर, बाड़ी-बगीचा भी सुन्दर है। खाने को हो तब तो इस खोखली सुन्दरता से मन बहलाया जा सकता है, नही तो नहीं । हमें चाहिए वैसा सुन्दर जिसमें अभाव मिटे या काम करने को मन हुलसे, और राज-भर के सुन्दर-असुन्दर को चुनने-बीनने का हमारे पास समय नही । चलाओ कुल्हाड़ी ! बेकार की गप्पों मे समय गया ।"

चोट पड़ी ।

उसी बीच रवि के मन में गुदगुदाया—लाड़-भरा जीवन। एक चेहरा याद आया। कुरुपा ने कहा, "रहने दो बाबू, हम तो काट ही रहे हैं। उधर क्या हुआ, ज़रा देख आओ तो ।"

रवि ने आपत्ति नही की। घूमकर देखने लगा ।

अब आँखों के आगे था एक सपना, सब और सबका मिलकर एक विराट्

क्षेत्र बन गया है। सबको पकड़े हैं, सबको पाल रहे है, वहाँ बाड़-बूड़ा नहीं, मन की ख़ुशी से एक जगह सबके ज़रूरी-ग़ैरज़रूरी बड़े-बड़े बगीचे-बाग, खेत, और स्वस्थ-सबल लोगों के चेहरे से हँसी उफनकर गिर रही है। सब निश्चिन्त हैं।

गली कँपाती दोल (होली का उत्सव) की मौज-मस्ती शुरू हुई। लोगों ने काम बन्द किया, लगे सजने-सँवरने। तेल में चमचम करते सिर पर माँग निकालना, नये कपड़े पहनकर घूम-घूमकर पान चबाना, बाजे, संगीत, यात्रा, मेलन और मित्रों के घर जाकर मिलना। देखते ही देखते दोल की घड़ी बीतने लगी। काम से छुट्टी, बड़ा पर्व, अहोरात्रि संकीर्तन की धूम लोगों को घर में से खींच ले जाती। सप्ताह मे एक-एक दिन बारी डाल देने पर कही न कही ज़रूर हर रोज़ मेलण होता। बहुत पैसा गाँव-गाँव से शहर की ओर ले जाया जा रहा है। महँगे-महँगे शौक़, शहरी दुकान से भाड़े पर लाइट आ जाती है—बड़े-बड़े साहब—मेम, बूढ़े-बुढ़िया, रावण, जटायु पक्षी, घोडा, ऊँट, इसी तरह के कितने वेश आते है। तेलगी बाजा दल के दल, झुण्ड के झुण्ड नाटवाले, भाँति-भाँति के पटाखे, रोशनी, फूल और सजावट के साजो-सामान, इसके अलावा हर दल का अपना विमान, ठाकुरजी, सकीर्तन सम्प्रदाय, मेलण के मदान में भीड़ के भीड़ लोग, क़तार की कतार दुकानें, कितना मजा लगा रहता। देहात की पगडण्डी और नदी के किनारे-किनारे बहने लगा आदमियों का स्रोत—स्त्री-पुरुष, छाता, लाठी, गठरी लिये, रग-बिरगी पोशाक पहने बच्चों को कन्धों पर बिठाये; कमीज़-चादर डाले लोग, छोकरों के नये-नये वेश, नये-नये फैशन। देहात और शहर के मिले-जुले, किसी की फूलदार जाली की गंजी, तो कोई चिलचिलाती धूप में भी गले मे सतरगी ऊन का मफ़लर डाले, कोई चल रहा है कैनवस के जूते पहने, हाथ में चकमक घड़ी, सामने की जेब मे गुच्छा-भर फाउण्टेन पेन—जा रहा है वह यात्रा देखने, पान से रँगा मुँह लाल-काला, कान मे सोने का कुण्डल, हाथ मे लम्बी टीपा बत्ती और कन्धे पर धारीदार मोटा नहाने का तौलिया। रग-रगीली साड़ी बाँधे, झमर-झमर पायल बजाकर धरती दुलकाती हाथ पकड़े जा रही हैं झुण्ड की झुण्ड औरतें। देहात की धूल-भरी सड़क पर एक पीछे एक ढँकी हुई बैल-गाड़ियाँ, उनमे असख्य यात्रा देखनहारी स्त्रियाँ, बच्चे, ईंट-बालू ढोने के लिए बने बाँस के खुले डाले में वे ही लोग ठँसे-ठँसे-से भरे है। चारो ओर रग और चहल-पहल। काम कौन करे ?

परन्तु रवि ने काम रोका नही। चलती रहती काटा-काटी, छाँगना, बाड़ा बाँधना, घर मरम्मत और कितने ही काम।

"तुम लोग काम न करोगे, मत करो," रवि ने अपने साथियों से कह दिया, "मैं किसी को बाध्य नही करता। किन्तु मुझे तो दिखता है कि मेरे लिए छुट्टी नहीं। बहुत काम बाकी पडा है।" इतना खट रहा है एक आदमी, अपने लिए नहीं उन्ही के लिए। यही उसका सहज नेतृत्व है। उन लोगों ने आपत्ति नही की। पर वही बात घूमने लगी मन मे; और उस दिन भी बेसहारा बुढ़िया जगुआ की माँ का घर वे लोग मरम्मत कर रहे थे। कुछ लगे थे माटी गूंदकर एक दीवार खडी करने मे, तो कुछ दूसरी तरफ डाली पीट रहे थे। घूम-फिरकर बात चल पडी।

जगुआ की माँ चासिन है, बेटा-बेटी कोई नही, पति कब का मर चुका। दो एकड़ ज़मीन, बँटाई मे खेती कराती, और लोग डरा-धमकाकर खा जाते। जगुआ की माँ अपना बुढ़ापा दुख मे काट रही है।

"जगुआ की माँ, चलेगी तू हमारे साथ? तेरा खाना-कपडा, भले-बुरे का भार हम पर, तेरी दो एकड की ज़मीन की खेती सामलात मे होगी।"

जगुआ की माँ ने खुशी से हामी भर दी। इसके बाद एक दिन देखा, उसकी ही आँखो के सामने जो छान दब गयी थी, ऊपर उठा दी गयी है। दो कोठरियों मे से एक की दो भीत गिर पड़ी थी, उनका ही काम चल रहा है। जगुआ की माँ झुके-झुके इधर-उधर देख-देखकर आ रही है, आसीस दे रही है—"ओ हो, क्या हुई पड़ी थी यह झोंपड़ी, क्या कर दिया! विधाता हज़ारी उमर करे तुम सबकी। गाँव मे तुम लोगों सरीखे और दस-पाँच जवान हो जायें तो गाँव की सिरी ही मुड़ आती। आजकल तो, बेटे, सब गोसिंघा दैत है, कौन किसकी सुनता है?"

"यही क्या देखती हो दादी," रवि ने कहा, "जब देखोगी, चीटियों की तरह बच्चों की कतार लग जायेगी, खाली तुझमे ही उस जमाने की कहानियाँ सुनने के लिए, और तेरी बाड़ी मे फलेंगे बडे-बडे अमरूद, गाछों पर चढ़कर वे झूलते खेलते होंगे, मायों के काम पर जाने पर उनके बच्चों को देखती रहोगी, तब जानेगी तेरा घर सचमुच हँसी से भर गया है।"

साधु जेना ने कहा, "तभी तो दोल के दिनों मे भी काम चल रहा है। तुम चाहे जो कहो, दोल पर दस दिन हाथ थाम देते थे, तो मन ज़रा फुर्तीला हो जाता था। जब से होश हुआ, ऐसा दोल मेरा तो कभी नही गया। बरस में एक बार तो आयेगा पूनो का परब, जीते रहे तो फिर अगले ही बरस। छोड़ दिए तो हाँय-फाँय होते रहो।"

"पहाड़-सा काम नष्ट हो रहा है। सुबह उगकर सांझ को सूरज जगत में अंधेरा कर अस्त हो जाता है। आदमी की उमर में से खतम हो जाता है एक दिन, वह और आयेगा नही। न किया काम और कर सकोगे नहीं। भगवान नहीं, [illegible]

बजा तानानाना कर हम अपनी ही अरथी उठाये चलते हैं मशान की ओर। इस शौक़ से लाभ क्या है?"

उमा पशायत ने कहा, "काम नष्ट होने की बात कहते हो, फिर धरम-करम भी तो है, करना ही होगा, नहीं तो जीव की मुक्ति कैसे होगी?"

रवि हँस पड़ा, कहा, "अपना धरम अपने पास है। दल बाँधकर 'हो-हा' करने से क्या हमारी बात भगवान् के कानों में अधिक पड़ेगी? हम घर बैठें या काम बन्द करें तो क्या ठाकुरजी हम पर अधिक प्रसन्न होंगे? या उलटे कहेंगे कि ये तो आलसी हैं, निठल्ले हैं? काम की बेला काम होगा। काम न रहे तो धरम होगा। काम को लेकर धरम नष्ट नहीं होगा, धरम को लेकर काम ढीला नहीं पड़ेगा।"

"बस यही तो है सार की बात।" बई मलिक ने कहा।

रवि ने कहा, "इसके लिए तो हमें उलटे होड़ा-होड़ी से काम करना चाहिए। काम को लेकर हर चीज़ का मोल है, सब आदमियों का मूल्य है। हमारे लिए तो जो जितना ही काम करने वाला है, वह उतना ही दरकारी आदमी है। हम ढोल भी मनायेंगे, काम भी कर रहे हैं। आलस नहीं है। लग जाओ, आज ही यह भीत खड़ी करनी है, नहीं तो यह टूटा घर हमारी आँख का काँटा समझो। लोग कहेंगे देखो, ये लोग बातें तो कितनी करते, और किया क्या? कहने की बेला तो हाथी करेंगे, घोड़ा करेंगे, और काम के समय सब फुस्स्—।"

"नहीं, नहीं, फुस्स् नहीं होगा।" ज़ोरों से सबकी मिली-जुली आवाज आयी, "यहाँ तक देखो, अपना काम सरस है, अब और भी सरस होगा, जो कमायेंगे सबके लिए, जो करेंगे सबका होकर रहेगा।"

जगुआ की माँ ने कहा, "पहले के ज़माने की बात अब और कहाँ रही बेटे? छिः कैसा कलजुग है! आदमी को न मारकर क्यों जिला रखा है भगवान् ने, यों परेशान करने के लिए। पता नहीं क्या है उसके मन में? उस जुग के लोग भी कहाँ मर-खप गये, वह सनेह-अपनापा भी जल-भुन गया। बस फिर तो इन्द्र ने भी नहीं पाला, धरती ने भी। वह फल नहीं, गाय की थान भी सूख गयी! अब तो उस जुग के 'पखाल' सपने हो गये।"

"ज़माने के सपने फिर सच होंगे, दादी!" रवि ने आश्वासन दिया, "यह माटी सोयी पड़ी थी, फिर जाग उठेगी। जिस रास्ते टूटे है, उसी रास्ते गढ़े भी जायेंगे। बस अपना मन मजबूत करने से—"

"तेरी बात में फूल-चन्दन पड़े, बेटे! कोटि परमायु दें तुझे भगवान्।"

"तेरा-मेरा भाव आता है अभाव से। गाँव-भर अगर हम सब एक होकर सबके लिए भात, कपड़ा और घर जुगा सकें, और सब चले एक होकर, तब फिर कलह किसके लिए? कोई धनी होगा नहीं, कोई दरिद्र होगा नहीं, कोई साहूकार

नही कि कोई खातेदार नही; न कोई साआन्त होगा न कोई चाकर रहेगा। सब होगे गाँव के रोज़गारिया बेटे-बेटी। कमाया तो सबकी थाली में होगा घी-भात। कमाई कम हुई—सब नून के साथ भात खायेंगे। यहाँ के सारे बच्चों को पढ़ायेंगे। हमने प्रण किया है कि नया समाज गढ़ेंगे ही गढेंगे। हमें कोई अटका नही सकेगा—"

काम करते-करते कही हाथ अलसा गये, पर कान लगे है रवि की बात सुनने के लिए।

आदमी नही, युगदेवता मन्त्र पढ़ रहा है, सब सुन रहे हैं।

आँखों में नया सपना, प्राणों में नयी अनुभूति, नये भाव से परिस्थिति को देख रहे है।

बड़ी-बड़ी साँसों से छाती पर लहरें फैल जाती हैं। आदमी अपनी ताकत को पहचान रहा है।

घर के सामने सहजन का गाछ मानो बोधिद्रुम हो, उसकी नयी शोभा, नया सन्देश, और उसके नीचे सारी जात-पाँत मिलकर मानो एक। ये ग्यारह जने इस नये युग के बौद्ध भिक्षु है और वृद्धा भिक्षुणी यह जगुआ की माँ है।

आलोकलोक से झर रही है—आदि वृद्ध की अमृतवाणी, भाषा का आशीर्वाद, जीवन का सहज सगीत।

घर बन रहा है, वहाँ पर गारा, माटी, डालियाँ, बाँस सब पड़े है।

सामने टूटे घर का कंकाल पडा है। नित देखे सरल जीवन के सम्भार को समेटकर झलक उठता है नये दिन का स्वप्न।

सब पेट भरेंगे, कोई भूखा नही रहेगा।

सबके घर होंगे, कोई पेड़ की छाया मे नही पडेगा।

जाति रहे, धर्म रहे, पर सब आदमी भाई-भाई है।

कुछ बात न थी, जगुआ की माँ, भो-भो रो पड़ी। मानो धनुप का गुण टणक उठा था, झनन् कर टूट गया।

सब चौक पड़े। "क्या हुआ जगुआ की माँ, क्या बात हुई ?" जगुआ की माँ सुन नही रही, रो रही है। बई ने कहा, "आहा हा! बूढ़ी ठहरी, कुछ याद आ गया।"

गगा ने कहा, "बेचारी जनम से दुखियारी औरत। याद के लिए ढेर सारी बाते है। कौन-सा दुख है जो उसे नही मिला ?"

साधु जेना ने कहा, "उसका पति था पितेई सोई। पाँच हत्था मरद। खड़ा होने पर लगता अघासुर की तरह। जगुआ का जनम हो गया था तब, बेटे के जनम पर मन मे खुशी न थी, पर जितना भी हो मजूरा आदमी ठहरा, देनदारी के बोझ से कमर झुक गयी थी। भरत साहू महाजन ने जब डराया, कहा कि

अबकी कुरकी लाकर झोंपड़ा उखाड़ ले जाऊँगा, तो बेचारा अधिक पैसे कमाने के लिए गया कलकत्ता।"

जगुआ की माँ सुबक उठी थी।

गंगा हलवाई ने कहा, "हाँ, गया सो गया, उनकी बाट देखते-देखते घरनी की आँख का पानी सूख गया। और फिर आया नहीं, कोई ख़बर भेजी नहीं।"

रवि ने पूछा, "कहाँ है वह?"

साधु जेना ने कहा, "हवड़ा पुल देखा, काली देखी, कलकत्ता देखा, दो-दो बरस में जो कमाया सब खानगी के पीछे उड़ा दिया, आखिर में जूट मिल उसे खींच ले गयी, बस वहीं ख़तम।"

रवि ने पूछा, "फिर?"

गंगा ने कहा, "फिर जो हुआ करता है, वही हुआ। जगुआ की माँ दुख में दिन काट रही थी। मेहनत कर जीने लगी। ख़ैर, जगुआ ही रहता! मेरे ही साथ का छोकरा, भगवान् ने उसे भी उठा लिया, हैज़े में चला गया।"

जगुआ की माँ की रुलाई अबकी किसी जन्तु की तरह 'गें-गें' हो गयी थी।

साधु जेना ने कहा, "फिर संसार नहीं बसाया। लोगों ने कितना कुछ नहीं कहा, पर कान दिये ही नहीं। बस, ऐसे ही धान कूट, मजूरी कर दुख-सुख से जो कुछ सहेजा, चोर ले गये। उमर ढली, बल-हिम्मत टूट गयी, बूढ़ी पड़ी रह गयी बस केवल रो-रोकर मरने के लिए। आह, भगवान् दुख देते हैं जिसे, उसे अच्छी तरह देते हैं।"

नये युग की शुरुआत की लाली को देखकर जगुआ की माँ अपने जले-ख़ाक हुए जीवन को याद कर रो पड़ी थी।

रवि की आँखें छलछला आयीं। कहा, "दीदी, रहने दे, समझ ले हम सब तेरे बेटे हैं। एक बेटा खोया है, करोड़ बेटे पाये हैं। ये देख, हम सब जीवित हैं तो, मरे नहीं। फिर तुझे काहे की चिन्ता?"

याद आया, विजय की दुन्दुभी बजेगी, अवश्य बजेगी, उसी उल्लास के नीचे-नीचे धूल के कण की तरह चिपके होंगे—अतीत के अँधेरे युग के दुख-अत्याचार, जर्जर आदमी की स्मृतियाँ। वे तर्पण खोजती होंगी।

जगुआ की माँ सुबक-सुबककर चुप हो गयी। दल के लोग 'बटुवा' खोलकर पान लगाने बैठ गये। कोई पान के पत्ते में चूना मल रहा है, कोई सरौते से सुपारी काट रहा है। कोई बटुवे में खोज रहा है एक-आध टुकड़ा कत्थे का।

रवि ने ऊँची आवाज में कहा, "देखो, समय गया, काम रुक गया।"

किसी ने कहा, "अरे रे, लगो उठो, उठो-उठो।—"

फिर काम चल पड़ा।

कुल्हा ने मुँह फाड़कर गुण्डी (तम्बाकू मिली सौंफ़) थोड़ी फाँकी। हँसकर

बोला, "भई, आप जो भी कहो, यह दोल की घड़ी है। ये अमिया, कोयल की कुहू-कुहू, मधु-मक्खियों की भिन्न-भिन्न, यह समय अलबेला ही है। फ़ालतू ही आदमी अलसा जाता है।" कृष्णा ने आँख मटकाकर बात कह दी। सब हँस पड़े। रवि हँसते हुए चेष्टा कर रहा था कि आँखों में आये सपने को घुड़ककर दूर भगा दे।

आधी रात! कचहरीघर के वरामदे में खजूर की चटाई पर रवि लेटा था। आँखों में नींद न थी। मच्छर घेरे थे। रुक-रुककर हवा देह को छू जाती, मच्छरों के काटने की जलन कम हो जाती, पर फागुन की उस मन हुलसानेवाली हवा में मन की जलन बढ़ जाती। बार-बार याद आ जाती है छवि!

इन कुछ दिनों में नयी दुनिया गढ़ने के तरुण उच्छ्वास मे उसे आत्म-विश्वास हो आया है, मानो पैरों के नीचे की मजबूत माटी का अनुभव किया है। अब वह रास्ता जानकर आगे बढ़ता चला जायेगा। मानो मन को मज़बूत कर एक करारी-सी चपत गाल पर लगाकर मच्छर को घुड़काया हो—वैसे ही वह अपने आप को सड़ाक् से पीटता-सा पूछ रहा है—क्यों है उसमे यह विकार? क्या यह दुर्बलता नही? कामना का निरोध किये बिना शान्ति कहाँ? नारी की चिन्ता मे मन को लगा देगा तो फिर कैसे मूर्त कर सकेगा वह अपनी योजना को?

तर्क उड़ जाता। विकल होकर वह बार-बार छवि का सपन रूप आँखों के आगे देखता, निराश्रय-सा लगता, मानो वह उसके जीवन का अपूर्ण अंश है। न पाने तक जीवन का कोई अर्थ नही है, कोई उद्देश्य नही, कोई मूल्य नही।

ख़ुद से पूछता—यह कैसे सम्भव होगा? क्यों वह इस मायामरीचिका के पीछे-पीछे दौड़े? हृदय स्तब्ध हो आता है, केवल एक चेतना की लहर बहती चली जाती है, देह की सत्ता भूलकर।

अनुभव हो रहा था मानो उसके अपने भीतर ही कही द्वन्द्व लगा है। असहिष्णु हो उठा, हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। मन से दूसरी चिन्ता भगाने का प्रण कर उसने अपनी योजना के बारे में सोचा। इधर-उधर घूमने लगा।

जो काम उसके अन्तर से निकलकर उसके हाथ मे दायित्व बन गया है उसे करना ही पडेगा। पहले दस घरों का एक समूह, इसके बाद फिर और पाँच-दस घरों को इसमे गूँथना होगा, फिर औरो को। इस तरह गाँव-भर को। फिर गाँव पर गाँव। और यों सारे इलाके को। जिधर जाओ बाड़ नही, छोटा-बड़ा नही, तेरा-मेरा नही। होगा सब सबका, सब लोग एक दूसरे के। तब यहाँ आदमी भाई-भाई होगा, सारी धरती एक होगी। घने पेड़ के नीचे के अन्धकार की तरह

उसकी चेतना पर छाया घिर गयी देश-विदेश के आदमी के दुःख की, नीग्रो, याकी मजूर, चीनी, चासी, विलायती साहबों के कोयला-खदान के मजूर, यहूदी खाना-बदोश, भूखा ईरानी, अत्याचार पीड़ित जंगली, इस देश के अगणित श्रमिक, मजूरे। पेट मे भूख, पीठ पर गर्म सलाखो के दाग, सारी देह में लकीरें, हाथ-पैरों मे कड़ियाँ, वे रो रहे हैं। शोषण कर खा रही है आदिम बर्बर स्वार्थ की पूँजी, हाथ पीसकर युगो के बाद युग बीत जाते है, वे रोते रहते हैं। वे सब बिखरे-बिखरे है, व्यष्टि मे हीनवल हैं, उन्ही भूखे-प्यासे, असहाय, नगण्य, अगणित आदमियो की दुनिया का प्रतिनिधि कहलाकर अपने जाल में फँसाकर, भूखे मुखो मे बम फेककर मशीन चला रहा है असभ्य स्वार्थवाद का राक्षस। नाना भेस में, नाना वेश मे। मानव जाति अगर जीना चाहती है तो उसे एक होना ही पड़ेगा, उस एकता के सेतु निर्माण में उसका भी कुछ कर्तव्य है, वह गिलहरी होगा बालू के कण ढोनेवाला। तोड़ना ही पड़ेगा यह कुसस्कारो का जड़ पहाड़—महासेतु निर्माण के लिए नन्हे बालूकण बनाने को। इसी के लिए शायद इस मानव-स्रोत के बहाव की सर्जना हुई है।

समय नही है, वे रो रहे हैं।

अपने अन्तर मे उसे हूक-सी लगी। अनुभव हो रहा है मानो वह विच्छिन्न है, वह उखाड़ा हुआ है, फिर उस अनुभूति की अपूर्णता के उत्तर के रूप मे आ पहुँची छवि!

सोचते-सोचते उसे लगा जैसे वह उसी के लिए सुबक रहा है, अस्थिर हो रहा है। इधर-उधर होते हुए उसकी गति मे एक तरह से समान छन्द आ गया है, मानो वह दीवार घड़ी का लोलक हो, छवि ही मानो—व्यापक रूप से उसके अभाव का उत्स हो, वही से झर रही है अभाव मिटाने की योजना, गढ़ने की प्रवृत्ति। वह पुरुष नही, प्रकृति है—आकर्षण से जन्मती है ध्वस और सर्जन के लिए शक्ति, प्रवणता को खुला रखकर जीवन का ज्वार बहा देती है।

चौककर वह जैसे अटक गया। अर्थ भूलता जा रहा है। उसे लगा जैसे अर्थ नही, कोई भ्रान्ति है। अपने आपको तौलकर बल को ही दुर्बलता समझ वह डर गया। चिन्तन की लीक को जबरदस्ती मोड़ते-मोडते वह अपने आप चाँदनी रात मे डूब गया। गण की धारणा में जिन्हें वह 'वे लोग' सोच रहा था, वे सामने नही हैं। निश्चल रात में, वह स्वयं ही उनका रूपान्तर है, उनका अभाव ही उसके अपने अभाव का रूपक है, सुनसान चाँदनी रात, सोये गाछ में भी नया रूप, सामने उसी चाँदनी रात को विस्तृति है, और किसी दूर जगह से आ रही है व्यथातुर होकर अभाव की छिपी लहर, आँखों मे सपने का मोह है।

चटाई को पैरों से सरकाकर एक ओर कर दिया। बई मलिक के सिर के पास वाली फ़र्श पर ही रवि लम्बा पसर गया। फागुन की चिर युवा रात, चुप-

चाप उसे गोद मे ले गयी। रवि को नीद आ गयी।

सुभद्रापुर का मेलण—बहुत मशहूर है।

पचदोल की रात। बाजे, नाच, सकीर्तन से कान फाडते, रोशनी और पटाखों मे आँखे चुँधियाते हुए, माटी मे हवा में हलचल मचाते हुए दल-बल लिये कितनी ही दूर-दूर से धार की तरह पहुँचते आ रहे हैं पाँच सौ विमान। सुभद्रापुर गाँव के सिरे पर अमराई के पास के छोटे-से मैदान में कुछ समय ठहर दम लेते है, फिर एक के बाद एक होकर जुलूस बाँधकर चलते है गाँव के निचले चौडे रास्ते मे। सुभद्रापुर बड़ा गाँव है। उसका चौड़ा रास्ता सीधा चला गया है गाँव के उस ओर 'बड़े मैदान' तक। कभी इस गाँव में नदी की बाढ़ का पानी भर जाया करता था, सो रास्ते के दोनों ओर की डीह आठ-आठ हाथ ऊँची है, उनपर सटे-सटे ऊँचे-लम्बे मकान है। खड़े पहरेदार की तरह कतार की कतार नारियल के पेड ! उस गहरी नदी की तरह रास्ते मे बहता-सा चला जाता बरस मे एक बार वह मेलण का जुलूस। हँसी-ख़ुशी, मौज, गाँव-गाँव की आन। सब दो पाव रास्ता जाने के बाद 'बड़े मैदान' मे फूटकर निकल पड़ते। वहाँ मेलण होता; पचास हज़ार लोग और पाँच सौ विमान एकत्र होते। फिर बाज़ार, मेला, सकीर्तन, पाला, नौटकी, मृदग की थाप, दोल के समय घण्टे की ध्वनि, चहल-पहल, सब कुछ उबलता-पसीजता रहता।

और मन में उमंग भरे मौज-मस्ती मनाने भागते-दौड़ते आते गाँव-गाँव के देखनहार।

फिर अहम् के वाद-विवाद और लड़ाई के केन्द्र बनते—ये आदमियों द्वारा ढोकर लाये गये विमान, चारों ओर के दलो को लेकर।

उस गाँव की टेक का तकाजा है कि आगे बढ़कर सबको लाँघकर मेलण के मैदान में पहुँचा जाये। अत गाँव-गाँव के बीच चल पडती मार-पीट। लगता जैसे नाना वर्ण के भिन्न-भिन्न छवियों में यह उद्धत अरणों के गोठ का जुलूस है, खेत के बीच शान्त सयत होकर जीवन-यात्रा करते हुए भी मन मे जैसे अरणा-प्रवृत्ति छुपी रहती है। जंगल मे बाजे को ढाँव-ढाँव सुनते ही महाबली बाघ के छलाँग भरने कीत रह, दोल के बाजो से चौककर बाहर निकल आती है। गुलाल की धूल-सा घुस जाता है *लाल ख़ून का विकार, जर्जर आमाशय, हाड़-हाड़, नस-नस* दिखता नाटा-सूखा गाँव का जवान भी अपनी अठाईस इच की छाती को कसकर फुलाता हुआ अंगो को फड़काता हुआ अपने दुर्बल हाथ को कसकर भीचता और मार-पीट के नशे में डूबकर गरज उठता, "मारो, मारो, मारो।" इसके बाद

सिर फूटना-टूटना, चारों ओर हाँ-हूँ, बीच बचाव करनेवाले, पुलिस, बाद में मुकदमेबाजी। पर इतने से ही छूटता नही। दो गाँवों के बीच अदावत चल पड़ती। ये उसकी जमीन पर फ़सल कर लेते है, वह इसका पैर तोड देता है। इधर से उस गाँव का रास्ता बन्द, उधर से इस गाँव का। इसके बाद गाँव में और अधिक चन्दा, गाँव तैयार होते और अधिक चमक-दमक से जुलूस निकालने के लिये, अगले साल दोल पर लड़ाई करने के लिए। अतः कभी-कभी बुलाया जाता शहर के पहलवानों के अखाडे को। रफू मियाँ, धनी साहू, हुदू जेना नगे बदन सिर पर पगड़ी बाँध हाथ मे लाठी लिये पक्के देहाती वेश मे विमान को हटाते-सरकाते मेलण के मैदान में पहुँचते।

यही तो अपना गाँव है।

सुभद्रापुर का मेलण देखने के बाद आकर गाँव के रास्ते के सिरे पर खड़ा रवि सोच रहा था।

काया के पास छाया की तरह टहल रहा है बई मलिक, असल मे उसी के कहने-सुनने पर रवि सुभद्रापुर का मेलण देखने आया था।

चले जा रहे है आदमी, धारा की तरह रेल-पेल करते, काम चाहे न हो पर जल्दबाजी, मानो बगलवाले को धकियाकर आगे बढ़े बिना अपना अस्तित्व समझना ही असम्भव है, कोहनी खाये चाहे बूढ़ा हो या बच्चा हो। औरत आँचल से आँचल बाँधे भयविह्वल आँखों मे 'जीजी, जीजी' 'माँ-माँ' चिल्लाती-चिल्लाती इधर-उधर हो जाती है, पीछे-पीछे गरजते पिघलते आ रहे है विमान उठो-उठो, उठो—डाईकि डिडाई डाई—जो हो, सुन्दर दिख रही है यह भीड़, यह जुलूस। भावनाएँ चाहे जो हो परन्तु आँखों मे आयी चमक से इनकार नही किया जा सकता।

किन्तु भावना ? रवि ने तिक्त चिन्तन में ही दोल की भीड़ और जुलूस को सोचकर देखा—रुपयों का प्रतिष्ठित व्यक्तिगत पूँजीवादी समाज का चेहरा देखने में सुन्दर जरूर है, और भी अधिक सुन्दर थी आक्रमणकारी लुटेरे अभिजात समाज की छाया। और वन में बाघ ? वह तो सबसे सुन्दर है। किन्तु सचमुच क्या यही सौन्दर्य है ?

"वाह, वाह, कितना जोरदार पटाखा, कितनी रग-बिरगी रोशनी है !" बई मलिक ने चीखते-से कहा, "वास्तव में पटाखा इसी का नाम है, देखकर तबीयत खुश हो जाती है।"

भावना मे टकराकर रवि ने देखा आँखों से। किस गाँव का विमान है ? यह बारम्बार पटाख़े छूट रहे हैं। अकेला बई मलिक ही नही, चारो ओर से कितने लोग देख रहे हैं, वाह-वाह कर रहे हैं।

"वाह-वाह। वाह !—शाबास ! बहुत अच्छे पटाखे हैं !"

मन कड़ुवा होता जा रहा था। देख-देखकर ऊब हो आयी। इतने बड़े मेले की घो-घा के बीच रवि को बिलकुल अकेलापन लग रहा था।

बाहर से लौट अन्दर घुसकर उसकी चिन्ता पैदा कर रही थी, एकान्त का पुराना रूपक—उसका घर, उसका परिचित परिवेश। पिता, माँ, उनका परदेश में नौकरी करनेवाला भाई, उसका समाज। घर छोड़ने के दिन से मानो सब कट गया है, फिर भी समष्टि है उसके गठन में, जीवन के साथ उसके सम्बन्ध मे। लोग क्या सोचते होंगे? किस दृष्टि से उन्हें देखते होंगे? लगता है, जाने कितनी दूर से वह बह आया है, बहाव का ज़ोर अपने अन्दर ही बढ़ने लगा है, और फिर कम नहीं होगा। वह कितना समझदार लड़का था उनका, कभी अपनी जानकारी में सवाल किया नहीं, सब कुछ मान लिया, पर अब सोचते समय ख़ुद को देखता है तो कितना अभिन्न लगता है।

अकेला! अकेला! सोचते-सोचते मन को चौंकाता हुआ पाटेली गाँव याद आ गया, और वहाँ छवि। मानो बीच में कितने ही योजन रहें—उस सिरे पर बाड़ के पास छाया तले रहकर कोई उसकी ओर देखता प्रतीक्षा कर रहा है। निराश्रय की तरह, अँधेरी रात मे दूर के उजाले की तरह। निराश्रयता ही उसका अनोखा अंकुश है। धीरे-धीरे कितनी लोभनीय दिखती जा रही है वह—अंधेरे के उस सिरे से आगे की हलकी आँच हिल उठती है, थर्रा जाती है। अपने अंदर वह अनुभव करता है—बढ़ते हुए आन्दोलन का। वह सिर्फ़ भावना ही नहीं स्थूलदेही भी है, देह कड़-कड़ कर रही है। रक्त की गरमी से चेहरा तप रहा है। देह की आकुलता और मन की आकुलता एक हो जाती है। कुछ नहीं दिखता, कुछ नहीं सुनाई पड़ता, उद्‌भट धारणा आ रही है। नीचे की इस भीड़ को नीचे ही छोड़कर मानो आकाश मे उड़ा जा रहा है—कोसों दूर रहती अपनी प्रणयिनी से वह स्पर्श की महक और दिशा का अनुभव कर रहा है, और कुछ नहीं। उसका नया जागा विद्रोह मानो रास्ता दिखा रहा है, कि आदमी की अन्तर्निहित शक्ति अप्रतिहत है, अपराजेय है। परिस्थिति के केन्द्र में है आदमी। निःशब्द से पौरुष आत्मप्रकाश कर रहा और रवि अपने आनेवाले स्वर्ण युग की योजना पर सोच रहा है। *सिर्फ़ स्वप्न नहीं, सम्भावित कार्य का सम्भावित फल समष्टि है।* सामने आशा, अन्तर में साहस और बल।

चले जा रहे है विमान के बाद विमान, अविराम, अन्दर भी विमान ही चल रहे है, उसकी आशा, उसका सपना है, कभी अकेला वह और छवि है, कभी वह और उसके सगठन का चित्र है, बालू का घर गढ़ा जा रहा है, बालू का घर ढहता है, फिर चलता है घर खड़ा करना, परिस्थिति पिघल रही है, एक नये ही आकार मे ढल जाती है। अन्धकार को हिलाकर क़तारों में लम्बी हो जाती है आदमी के हाथ की मशाल, वह क्षुद्र देह की सीमा मानता नहीं, सामयिक शासन के

परिवर्तनशील नियमों को चरम नहीं मानता। वह स्रष्टा है, वह आदमी है, वह सृष्टि का खिलौना नहीं।

वह एक सहजन के तने पर आधा झुका खड़ा था, एक ही जगह, न हिलना न डुलना। बाहर और भीतर के रंग उबल-उबलकर उसकी अधखुली आँखों के आगे धब्बे-धब्बे बन टिमटिमा जाते हैं। दिन-भर मेहनत की है, देह क्लान्त है, उसपर फिर यह यात्रा देखने का झमेला।

कई कर्कश चीखों ने उसे स्वाभाविक अवस्था में ला खड़ा किया। अचानक हो-हल्ले के तूफान से चौंककर, आँखें फाड़-फाड़कर देखा—रास्ते के सिरे पर दो विमान गाँव में एक साथ घुसना चाहते हैं, एक के अन्दर घुसते न घुसते दूसरा उसे धकियाकर आधा अन्दर घुस गया, दोनों दलों में जोरदार झगड़ा लग गया है, ख़ूब गरज-तरज, चारों ओर हाँ-हाँ, हूँ-हूँ। देखनेवाले जमा हो गये हैं, झगड़े से कुछ हटकर आदमियों की गोल-गोल दीवारें घेरकर खड़ी हो गयी हैं। प्रतीक्षा किये बिना रवि छलाँग भरने की तरह झगड़े की ओर दौड़ पड़ा।

वह पहुँचा तब तक हाथा-पाई से बढ़कर बात लाठी पर उतर आयी थी। लोगों का घेरा कितनी जल्दी पीछे हट-हट जा रहा है, उनके पीछे ठेला-ठेली, आतंक की चीत्कार, जगह-जगह ढह गयी दीवार की तरह आदमी पर आदमी पछाड़ खाकर गिर रहे हैं।

लाठी पर लाठी चल रही है, आदमी पर मार पड़ रही है, दोनों विमान और साज-सज्जा पर प्रहार किये जा रहे हैं। दोनों हाथों से दोनों ओर की भीड़ को रवि ने हटाया, डुबकी लगाने से पहले दोनों हाथों से पानी हटाने की तरह हाथ उठा उन्हें रोकते हुए दौड़ गया ठीक बीच में। इसे कभी पकड़ता है तो कभी उसे रोकता है। अपने ऊपर वार सह रहा है। अपनी देह की हालत क्या हो गयी इधर ध्यान भी नहीं। कभी इसे बाँहों में भरकर पीछे हटा देता तो कभी उसकी लाठी रोकता, कभी किसी की लाठी खींच लेता। इस तरह जब घिरनी की तरह घूमने लगा तो अचानक अनुभव हुआ कि उसके कपाल पर कोई जोर की चोट पड़ी है। एक साथ मानो वहाँ लद गयी यन्त्रणा और आग। आँखों पर, नाक के रास्ते और होंठों से होते हुए बह गया उसका अपना लोना रक्त, फिर भी झगड़ा रोकने के लिए उसके दोनों हाथ ऊपर ही उठे हैं, और तब धुँधली पड़ती नजर से उसे दिखा जैसे वह अकेला नहीं है और भी कई लोग झगड़ा बन्द करने के लिए दौड़े आ रहे हैं, लोगों के पीछे लोगों की भीड़ चली आ रही है। उसका ख़ून बहाना व्यर्थ नहीं गया। इतना ही आश्वासन था उसकी चेतना में, चेतना के लुप्त होने से पूर्व।

सुभद्रापुर के मेलण में जाने के लिए पाटेली गाँव से अर्पात पधान ले गया था अपने दल का नया विमान। आगे-आगे, चमक-दमक के साथ। इस कार्य के लिए कोई अचानक हो उत्साह आया हो सो नहीं, पहले से योजना बनी, बहुत दिनों तक सलाह-मशविरा और बैठकें हुई थी।

जोरदार चन्दा उगाहा गया था, पक्का बन्दोवस्त किया गया। ख़ुफिया ख़बर रखी गयी थी कि दूसरे पक्ष के लोगों का बन्दोवस्त क्या है। जब गाँव के पुराने दल के विमान को कन्धों पर लेने के लिए अहीरों को फुसलाने में घड़ी-भर समय लग गया और उनके आने के बाद फिर दिक्क़त पैदा हुई उनका पावना तय करने में तब किणेई ओझा और अर्पात पधान आगे बढ़कर अपने पक्ष का विमान उठाकर ले चले। मोल-भाव करने की ज़रूरत पडी नहीं, क्योंकि अहीरों मे से ज्यादातर थे उनके ही दल के उद्योक्ता। वे ख़ुद ढोते है अपना भार भाड़े पर मजूर नहीं लाते।

और रास्ते ही रास्ते विमान के सहारे अपने कन्धे की चादर उड़ाता अर्पात पधान कहता जा रहा था—"जल्दी-जल्दी भाई, अपने गाँव की बारी आने पर अपना विमान ही प्रतिनिधि बनकर घुसे। वे लोग लौटे शिशुपाल दल जैसा, पाये मजा।"

उस दल का विमान आगे चला गया, यह ख़बर इस दल के कानों में पहुँचते देर नही लगी। रास्ते में औरतों में भी हँसी मे कहा-सुनी हुई, बच्चों मे तो सहज ही चर्चा हो गयी। उस दल के भगत महाराणा की बहू ने इस दल के कपिल महाराणा की बहू को अपने चबूतरे से आवाज़ देकर कहा—"क्यों री चाँद, ये तो विमान लेकर चल पड़े, आगे पहुँचेगे। और तुम्हारे वे किस दिन जा रहे है? वही मसल हुई कि पगडी बाँधते-बाँधते कचहरी वरखास्त!"

"हाँ री चाँद," कपिल की घरवाली ने कहा, "घोड़ा दौड़ते-दौड़ते जहाँ हाथी डग भरते-भरते भी वहाँ। अरी चांद, भेट तो वही होगी, आगे-पीछे में क्या है?"

"हाँ री, जानती हूँ, शिकार की बेला कुतिया हगने गयी। भेंट की बात छोड़ो, आदमी के पैरों में कोई पंख तो बँधते नहीं जो हवा में उड़ जायेंगे। यही तो रात हो जायेगी!"

"अरी बसखाई, तू किसे कुत्ती कह रही है? तेरा घरवाला बना साँढ़ और बाकी के सब कुत्ते! इसे ही कहते है सूखे गू पर पानी पड़ा है...और नहीं तो क्या! भला रे भला, झूठे ही फूली जा रही है! फूला ढोल, फूल-फूलकर भर लो पोल।—"

भगत की घरनी ने फुंकार मारी, कटखनी बिल्ली की तरह पीठ मोड़, नली से पंजा मार, ऊपर की ओर गरदन झुकाकर, स्वर बदलती जोर लगाकर गरज

उठी—"है री, डाकिनखाई, मुण्डी टूटी, कितनी उछलती है ! जरा-सी बात पर चिहुँक रही है। है री खसमखानी, तुझे तेरे बाप की सौगन्ध है। एक बार फिर कहना तूने क्या कहा तेरे, मुह में कीड़े पड़ें, तू फिर तो कहना—

पल-भर में आग लग गयी। कपिल की स्त्री भी समान रूप से जहर उगलने लगी। फिर चल पड़ी दोनों के बीच पद पर पद। गाली-शास्त्र के उच्चारण में दोनों एक दूसरी से बढ़-चढ़ कर—

"अरी डाकिनखाई तू—"

"अरी तू सत्यानाशी—"

"अरी तू मर जानी—"

"अरी तू आग लगी—"

"अरी बन्दरमुँही तू—"

"अरी तू नेवलामुँही—"

"अरी निशाचिनी—"

"अरी डाकिनी !—"

चली दोनों चबूतरों से गालियों की बौछार। दो जगह दो कल है, वह सिर को ऊपर-नीचे झटक झटककर भूत लगने की तरह खाली गरज रही थी, खोज रही थी उग्र से उग्र विशेषण, गालियों से भरी अपनी भाषा उसे कम पड़ती, विशेषण छोड़कर वह वाक्य उगलती, शत्रु की ओर विविध असगत क्रियाओं की कल्पना कर भाषा फैला देती, आदमियों के रिश्ते चुक जाते तो आवाहन करती हाथी, घोड़ा आदि का। इसके बाद उठकर खड़ी हो अँगुली चिटकाकर, सिर के बाल खोलकर, पल्लू झुलाकर, थेई-थेई कर नाचती, उछलती, अड़ोस-पड़ोस की भीड़ इकट्ठा न करने तक, या फिर थककर अवश हो चुप होने तक, जो पहले होता।

वे एक दिन चाँद-सहेली बनी थी, दोनों बहुएँ।

वही चाँद उगा, चढ़ा आकाश में, गाँव का पुराना विमान बाजे-गाजे के साथ चल पड़ा।

उनका झगड़ा थमा नहीं, कानो को वेधती उनकी आवाज बढ़ती ही गयी।

एक दिन कुआर पूनम की रात इसने उसके और उसने इसके गलबहियाँ डालकर कहा था, "आज से हम चाँद-सहेली बनी !" इसने उसके मुँह में और उसने इसके मुँह मे अत्यन्त सनेह से भर दिया था खील, केले, नारियल के लड्डू, छेना, गुड़, दही, गन्ना, ताड़गुड़ के गजा, ककड़ी के टुकड़े, चाँद-भोग में से थोड़ा-थोड़ा।

आज उस चाँद का सम्मान ख़त्म हो गया। गाँव जो फट गया है। सचमुच लगता है जैसे एक धरती के दो खण्ड हो गये, भारत और पाकिस्तान।

लोका नायक रास्ते में गाँव के पुराने दल को उत्साह देता—"जायें वे चाहे आगे, कितना ही दौड़ें, क्या होगा ? कहावत है न दौड़-दौड़कर खाये करेले को डाल, आप ही मुँह तीता हो जायेगा। लोग पूछेंगे नही क्या—क्यों, ठाकुरजी तो राधेश्याम हैं, और ये आलतू-फ़ालतू कौन है ? इन्हें किसने निमन्त्रण भेजा ? या अपने आप ही ! कहते नही !

घण्टा नही, ढोल नहीं झिकरिआ के देवता
गाय नही भैंस नही, जरीपड़ा के बेहेरा
थल नही कूल नही सईंशी के पाणी
खरल नही मूसलो नही, दही गाँव के पत्ती
उस्तरा नही नहरनी नही, खेरस गाँव के वारिक
धुरी नही चक्का नही उपुमा गाँव के रथ[1]

सब हो-हो कर हँस पड़े। बूढ़े विदेई बेहेरा ने कहा, "ये सब खाली नाम की बातें हैं, यह सारा उसी छोकेरे अर्पतिया का नाटक है ! क्यों रे, गाँव तो सबका है, उसमे फिर दल कैसा, भाग कैसा, वाद कैसा ? कानी गाय का न्यारा गोठ ?"

लोका नायक ने आवाज लगायी, "चलो, चलो, चलो रे भाई, देर भई—"

कुशिया केवट ने कहा, "अब देर का और जल्दी का क्या सवाल काका ! रास्ता पकडा तो पूरा हुआ। गिरगिट की दौड़ ग्राड़ तक। कितने भी आगे जायें उस दल के लोग कोई सुभद्रापुर का छोटा मैदान टपकर रास्ते मे बढ़ जायेंगे ? रास्ता कौन छोड़ेगा उन्हे ? जो गाँव आगे-पीछे हैं उनका नम्बर लगा है। उनकी पारी आयेगी कब, जरीपाड़ा का विमान जाने के बाद पाटेली गाँव की बारी आयेगी। तब तक तो हम लोग पहुँच चुके होंगे, देखें आज उनकी बात !"

सब हँस पड़े।

गाँव का झुण्ड चला जा रहा है। हँसी-ठट्ठा, दूसरे पक्ष के लोगों की बात छेड़कर उनकी चर्चा, गाली। रास्ते में कोई गाँव पास आ जाता, इस गाँव के लोग जोर से ढाँव-ढाँव बाजा बजाते, एक-एक पटाखा छोड़ते, वीर की तरह बढ़ते चले जाते गाँव के रास्ते मे। फिर उजाड़ रास्ता पडता, उत्साह के बीच

---

1. झिकरिया, जरीपड़ा, साईंशी, दही, केरस और उपुमा गांवों के नाम है। बेहेरा, पाणी, पति, बारिक, रथ आदि उपाधियाँ हैं। झिकरिया के 'देवता' ब्राह्मण होते है, विग्रह नही। जरीपड़ा के बेहेरा (अहीर) क्षत्रिय होते हैं, फिर भी बेहेरा कहलाते हैं। साईंशी के ब्राह्मण 'पाणी' (जल) कहलाते हैं। दही गांव के 'पति' ब्राह्मण होते है यद्यपि उड़िया में गांजे के पत्ते को पत्ती कहते है। खेरस गांव के 'बारिक' क्षत्रिय होते है, यद्यपि उड़िया मे बारिक 'नाई' हैं। उपुमा गांव के ब्राह्मण रथ होते है यद्यपि रथ कहने से जगन्नाथजी का रथ समझा जाता है।

सिर उठाती एक आशंका का रोड़ा, कि दूसरे पक्ष के साथ कोई झगड़ा-वगड़ा न हो जाये आज !

और दूसरा पक्ष आगे-आगे विमान लिये चला जा रहा था, सिंह-पराक्रम के साथ बीच-बीच में रण के नारे की तरह एक साथ सबकी आवाज—"जय विनोदविहारी की जय !" नये ठाकुरजी का नाम है विनोदविहारी। आली तोकापाडा के गन्धर्व महारणा के हाथ का काम, सजीव प्रतिमा। विका मुदुली के सम्बन्धी आली के राजन मुदुली की सहायता से फ़रमाइश देकर गढ़ी गयी और इतनी दूर आकर प्रतिष्ठा हुई थी।

लो सुभद्रापुर पास आ गया। देखो कितनी सटकारें से आ पहुँचे। अर्पति पधान ने कहा, "अब सीधे मेलण मैदान की ओर, आगे सो जीते, पाछे सो हारे, पहले आये हैं सो आगे जायेंगे, इसमें किसी को कहने को क्या है?"

जल्दी से बढ़कर ख़ूब रोशनी करते हुए बाजे गाजे सकीर्तन के साथ ये लोग सुभद्रापुर के छोटे मैदान में पहुँच गये। किन्तु अचानक मानो नदी से बहकर समुद्र में गिर पड़े हों, वहाँ तो कितने ही गाँवों के लोग जमा हुए हैं, असंख्य रोशनियाँ, असख्य बाजों की गड़गडाहट भरी है। कितने-कितने विमान रखे हैं। इससे बढ़कर वह, और उससे ऊँचा वह; किसी का बड़ा बाजा, किसी के साथ नाचनेवालों का दल तो किसी के साथ ऐसे कई दल; जात-जात के वेश और जुलूस। वहाँ अर्पति पधान चुँधियाते हुए चारों ओर देखने लगा। इतनी बड़ी भीड में मानो अकेले गाँव का तेज मुरझा गया, परायों का साज देखते-देखते इनके छोटे-से दल के लोग भूल गये कि वे भी इस साज के एक अंग है, वे भी सजकर आये हैं। कुछ समय भौचक खड़े रह उस राव-राव शब्द और असीम भीड़ के बीच अपनी दिशा तय की। फिर धीरे-धीरे उनका दल बढ़ा सुभद्रापुर गाँव के रास्ते के सिरे की ओर।

उस सुरंग की तरह के संकरे रास्ते पर विमानों की एक के पीछे एक कतार लग गयी है; चल रहा है छत्र, चँवर और पताका के साथ बूढ़े-बुढ़िया का नाच, मेम और साहब का नाच-तमाशा। आगे बढकर धक्का देते हुए विमान आगे बढ़ाने लगे तो मुँह तमतमाकर एक दल के लोग उनके दल के लोगों को इधर-उधर बाँह पकड़कर खीचने लगे। फिर सुनाई पड़ी क्रोध भरी गरज "कौन हो तुम? आगे-आगे धँसते जा रहे हो, यह कुसुपुर का विमान गया, उसके पीछे गाँव ओलाबोल का विमान जा रहा है। तुम कौन हो? क्या सर तुड़वाने को मन चाहता है?"

बाध्य होकर रास्ता छोडना पडा। लोगों ने छी-छी की।
रास्ते के सिरे से थोडा हटकर प्रतीक्षा करने लगे। सगीत आरम्भ हुआ।

आधी रात गयी होगी। भीड़ मे से घूम-फिरकर यदु बराल सहित कुछ लोगों ने आकर सों-सों करते हुए ख़बर दी, "तण्डिकुल का विमान अन्दर चला गया है, साईशी का जाने को है, पीछे-पीछे जरीपाड़ावाला रास्ते की ओर बढ़ रहा है।" झटपट सब खड़े हो गये। आवाज लगायी, "बोलो भई, आनन्द से एक बार हरिबोल !" विमान उठा। बार-बार "जय, विनोदविहारी की जय !" कहाँ है दूसरा पक्ष ? दल में इस सिरे से उस सिरे तक प्रश्न फैल गया। उसका उत्तर नही है। भीड़ में पता लगाना असम्भव है। परन्तु रास्ते के सिरे तक पहुँचने तक देखा गया कि बायीं ओर से जरीपाडा बढ़ता आ रहा है और कुछ ही पीछे पाटेल गाँव का पुराना विमान हिलता-डुलता आ रहा है। अर्पति पधान, किणेई ओझा उछल-उछलकर चलने लगे। पीछे-पीछे दौड़ता-सा उनका विमान और दल-बल। जरीपाड़ा से थोड़ा रास्ता छोड़ उनके पीछे-पीछे पूंछ की तरह सट जाने मे उन्हे देर नही लगी। पीछे-पीछे बढता आ रहा है पाटेली गाँव, वह साथ-साथ, नजदीक-नजदीक। परन्तु जरीपाडा प्रवेश करते न करते ठीक उनके पीछे सटा हुआ है नये दल का नया विमान।

जरीपाडा घुस गया। नया विमान आगे बढा, किन्तु "जय, विनोदविहारी की जय !" के नाद में उलझे धागे की तरह लिपट गया "जय राधेश्यामजी की जय", गाँव के रास्ते मे आगे घुसने के लिए पाटेली गाँव का पुराना दल दाहिनी ओर से दबा बढ़ आया। फूलों के झाड और रोशनी को बढ़ा दिया गाँव के अबाध्य दल की ओर। गाँव के पुराने ठाकुरजी नये ठाकुरजी की ओर बढ़े। पुराने दल के धोबेई जेना कुछ कदम आगे बढ़कर "हें हेंई" चिल्लाकर विनोदविहारी के भारवाहों की छाती मे दुल-दाल धक्के मारकर पीछे हटाने लगे, उससे भिड़ गये कुशिया केवट, मदना नायक, धडिया नाई। इधर रोशनी का ताव देह से छू गया, फूलों के झाड पर चोट पड़ी। देखते ही देखते हाथा-पाई, मार-पीट। दबा हुआ गाँव का अन्धा गुस्सा मानो फूलकर छलाँग लगा गया हो। सब कुछ भूलकर एक ही गाँव के दो दलों में लग गयी मार-पीट।

मार-पीट के बीच अर्पति पधान ने देखा कि कोई अपरिचित आदमी छुडाने की चेष्टा कर रहा है, धोबेई जेना ने भी देखा। किसी का दल थमा नही। दलों ने देखा कि अनजान आदमी का सिर लहू-लुहान हो गया है। फिर भी वे रुके नही। इसके बाद मार-पीट कर रहे दोनो दलों के बीच दोनों हाथ उठाये रोकने-

वाला वह आदमी लड़खड़ाकर गिर पड़ा ! अर्पति प्रधान सहम गया, धोवेई जेना दो क़दम पीछे हट गया। परन्तु मार-पीट कम नही हुई, दल के और लोग फिर भी लगे हुए है। धोवेई जेना और अर्पति प्रधान फिर भिड़ गये, तभी देखा झगड़ा रोकने के लिए बाढ़ की तरह लोग बढ़े आ रहे है। अर्पति प्रधान को होश आया कि अपरिचित आदमी नीचे गिर पड़ा है। वह धोवेई जेना की उकसाहट की ओर ध्यान न देकर झुक गया और रवि को उठाया। कुछ लोग आकर उससे छुड़ाकर खीच ले गये। चारो ओर से आवाज आ रही थी, "आहा, झगड़ा मिटाने जाकर एक आदमी प्राण दे चुका है।" रवि को उठाकर वे लोग लिये जा रहे है, चारो ओर जगह-जगह पुंज की पुंज रोशनी है। लाठी फेंककर दोनों दल के लठैत वीर भीड मे मिलकर भाग छूटे। ख़ाली विमान लेकर वाहक लोग आगे चल पड़े, आगे-आगे विनोदविहारी, पीछे-पीछे राधेश्याम, आगे जाने का किसी मे उत्साह न था। पीछे रहने का कोई दुःख नही। अर्पति प्रधान गायब हो गया। उसे अपरिचित का चेहरा बार-बार याद आ जाता और वह सोचता, सच ? क्या वह मर गया ? क्यों ?

परन्तु वह मरा नही। लोगों के मुँह से एक बार मरकर सौ बार बचा और उसका नाम सारे गाँव मे फैल गया।

हाट मे, बाट मे लोग कहने लगे, "सुना तो ? पाटेली गाँव के लोग दो दल होकर मार-पीट में मर-खप जाते, पर उस लड़के ने बीच मे पड़कर रोक लिया। रोक तो लिया, पर आप दोनों तरफ की चोट खाकर मरते-मरते बचा है ! जो भी कहो, लड़के में साहस है, नही तो हाथ मे एक छड़ी भी नही और लाठियों के बीच छलांग लगा जाये ? दिखा दिया कमाल !"

उसके साथ जुड़ गयीं और भी कई बातें—उसकी योजना के बारे मे, वह कैसे फूलशरा मे एक नये प्रकार का काम कर रहा है, लोगों को भिड़ाया है भला काम करने के लिए, ग़रीब-दुखियारों के घर खड़े कर दिये है, सब जातियो को एक साथ मिलाकर गढ़ रहा है एक परिवार। और भी बढ़ा-चढ़ाकर लोग कहने लगे।

रवि के अनजाने ही उसके किये का प्रचार हुआ था।

किन्तु अपने काम के प्रचार की बात उसके दिमाग में सबसे कम थी। जब सुभद्रापुर के गांव में घुसने के रास्ते के एक छोर पर उसकी आँखों के आगे नाच रही थी कई रोशनियाँ, अचानक वे गोल-गोल झक-झक होती दिखी—अँधेरी रात मे लुहारशाल मे जलते लोहे को पीटने पर उछलते आग के गुल की तरह। इसके बाद सारी रोशनियाँ बुझ गयी। अँधेरा घिर आया। वही पूर्णविराम। कैसे इसके बाद उसकी अचेत देह को खुली जगह मे उठाकर ले गये, हवा की गयी, पानी के छीटे दिये गये, सिर पर पट्टी बाँधी गयी—यह सब उसे याद

नहीं। बिलकुल पता ही नहीं कैसे उस रात उसके लिए सुभद्रापुर गाँव के स्कूल के एक खाली कमरे में बिस्तर लगाया गया, उसे वहाँ उठाकर लाया गया, विश्राम मिला।

कुछ समय बाद जब होश आया, उसने खाट पर से देखा, टिमटिमाती हुई लालटेन जल रही है, नीचे बैठा वई मलिक ऊँघ रहा है, कानों में बादलों की पड़पड़ाहट की तरह कोई आवाज सुनाई दे रही है, देह में कष्ट, सिर जल रहा है मानो, बहुत कष्ट, 'आह' की। प्राणपण से चेष्टा की कि जोर से आह कर वह सारी यन्त्रणा को फेंककर खड़ा हो जाये ढँके कम्बल को देह से उछालकर फेंकने की तरह, किन्तु मानो वह कम्बल अधिक जोर से जकड़ा हुआ है, उसकी क्षीण आह की ओर किसी की नजर पड़ती ही नहीं, कालौस लगे काँच में लालटेन की बत्ती गुस्से में नाच रही है। युद्ध करना छोड़ दिया। उसने आँखें मींच ली।

तब उसे न अपना काम याद था, न अपना खयाल, या सपना। अब सारी भावनाएँ उस देह के लिए ही थीं।

फिर देखा, दूर से सुनाई पड़ रही है वही धो-धा, ठाँय-ठाँय, ठो-ठा। रोशनी बुझ गयी, घर में अँधेरा। लगा बाहर जोर से बरसा हो रही है। तुरत याद आया, दूसरे कमरे में छवि सोयी है। पाटेली गाँव में उस एक रात की स्मृति फिर से ताजा होकर लौट आयी, दूसरे कमरे से छवि ने फों-फों कर दीर्घ साँस छोड़ी। फिर देह की यन्त्रणा में स्मृति ऊब-डूब होने लगी। लगा—दूसरे कमरे में माँ सोयी है, माँ अब आयेगी, सोचते-सोचते फिर नींद आ गयी।

स्कूल की कोठरी की गली हुई छान को भेदकर सुबह उगी। उसके साथ-साथ उसके स्मरण में वास्तविकता खुलकर झर पड़ी, और उसने देखा, उसकी छाती पर झुका वई मलिक खड़ा-खड़ा देख रहा है। उसका चेहरा गम्भीर है, वह चिन्तित है। आँख से आँख मिलते ही वई मलिक की आँखें मानो फैलकर चौड़ी हो गयी हैं। चेहरा चारों ओर से मुड़-सिकुड़कर खिंच आया है उसके मुँह के पास, भीगी चमकती आँखों से माँ के चेहरे की-सी सहानुभूति प्रकट कर खुरदरी आवाज में पूछा, "कैसी तबीयत है, बाबू ?"

रवि ने मानो उसके चेहरे पर अपनी अवस्था आँकी हुई देखी। लगा जैसे वह चित्र बाँका-टेढ़ा है और वास्तव से बहुत बड़ा है। अवस्था का असमंजस अनुभव किया, फोंप से हँस पड़ा। कहा, "अच्छा है !"

सिर पर पट्टी बँधी है, सिर में और देह में जगह-जगह दर्द। किन्तु भोर का पहर जल्दी ही जल्दी खुलकर तीखा होने लगा, देह और देह का कष्ट कहीं नीचे दबता चला जा रहा है। याद आ रहा है अपना काम। कहा, "वई, यहाँ और समय नष्ट करने से कोई लाभ नहीं, चल, लौट चलें।"

अब वई का उत्साह कुलाँचें मार रहा था। जल्दी से कह गया रात-भर की

सारी कहानी, मिर्च-भरी, झालदार बातें—इस आक्रमण का जवाब देना ही होगा। अब अच्छी तरह एक खुराक देनी ही पड़ेगी ताकि जोड़ी-जोड़ी बँधे जायेंगे। सिर में इतना पित्त चढ़ गया था उनके, अपने बीच मारपीट तो हुई सो हुई, जो छुड़ाने गया उलटे उसपर भी चोट। बई बस एक ही बात समझता है—प्रतिहिंसा।

रवि ने मानो उसकी बात हँसी में टालकर कहा—'किसने तेरा नाम बई दिया रे! तेरा नाम तो रखता निपट बाया (पगला)! मारे में पड़ने पर मारा लगेगा नही, आग में घुसोगे तो आँच आयेगी नही, देह झुलसेगी नही, मार-पीट के बीच खड़े होने पर चोट नही खाये, ऐसी देह रखनेवाला कौन बेटा है? हुआ सो हुआ। बुढ़िया औरतों की तरह हो-हो करने से क्या मिलेगा?"

बई को आश्चर्य हुआ। बोला, "क्या हुआ? क्या कहते हो बाबू! बट महान्ती का बेटा इतने बड़े गाँव के बीच मार खा गया, मुक़दमा नही चलेगा! किसी को कुछ नही होगा?"

सुभद्रापुर के लोग आ रहे हैं। उधर हाथ दिखाकर रवि ने कहा, "चुप, चुप, हल्ला मत कर।"

"हल्ला नही करूँ, क्या कहते हो!" बई मलिक ने कहा, "यह कोई मामूली बात है जो चुप रहूँगा! लोग मन-इच्छा पीटकर चले जायेंगे, दुष्टता करेंगे, और फिर चुपचाप घर चले जायेंगे, उनका कुछ होगा ही नही। तब तो यह धरती रहेगी नही। और यह पुलिस, कचहरी—ये सब क्यों है?"

रवि के स्वास्थ्य की ख़बर जानने और रात की घटना के बारे में उपाय करने के लिए सुभद्रापुर के पाँच आदमी आ पहुँचे है। वे लोग यह तर्क सुनने के लिए खड़े रह गये। उनकी ओर देख हँसकर रवि ने कहा, "पुलिस और कचहरी की दरकार नही है ऐसी मारपीट बन्द करने के लिए, यदि बन्द न करवा सके तो फिर वहाँ बाद में दौड़ने से क्या होगा! मुकदमेबाज़ी करने पर उलटे लोगों में गुस्सा बढ़ता है, मन की फाँक बढती है, यह तो मानो फूँक-फूँककर आग जलाने की बात है। जिसने जो कार्य कर दिया वह ख़ुद ही अपनी भूल समझेगा, कायल होगा। उसके मन में स्वतः अफ़सोस होगा; दोष को सुधारने के लिए। एक झूठी हो में पड़कर ऐसा हुआ। होना था सो हुआ, फिर क्या? कल का गुस्सा अब होगा? लोग समझ गये होंगे।"

"अरे! यह तो गान्धी महातमा की बात कहते हो! तो क्या ऐसा ही होगा?" बई मलिक ने आपत्ति की।

"गान्धी महातमा क्या बुरा कहते थे?"

सुभद्रापुर गाँव के लोगों ने बातों में भाग लेना चाहा। रात-भर की अनिद्रा के कारण सबकी आँखें लाल-लाल दिख रही थी। जम्हाई लेते हुए शाम सान्त्रा

ने कहा, "बड़े दु.ख की बात है, बहुत संगीन मामला है, कल जो कुछ हो गया, उसे यों सहज ही उडाया नहीं जा सकता। भगवान् की दया से आप आज ठीक लगते हैं; अगर कुछ हो जाता आप को तो? बाप रे, मार भी वैसी! कौन किसकी बात सुन रहा था? नशे मे पागल की तरह बस चोट पर चोट! कितनी कठिनाई से उनके बीच से आपको खीच लाये, सो मन ही जानता है! उन्हें बरस-बरस-भर की जेल न हुई तो उन्हें शिक्षा कैसे मिलेगी? अरे, आजकल लोग क्या हो गये हैं, हर वर्ष मेलण पर मार-फ़ौजदारी।—"

"फिर भी तो मेलण लगता है। लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती है..." रवि ने कहा।

"मारपीट होगी इसलिए क्या मेलण न हो?" शाम सान्त्रा ने कहा, "यह तो आदमियों का काम नही, ठाकुरजी का काम है। लोग पागल होकर मार-फ़ौजदारी करें तो क्या ठाकुरजी का नियम-पालन ही बन्द कर दें? लोग चाहे मरें, ठाकुरजी का क्या जाता है?"

"सच बात है, सच बात है!" अभि पधान ने कहा, "अपना कर्मफल आप ही भोगेगे बाबू! ठाकुर किसकी कितनी बात देखेगे। उनका जाता कितना है, आता कितना? किस साल विमान के आगे-पीछे चलने की बात को लेकर मार-पीट नहीं होती तो भी देखो मेलण साल की साल बढ़ता ही जा रहा है। केवल मेलण ही क्या, ये अपने गाँव वालों की प्रदर्शनी, हाट-बाज़ार, सब। इस बरस दो दल मैजिक के आये थे, अच्छे पैसे कमा कर गये।"

सतुरी पट्टनायक ने कहा, "पैसे की क्या कहते हो? जुआ क्या कम..."

रवि को लग रहा था जैसे कोई जन-जाल तैयार हो रहा है उसकी आँखों के आगे। जो आता है वही इसमें कुछ डालना चाहता है। शाम सान्त्रा से लेकर गोपाल बढ़ई तक देखता गया। सूखे छरहरे छोटे-से आदमी शाम सान्त्रा, खडी-खडी काली-भूरी मूँछों को छोड़ दें तो उस चेहरे का और कुछ याद नही रहता, अन्दर मिल जाने के बाद पहचानने लायक कुछ नही, फिर भी यह क्षीणकाय पुरुष सुभद्रापुर गाँव मे एक बडा आदमी है, धार्मिक कामों का वह नेता है, मेलण या यात्रा या भागवत सप्ताह का पाठ—सब करानेवाला आदमी है वह। अभि पधान गजे सिरवाले, लम्बे, गोरे खूब बूढ़े आदमी, दाँत नही, सिर हिलता है। सतुरी पट्टनायक पैंतालीस बरस के, चश्मा पहनने वाले, सेटलमेण्ट के आदमी, स्वभावत: काजल पुती जैसी उज्ज्वल आँखें, तीखा चेहरा, मुड़-मुड़कर मुँह वृद्धि और दम्भ का परिचय देता है, किन्तु उनके जराजीर्ण वेश और स्वास्थ्य मे अभाव आँका हुआ है और सारे कार्यकारिता को चूडान्त प्रमाणित करने के लिए झूल रहा है एक प्रकाण्ड हाइड्रोसील, मानो उसी का बोझ सँभालना और लादे फिरना जीवन जीने मे सबसे बड़ा कार्य है। इन लोगों के भाषण ही गाँव

के लोगों को उद्‌बुद्ध करते हैं, इनके नेतृत्व में ही चलता है गाँव का वाहित पूर्व विधान, निर्दिष्ट गाँव के रास्ते पर।

मेलण की बात कहते-कहते ये लोग आने का उद्देश्य ही भूल गये। दूर से दिखा कोई पुलिस एम. एस. आई. आ रहे हैं, पोशाक पहने हाथ में छोटी-सी अस्थिर छड़ी, पीछे-पीछे आ रहे हैं बच्चे। आगे बढ़ उनके चलने के ढंग का अनुकरण कर वैसे ही हाथ हिलाते-हिलाते लम्बे डग भरते उनके पीछे-पीछे चलने से पुरखे लोग उन्हें धमका रहे हैं, उनपर बिगड़ते हैं, आँख दिखा रहे हैं।

पुलिस बाबू आ गये। रवि के सामने खड़े हो सिर हिला-हिला कर कहने लगे, "कौन बाबू कल मार खाये हैं? ओह, आप ही तो!" जेब से एक टीपने वाला खाता निकाला, और एक पेंसिल। कहा, "बताते जाइए, आपका नाम क्या है?" चारों ओर लोग जमा होकर घेरने लगे। रवि के कुछ कहने से पहले ही ग्राम सान्त्रा बोल उठे, "कल इन्हें मार ही डालते। हम लोगों ने जाकर छुड़ा लिया, नहीं तो आप आज खूनी मुकदमे की इनक्वायरी करते। मार पड़ रही थी, लाठियाँ बरस रही थी, हम लोगों ने जाकर इन्हें अधर में ही उठा लिया और खींच लाये।"

भीड़ के पीछे से राधु भोई ने कुशन ओझा से कहा, "क्यों, ये कहाँ थे वहाँ जो कह रहे है कि अधर मे ही उठा लाये।"

अभि पधान ने कहा, "पीछे-पीछे मैं दौड़ रहा था, हाथ उठाकर जितना भी मना किया, किसी ने सुना! हाथ पर चोट पड़ ही जाती, बस बाल-बाल बच गया।"

पीछे से कुशन ओझा ने राधु भोई से कहा, "फिर ये बूढ़े भी थे! कहेंगे क्यों नहीं? कलजुग के जवान ठहरे!"

गरज उठे सतुरी पटटनायक "इन दोनों बूढ़ों को भी मार डालते, बस आगे मैं था, नहीं तो। ये देखिए, इस तरह इनके आड़े खड़ा हो गया दोनों हाथ दोनों तरफ़ फैला, पैर पसारकर खड़ा हो गया—रास्ता था नहीं, पीछे ये लोग इन्हें ला रहे हैं आगे यों सिर मे पीटा-पीटी धक्कम-धक्की करता रास्ता बनता लेकर चला। नहीं तो—!"

पीछे-पीछे से हँसी की धूम लगायी राधु और कुशन ने। पुलिस बाबू ने सतुरी पट्टनायक के निचले आधे भाग पर आँख फिरायी और हँस पड़े। इसके बाद गम्भीरता नष्ट होने के सम्बन्ध मे चेतना आयी, सबको चुप रहने को कहकर वे बोले, "ठहरें, पूछा जा रहा है, वे ही कहें।" रवि से पूछा गया—"क्या हुआ?"

उत्तर सरल था, वह मुक़दमा नहीं करेगा, साखी देगा नहीं, उसका किसी के विरुद्ध कोई अभियोग नहीं।

"आप पीछे क्यों हट रहे है?" पुलिस बाबू ने पूछा, "मार तो खायी, सरकार मुकदमा करेगी, आप तनिक सहायता नही करेंगे? आपके सरीखे शिक्षित लोग भी अगर पीछे हटें, तब इन देहातियों को क्या कहेंगे? आप क्यों डर रहे है?"

सबने इस बात का समर्थन किया, वई मलिक ने भी अवसर जानकर कहा, "बोलो, बाबू इसी समय। जो पूछ रहे हैं, बता दो।"

रवि ने उत्तर दिया, "जी मै न तो डर रहा हूँ और न पीछे हट रहा हूँ, मेरा इस मुक़दमेबाज़ी वाली बात पर बिलकुल विश्वास नहीं।"

"तो क्या आप इस देश से बाहर हैं?"

"आप जो चाहें सोचें—।"

"तब तो बात कुछ और ही हो गयी। आपको भी मेलण में दंगाइयों के साथ जोड़कर फिर आपके विरुद्ध मुकदमा करना होगा—बात को ज़रा गहराई से सोचें।"

"आप अपने विचार से जो करें।"

"नही, आप ऐसा न कहें, बात पर दुबारा ग़ौर करें, मुकदमा करने पर आप होते प्रधान साखी, झगड़ा रोकने पहले आप पहुंचे। कौन-कौन मार-पीट कर रहे थे—आपने देखा, ख़ुद उनसे मार खायी, हम सारी बातें जानते है। अभी किसी कारण से आप एकदम उलट गये। मुकदमा होने के आप हिमायती नही, सम्भवतः उलटे मदद करेंगे। इधर मुक़दमा न होने पर लोग क्या सोचेंगे? कहेंगे इतनी बड़ी वारदात हो गयी, पुलिस ने कुछ नही किया।"

"मारपीट तो हो चुकी, पुलिस अब क्या करेगी?"

"क्या? चोरी न रोकी जा सकी तो क्या चोर को दण्ड नही दिया जायेगा? यह भी तो पुलिस का काम है। जो हो आप जब विरोधी बन रहे हैं, आपके ख़िलाफ़ मुकदमा तो करना ही पड़ेगा।"

"कीजिए आप जो करेंगे वही होगा।"

"केवल इतना ही नही। हमने आपके बारे में सारी ख़बरें रखी हैं। आप किसी घराने के आदमी, फिर मुंशीजी कवि बाबू के भाई, इसके बावजूद सारी परम्परा छोड़ चाकरी-वाकरी न कर अपने लोगों को बहकाकर इस इलाक़े में एक गोलमाल शुरू कर दी—"

"गोलमाल?"

"नही तो और क्या? लोग अगर पैरों से चलते हैं, आप उन्हें बताते हैं—हाथों के बल चलो।"

"आप उलटा समझ रहे हैं जी, किसी दिन हमारे यहाँ आइए, अपनी आँखों सब कुछ देखेंगे। लोग हाथों से चलकर हाथ और पैर दोनों नष्ट कर रहे है। हम

उन्हें कहते है पैरों से चलो, हाथों से काम करो।"

"ऐसा कहने का क्या अधिकार है आपको ? सोची है कभी यह बात ? हमारा यह एक स्वाधीन राष्ट्र है, स्वाधीनता का क्या अर्थ है ? जिसे जो अच्छा दिखा उसने वही किया, किसी का दूसरे पर अपना मत लादना ठीक नहीं।"

"चोर को अच्छा लगता है, वह चोरी करता है, तब आप उसका पीछा कर उसे क्यों पकड़ते है ?"

"चोर की बात अलग है। और हम भी क्या यों ही पकड़ते हे ? हम पकड़ते हैं इसलिए कि हमारा अधिकार है।"

"वैसे देश के लोगों के लिए क्या भला, क्या बुरा, इसे तौलकर देखने में सहायता करने का अधिकार सबका है, मेरा भी है। मैं जो करता हूँ वह लोगों के हित के लिए—।"

"इसीलिए तो लोग जाकर पुलिस की शरण में पड़ते हैं ! आप पाँच का भला सोचते हैं तो पचास उसे अहित मानते है। ये लोग तो डर गये हैं कि उनके मजूरे-हलवाहे भाग जायेंगे, उनकी जमीन भूत खायेंगे, उनका धन-जीवन खतरे में है। बताइए ऐसे भले की क्या जरूरत है ? आपका हित का काम देख लोगों की नींद हराम हो गयी।"

"कोई इस तरह झूठे ही डरे तो क्या आदमी भले काम से पीछे हट जाये ?"

"आपकी इच्छा। आप न हट सकते हैं, लोगों के डर-भय को झूठी डर कहकर ताली बजाकर उड़ा सकते है, पर हम तो ऐसा नही करेंगे। लोग डरेंगे तो हमे कुछ करना ही पडेगा, हमें देखना ही पड़ेगा कि लोगों के डर का कारण न रहे। हाँ, आपको झूठ-मूठ हैरान होना पड़ेगा ! अतः पहले ही कहे देता हूँ..."

"आपने बहुत अच्छा किया।" रवि ने कहा, "आप अपना जो कर्तव्य समझें वह तो करें ही। परन्तु मैं समझता हूँ। मैं जो कर रहा हूँ सबके भले के लिए।"

"तो आप क्या कहते है ? यह जो गोलमाल हो गयी, उसमें साखी देंगे या नही ?"

"नही।"

पुलिस बाबू ने खीझकर कहा, "ठीक है आपकी जैसी मरजी, युग तो बदल गया। नही तो इतनी बातें कहने की दरकार ही नहीं पड़ती। कपूर उड़कर बस कपड़ा रह गया है, काम के दिन पूरे होकर बातें करने के दिन आ गये, नही तो अब—चोर को भी बुला कुरसी-चाय देकर बैठाना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा —'जी, आपने चोरी की है ?' 'नही।' 'तब आप घर पधारें, व्यर्थ कष्ट दिया, माफ करें।'"

लोगों के आगे अपनी टेक बनाये रखने के लिए एक विवृति देकर पुलिस बाबू

ने विदा ली।

गाँव की भीड़ पुलिस बाबू के पीछे-पीछे चली गयी, परन्तु जमकर रह गये राधु भाई, कुशुन ओझा, नुखुरा मलिक, अदेई साहु, भिकारी महान्ती, धोबेई मिश्र।

धोबेई मिश्र बोले, "सुनी तो सारी बाते, गोलमाल के समय इनमें से कोई न था। आप जब गिर पड़े और चोट पर चोट पडने लगी तो पीछे से अन्दर घुसा यह राधु भोई, कुशुन ओझा, नुखुरा मलिक, पीठ पर नीला दाग भी होगा। दिखाना तो नुखुरा।"

नुखुरा हँस पडा। कहा, "रहने दो बाबू, बीती बात जाने दे, काम तो हो ही गया, नील सहलाकर अब क्या होगा ? जो हो, मार तो खा ही गये बाबू। जीवन का मोह छोड़कर झगड़ा मिटाने गये, और कोई निकला भी ?"

रवि नुखुरा मलिक की ओर देखता रह गया, काले पत्थर की तरह फूला-फूला कद्दावर जवान, माथे के बाल फर-फर उड रहे है। शान्त और लजीली आँखे नीचे की ओर झुकी है। उसे बहादुरी की प्रशसा नही चाहिए।

राधु भोई ने कहा, "हमारा नाम लेते हो। तुमने तो बाबू कुछ कम नही किया, सब मिलकर खीच लाये, औषध लगा कपड़ा बाँधकर बिछौना लगा दिया—हमसे मोटा काम ही होगा तो, बुद्धिवाले काम मे हमारा मगज कहाँ ? ये भिकारी बाबू कुछ नही कहते। कैसे दवा आयेगी, रक्त बन्द होगा,—तब तो पागल हो गये थे। काम का आदमी—कैसे चुप रहता।"

भिकारी महान्ती, फुनसियो से भरा चेहरा, छरहरे आदमी। धीमे-धीमे हँस रहे थे। अदेई साहू बोले, "सारी बात तो हुई, अब कैसा लग रहा है, सो तो नही कहा—"

रवि ने कहा, "अच्छा है।"

एक के बाद दूसरे की ओर देखते हुए रवि ने मौन कृतज्ञता जतायी। बई मलिक से कहा, "देखता है तो बई सब गाँवों में आदमी है। भविष्य मे अगर कुछ करेंगे तो ये ही आदमी कर सकेगे।"

सोचने लगा, भारत वीर शून्य नही हुआ, कोई देश वीर शून्य नही है, लेकिन बात यह है कि भविष्य का वीर आज का चासी, मजूर, निर्धन, अर्धशिक्षित कुली है। वह ख़ुद को नही पहचानता, अपने बल से अनजान है।

भिकारी महान्ती बोले, "आपके काम के बारे मे हमने सुना है। हमारे गाँव मे भी हम कुछ करना चाहते है। क्या करें, बाधाएँ बहुत हैं। लोगों मे दरारें है। पेट के धन्धे मे ही तो बहुत समय चला जाता है और दूसरी बात सोचते समय सिर मे झाँय-झाँय होती है, देह दुर्बल लगती है, समझाने पर समझ जायेंगे ये लोग, पर वह दो दिन के लिए, फिर मुँह मोड़कर अपने-अपने घर मे सोयेंगे। इतना घर-

घर में घुसकर खीचेगा कौन ?"

रवि ने कहा, "तो फिर आप लोग आशा न छोड़ें, फिर लग पड़ें।"

भिकारी ने कहा, "हमने आपकी योजना के बारे में सुना है। हमने सोचा, हम मे से दो जने वहाँ जाकर काम में सहायता करें। सीखेंगे भी।"

रवि हँस पड़ा, "वह तो अच्छा होता। सीखने लायक़ हमारे पास कुछ है नही परन्तु आदमियों का बल चाहिए, बहुत अधिक।"

अदेई साहू बोले, "आपने मुकदमा न करने के बारे मे जो कहा, वह सुनकर हम लोगों का तो पेट ही भर गया। अपना कलह आपस में ही सुलझा ले। यह तो भाई-भाई का कलह है, इसके लिए फिर मुकदमेबाज़ी क्या ? सँभालने के लिए बहुत बल, बहुत हिकमत चाहिए, ग़ुस्से मे भरकर कूद पड़ना सहज है। पर आदमी की रक्त-मांस की ही तो देह है, चिकोटी काटने पर दरद होता ही है, और अधिक क्या कहें ? ये देखें, नुखुरा मलिक की बात, किसी को चूं तक नही कहेगा। गये साल हमारे गाँव के एक ज़मीदार बुद्धिनाथ महापात्र को घर पर दरकार हुई तो इसे दो महीने चाकर रखा, पैसे माँगने पर दुतकार-दुतकार कर सतरह बार भगा दिया। और फिर एक दिन जैसे ही जाकर माँगा कि बुद्धिनाथ ने अपने दरवाज़े पर ही इसे गाली दी, फजीहत कर थप्पड़ लगा ही दिया। नुखुरा को गुस्सा आ गया। स्थान-काल भूलकर बाहर खड़ा हो गया। जी भर गालियाँ तो दी ही, एक लाठी लेकर बुद्धिनाथ के दरवाज़े पर खड़ा रहा दिन भर—"

नुखुरा लजाता-लजाता-सा हँस पड़ा, "क्या करूँ बाबू, देह मे चुभ गयी, आतमा अथिर हो गयी। पागल हो गया।"

घोवेई मिश्र बोले, "छोड़िए, लोगों का चरित्र तो ऐसा है, इसमे जो काम भी शुरू करेंगे, आधे में ही भण्डूर होगा या नहीं ?"

रवि ने कहा, "उसका कारण क्या है, जानते हैं ? हम अवस्था बदले विना एक-एक काम में हाथ देते हैं तो सब फिस्स हो जाता है। हम ऐसा समाज गढ़ें जहाँ बुद्धिनाथ महापात्र रहकर भी नुखुरा मलिक के तिलक न चाट जायें या नुखुरा मलिक को बुद्धिनाथ के पास हाथ जोड़ खड़े होने को नही जाना पड़े। सब किया जा सकेगा। गढ़ना पड़ेगा शुरू से, हमें अपने काम में अपना विश्वास कायम रखना होगा, परिश्रम करना होगा। लोग कहेंगे इतने दिन हो गये, उतने दिन बीत गये, जितने दिन जायें जाने दो, मानव-जाति की उमर की तुलना मे कुछ बरस कोई अधिक होते हैं ?"

बिलकुल सरल भाव से कुछेक बात कहकर ही सबकी आँखो के आगे एक सपना-सा लाकर खड़ा कर दिया। सब चुप होकर दूर कहो देखने लगे। उस सुबह की बेला ने अचानक अपने आपको फेंककर मानो दिखा दी कोई अनागत उषा।

चुपचाप रहकर उस उषा को देख रहे थे वे सात आदमी। उड़ीसा के एक निपट देहात की नि. प्रा. स्कूल के दरवाजे पर। उसकी भीत से माटी जगह-जगह उतर गयी है, छान टूटी-फूटी, सामने एक बाँस का वन है और एक सिवार से भरा पोखर। एक के माथे में पट्टी बँधी है, एक ने वण्डी पहन रखी है, एक की छाती पर सफ़ेद जनेऊ, एक की काँख तले बटुवा, और एक की कमर में, और एक के कन्धे पर लाल गमछा।

वे दूर देख रहे थे।

धरती पर कहीं भी, कितनी दूर पर भी जो देख रहे हैं इस उषा को, वे सब उस नये यौवन में उल्लसित है, नये युग के कारीगर है। अंगरेज़, अमेरिकन, नीग्रो, चीनी, रूसी, तुर्क...कितने ही। अचानक रवि मानो इस एकता का अनुभव कर रहा था, हँसकर कहा, "हम भी मेलण करेंगे, वह होगा एक विराट् मेलण।"

मेलण के दूसरे दिन बड़े तडके पाटेली गाँव में नहाने के घाट पर गाँव की स्त्रियों के बीच कहीं न कहीं से आकर बात पड़ी, और चारो ओर फैल गयी—"मर गया—मर गया!"

"मर गया, मर गया!" की बोली सुनते ही सब चौंककर देखने लगी, नदी के बीच की भीड़ की ओर। कुछ दौड पड़ीं उधर, कुछ प्रतीक्षा करने लगी।

ख़बर बँटी—जा, कोई डूबकर मरा नहीं, कोई मगरमच्छ के जबड़े में नहीं आया, बच गये। आगे-पीछे सब चैन की साँस ले रही थी—किसी पर आशु विपद् नही थी, किसी की आशु क्षति नहीं, बस केवल मेलण के मैदान में मारपीट में पड़कर वट महान्ती का बेटा मर गया! पराया बेटा मरा—रोग बाहर ही बाहर कट गया।

इसके बाद—"अहा—चु-चु" और अचानक गेल्ही की माँ ने नक़ली रुलाई का स्वर भरकर आवाज छेड़ी—

"पर इससे क्या, वह तो मरा सो मरा, औरों का क्या गया। बस इस गाँव में एक का भाग्य फूटा, उसकी आशा के मुँह में विधाता ने लुआठी दे दी, आह रे विधाता! तू इतना निष्ठुर हुआ, भात में धूल भर दिया!"

कई एक हँस पड़ी। कुछेक ने पूछा, "किसका भाग्य फूटा, ऐ जीजी? कौन है री? बात क्या है कहती नहीं? बस केवल विधाता को बुलाने से हम क्या समझेंगी?"

"मुई, यह बात किसे नहीं मालूम जो केवल गेल्ही की माँ ही कहनेवाली बनेगी?" गेल्ही की माँ ने कहा।

आठ बच्चों की माँ, जग की माँ सिर नीचा किये नहा रही थी, गेल्ही की माँ की बात का मतलब मानो उनके हाड़ से मांस नोच रहा हो। अचानक गेल्ही की माँ की ओर मुँह उठाया—बड़ा गोल चेहरा, माथे पर चमकता सिन्दूर थोड़ा-सा, नाक पर एक बड़ा फूल; देवी मूर्ति की तरह काली चमकती काया। जग की माँ गेल्ही की माँ की ओर ताककर कहने लगी, "मरा तो किसका क्या गया, तुम कह रही हो छोटी काकी ! उसके क्या माँ-बाप नहीं हैं ? लोगों के मुँह में विधाता ने हमदरदी की बात कैसे नहीं दी ? ख़ाली माटी के लोंदे गढ़ दिये, जीव नहीं भरा ?"

आदमी के बिलकुल भले गुण पर, मानो लोहे पर हथौड़ी की तरह बात ठाँय-ठाँय गिर पड़ी। जग की माँ के चारों ओर सहानुभूति की गूँज उठी—"अहा—आहा—सच री, विधाता कितना निष्ठुर है ! कच्चे आम के गाछ को हवा में तोड़ने में उसे अधिक आनन्द आता है !"

गेल्ही की माँ के दोनों गाल गरम हो गये, किन्तु ख़ुद को सँभालकर बोली, "ये आहा-पद तेरी ही जीभ से चिपका है री नयी वहू ! तू कैसे जानेगी, री ! षष्ठी देवी ने दोनों हाथ पसार तुझपर उड़ेल दिया है। मैं अभागन हूँ, गेल्ही से बड़े दो और उसके पीछे के दो यम को सौंप चुकी हूँ। ऐसे सगे-सगे चार गये, और उनमें से यह छोकरी की जात कैसे रह गयी पता नहीं ! अरी, मैं तो जनम की दुखियारी हूँ री !"

इतने में ही मानो गेल्ही की माँ का सारा परिचय सामने आ गया—वह क्या है, क्यों है, कैसी है ? सब कुछ।

अबकी सहानुभूति मुड़ी गेल्ही की माँ की ओर ! जग की माँ ने पानी में डुबकी लगायी, धीरे-धीरे फिर कानाफूसी होने लगी।

गेल्ही की माँ की सहज दुनिया लौट आयी। कन की माँ ने उसके कान के पास धीरे से कहा, "जाते समय ज़रा उधर भी मुँह मारती जाना, ऐ, जीजी ! जानते होंगे भी कि नहीं।"

उसके कुछ समय बाद गेल्ही की माँ अचानक पहुँच गयी गुरु की माँ के दरवाज़े पर, ठीक सहजन के तले, डीह की बाड़ी से पोई के पत्ते तोड़ झोले में डालकर छवि दरवाज़ा पार कर रसोई में जा रही थी, चौंककर तनिक रुक गयी। फिर माँ को बताने चली गयी, और गेल्ही की माँ कुटिल हँसी हँसकर ज़ोर-ज़ोर से कहने लगी—"अच्छा, आज पोई-चिंगड़ी की तरकारी बना रही हो ? बनाओ। जी भरकर पेट भर मछली खाओ। पास आ जाने पर कहीं भाग न देना पड़े ! अरी, हमारी अब कोई उमर है, भाग लेकर हज़म करने की ? छि: छि:। अरी कहाँ गयी, गुरु की माँ, छवि की माँ ? कहाँ गयी सब ?"

हल्ला सुनकर गुरु आकर खड़ा हो गया। पीछे-पीछे उसकी माँ। जैसे उसके

मुँह का स्वाद बिगड गया हो ।

आगे-आगे रास्ता दिखाती गुरु की माँ बढ़ी। बरामदे की ओर जाते-जाते गेल्ही की माँ कहने लगी, "जा रही थी, सोचा ज़रा इधर ही मुँह मारती चलूँ। ढोल की हुज्जत मे गांव सारा सिर पर उठा रखा, और कहीं बाहर निकल ही न सकी ! जो कलह-झगड़ा ! जो नवरंग ! मुये आदमी ऐसे ! केवल सतभाया बड़े बन्दर की तरह ! ज़रा-सी बात पर इतने उछले कि अभी भी नगाड़े बज रहे है !"

"क्या हुआ, री !" गुरु की माँ ने पूछा।

"अरी सुना नही कुछ ?" गेल्ही की माँ बोली। छवि के घर का बरामदा आ गया था। छवि की माँ दिख पड़ी। गेल्ही की माँ ने आवाज़ दी—"अरी ओ, रहने दो, रहने दो चटाई क्या होगी बैठो न !" रसोई मे छवि छौंक रही थी, हांड़ी की खड़खड़ाहट सुनाई पड रही है। गेल्ही की माँ कहती गयी— "आदमियों का गुस्सा ही तो है, गुस्सा आने पर कोई वश रहता है ? बहुत लोग जहाँ जुटे, कलह वहाँ उपजेगा ! पहले तो बदा-बदी की, फिर गाली-गलौज के बाद गये थे ही, गुस्से का पित्त माथे मे चढ़ा हुआ था, बस भिड पड़े, और क्या ? अब क्या हुआ ! घर-घर का किवाड बन्द। कोई पुराना अण्डी तेल मल रहा है तो कोई हलदी-चूने का लेप कर रहा है, कोई घास-चीनी मिलाकर लगा रहा है, कोई कपड़ा जलाकर फूटे माथे को जोड रहा है। घर-घर मे यही चल रहा है। भले रे भले, तुम आपस में झगडकर सुभद्रापुर मेलण के मैदान मे रक्त की नदी बहा आये, उस बेचारे बन्धमूलवाले बट महान्ती के लडके ने तुम्हारा क्या कसूर किया था जो उसपर मार बरसायी; सब तो जैसे-तैसे लूले-लँगड़े होकर लौट आये, वह तो उठ भी न सका। वही उसके दिन पूरे हो गये। जो मार पडी !" गेल्ही की माँ ने आँखें मीच ली, "ओ—हो ! गाय-गोरू की तरह पीट डाला, उस मार से क्या आदमी और खड़ा हो सकता है ! ओफ् ! बेचारा, कितना सुन्दर गबरू जवान बेटा था, मर—ही—गया !"

गुरु की माँ चौककर बिलबिला उठी, "ऐं ? मर गया ? किसने मारा ?"

"किसने मारा, वहाँ कौन देखने बैठा था ! अरी छवि, किधर गयी री ! एक पान का टुकड़ा ही देती जाना तो, मुँह कैसा-कैसा तो हो रहा है। यह आग लगी खबर सुनी तब से मन मे जैसे कुछ चुभ गया है और जीभ सूख-सूख जा रही है।"

गेल्ही की माँ ठीक कान लगाये थी, रसोई में जो हाण्डी की खड़खड़ाहट लगी हुई थी उनकी बात के बीच मे ही वह खड़खड़ाहट बन्द हो गयी है। छवि सुन रही है। छवि का चेहरा यदि देखा जा सका तो गाँव मे और भी सवाद बाँटा जा सकेगा।

किन्तु छवि की माँ फों से साँस छोड़कर उठ खडी हुई। बोली, "ठहर, ठहर,

मैं पान का डब्बा लाती हूँ।"

पान का डब्बा आया। छवि की माँ बातों के बीच में ही पान लगाने बैठी, किन्तु छवि आयी नही। गेल्ही की माँ छवि की माँ के चेहरे की ओर कटकटाती ताकती रही, बेटी का न सही माँ का ही हाव-भाव निरखकर बाहर हाँकने के लिए कही कुछ मिल जाये! परन्तु वहाँ खास कुछ न था, मानो इतनी बड़ी घटना के बारे मे जानने-बूझने के लिए भी उनका कोई आग्रह नही। कुछ क्षण रुकने के बाद रसोई मे फिर खुड़-खाड धड़-धाड़ सुनाई पडा। रसोई करते आदमी के हाथ की साधारण आवाज, और कितनी ही खस-खास चे-चाँ। यह क्या सुनाई पड़ रहा है? नाक की सूँ-सूँ, सड़-सड होगी शायद! गेल्ही की माँ ने उत्सुकता से कान लगाये, पर कहाँ, वैसी तो कोई आवाज नही। छवि बैठी है अपने अँधेरे दुर्ग के भीतर!

"क्या ऐसी रसोई से चिपटी है री छवि!" गेल्ही की माँ ने कहा, "बाहर आकर ज़रा बात-चीत कर। कुछ नही, बस सदा केवल काम ही काम!"

"हाँ, बातचीत क्यों नहीं करेगी, पर यहाँ किससे बतियाये? साथिन-सहेली कोई हो तब तो!"

"अच्छा, मैं चलती हूँ, अब।" गेल्ही की माँ ने कहा, "सच री मुझे तो ख़याल ही न रहा, तुम्हारे घर आते ही यह माथा लग जाती है, उधर घर पर मेरे सतरह काम पडे है!" आख़िर अनहोनी ने फिर एक चोट मारी! "आह! कितना सुन्दर सजीला जवान! मार डाला! कितना सलोना बेटा! उस बार तुम्हारे ही घर आया था तब देखा था। मरने के लिए ही ऐसा हुआ था!"

छवि की माँ सचमुच मानो पथरीली दीवार बनी हुई थी। बातें टकराकर प्रतिध्वनि करती हुई लौट आयी, "हूँ, जिसका जब योग पड़ता है! तुम्हारे जो चार थे दूध के दाँतवाले ही तो थे, उस लोक को चले गये, उनकी कोई मरने की उमर हुई थी!"

गेल्ही की माँ को अचानक वे याद आ गये। किसी न किसी बात मे आज सुबह से वे याद आ रहे हैं।

वह रुलाने आयी थी, रुआँसा मुँह लिए लौट गयी।

छवि की माँ ने आवाज दी—"छवि!"

छवि मुँह झुकाये आकर पीठ किये खड़ी हो गयी। उठकर बेटी का सिर सहलाकर बोली, "पगली कही की।" उस मरम छूनेवाले नरम स्पर्श से छवि की आँखों से बेर की तरह आँसू झर गये। छवि की माँ ने फिर कहा, "छिः पगली!" आहिस्त से रसोई की देहरी की ओर धकेलकर कहा, "जा देख, कुछ जला जा रहा है? अरी, जीवन-भर हाथ से काम करना है, [उधर यम खीचता है, इधर काम खीचता है। बैठे-बैठे पगली होने की किसे फ़ुरसत मिलती है?"

किन्तु उसने कोई उपदेश देने की चेष्टा नहीं की, उठकर बाड़ी की ओर चल पड़ी।

जितना भी छुपाये, अपने-आप पहचान में आ ही जाता है। धीरे-धीरे अन्तर में से बहकर सामने ढेर हो जाता है। भीतर का कठोर सत्य, उपरोध रहता नहीं। चाहे देह न सह सके, मन चाहे न सह सके, निर्मम भाव से इन्द्रियों पर प्रचण्ड आघात कर वह आत्मप्रकाश करता है। इसके बाद हाथ चाहे जले पर उसे छूना ही पड़ेगा; आँखें चाहे चलें उसे देखना ही पड़ेगा। मन जल जाये, देह विवर्ण होती हो, फिर भी उसे ग्रहण करना ही पड़ेगा।

छवि के आँसुओं मे तैरता-तैरता, मन के अँधेरे गह्वर से प्रकाश मे आया था—एक शव। वह रवि का था।

रवि मरा है!

रह-रहकर ढणंढणं घण्टा बजने की तरह संवाद बज उठता। बजते घण्टे की तरह चेतना झनझना उठती : शब्दों की लहरें होती छोटी से और छोटी, क्षीण से क्षीण। पारी सम्हालने की तरह कहाँ कितने पात्रों की क्षण्-क्षण् सुनाई पडती, कितनी अवान्तर स्मृतियाँ, बाहर असश्लिष्ट, पर किस गोपन डोर से एक साथ गुँथी-बँधी।

चेतना के अवश व्यवधान के बीच बिखरी-बिखरी यादें आ रही हैं—कितनी अनचाही बातें। हाथों से भगाने पर भी मच्छरों के दल की तरह घाँव-घाँव कर बढ़ जाती है। मंच पर तेलगी बाजा बज रहा था...तड़गड़ उँ ऊँ उं—तरगड़ उँ उँ उं—टिं-टां...तरगड़—टिं टा—तरगड़ उँ-उँ-उं...बरसात की रात मे माँ के पेट में सिर छुपाये कभी सो गयी थी...पिता कभी गुस्सा हुए थे, हाथ मे थी एक बेंत, चेहरा एकदम क्रूर दिख रहा था, फिर भी इस तरह बेंत हाथ मे लिये गुस्से से दाँत कटकटाती हुई अवस्था मे...सोचकर कितना अच्छा लगता।... मार खाये बच्चे याद आ रहे है, सारी देह मे लकीरें,...मशाल बुझ रही है—जल रही है, दासिया नाई मशाल पर तेल डाल रहा है...रो पड़ते हैं कितने ही लोग, सारा जगत् चीत्कार का समुद्र...हवा आ रही है, घने पेड़ों के बेशुमार पत्ते उड़े जा रहे हैं,...फिर भी पत्तों का उड़ना जारी है। पेड़ो को सूना करते हुए...सनसनाते वे निकले जा रहे है...उसके अपने सिर में कुछ हो रहा है, पेट के नीचे कुछ दब-दबकर मुड़ता-तुड़ता जा रहा है,...रात हो गयी, झिल्ली चीख़ रही है...रवि मर गया, सिर चकरा रहा है, जिधर देखो केवल टिमटिमाते जुगनू ही जुगनू...।

कौन है वह? उसका क्या लगता है? दुख करते-करते रवि मानो दूर होता जा रहा है। वह स्वय दूर हो रही है, निःसहाय, एकदम सूनी अकेली लड़की, कितनी दुर्बल!—अपने से निकलकर वह दुर्बलता उसके चारों ओर सृष्टि कर

रही है अथाह सागर, जो भयंकर हैं। उसी के बीच वह ऊब-डूब होता एक छोटा-सा द्वीप है। उसी दूरी से, उसी दुर्बलता से, उसी भीति से उपजता एक प्रश्न—कि रवि उसका कौन है? गुस्सा आता—वह क्यों मरा? असमर्थता प्रश्न पूछती। अपने ख़ुद से लिपटा भीरु व्यक्तित्व दूसरे पर नशे के बल के सहारे आत्मविश्वास गढ़ने की चेष्टा करता। रवि उसका कौन है? फिर कितने दिन का देखा-चाहा, जाना-सुना? जो उसका कोई नहीं, उसके प्रति व्यर्थ ही, झूठी माया। वह फिर रो रही है! सहमकर उस 'कोई नहीं' पर विचार-बुद्धि ढाल देती। अबकी बार वह स्पष्ट दिख जाता है। वही पहला दिन। फिर और एक बार। वहाँ उसका ब्याह-सम्बन्ध टूट गया है, ऐसे कितनी ही जगह पड़ता है, कितनी जगह टूटता है। ऐसे कितने लोगों को आदमी देखता है, जुड़ता तो नहीं! ऐसे भेंट हो, सहारे से अपने-अपने रास्ते चले जाये—यही तो संसार है, जल्दी-जल्दी अनेक लोगों का केवल इधर-उधर चले जाना। उसी भेंट की घड़ी में एक का तेज दूसरे पर पड़ता है। आदमी जो देखता है, कहता है—सब मेरा है, सब मेरा है। यह माटी, यह घर, यह आकाश, यहाँ तक कि वह धूप, यह दिन, यह समय – सब मेरा है। झूठी बात है—कोई किसी का नहीं। कुछ भी किसी का नहीं, माया की कुहेलिका। पिता भागवत पढ़कर समझाया करते थे।

'कुछ नहीं' कह देने की तरह माया का कोहरा उठकर शास्त्र के बुने तर्कों का जाल तोड़कर खड़ा हुआ—विश्वास से गढ़ा, वही पराया, अपना होकर। माया पर अपने चित्र ने अपना प्रतिरूप उपजाकर कभी बीज रोपे थे, कितने दिनों की कितनी कल्पनाओं ने वहाँ पानी छिड़का। अपना प्रतिरूप वहाँ गाछ हो गया है, वह अपने व्यक्तित्व का दूसरा फलक है, इच्छा-स्वप्न सब मिलकर तिल-तिल होकर गढ़े गये है, वही है वह, वहाँ आँखों से देखकर सम्बन्ध जोड़ने का प्रयोजन नहीं होता। दूरी के साथ, सम्बन्ध न रख परिचय हुआ है, घटना के साथ सम्बन्ध न रख विश्वास हो विश्वास में गढ़ा गया है सम्भावना के विषय में एक ध्रुवत्व।

आज सब ढह गया है।

रवि मर गया है।

दैहिक प्रकृति की सान्त्वना के लिए आँसू बहे। कितनी देर बाद याद आया, ऐसी क्यों वह पागल-सी हो रही है! माँ क्या सोचती होगी? रसोई आधे में ही रुक गयी है! सिर उठाकर तिरछे देखा, माँ झुकी हुई रसोई में लगी हुई है। बाहर के मेघों को अन्दर धकेलकर छवि ने संयत होने की चेष्टा की।

और ठीक इसी समय आ पहुँचे बापू, एक हाथ में अधसेरी रोहू, और दूसरे में कुछेक सहजन की फलियाँ। एक बार आँखें घुमाकर छवि की ओर देखा। पूछा, "छवि को क्या हुआ है?"

छवि चौक पड़ी। कहाँ से तो आ गयी लाज। ओट मे जाकर रगड-रगड मुँह पोंछा। फिर लौट आया तूफान। मुँह खोलकर धारा बह निकली। पल्लू में मुँह ढाँप कन्धों को झकझोरती वह टाल गयी।

"कुछ कहा है ?" सिन्धु चौधरी ने फिर स्त्री से पूछा। छवि की माँ ने उनके चेहरे की ओर देखा। कितनी कुछ घुली-मिली विचित्र दिख रही थी वह दृष्टि। दुख, निराश्रयता, तिरस्कार, अपमान और सबसे ऊपर वही भाव, जो केवल किसी के मरण के सान्निध्य मे ही चेहरे पर आता है, उसका वर्णन नही। कहा, "क्या पूछ रहे हो ?"

"छवि को क्या हुआ ?"

"और क्या होगा ? कुछ नही तो। अरी छवि ! घर मे कुछ कर रही होगी।"

"अच्छा लो, यह मछली रखो।"

छवि की माँ ने मछली और फली लेकर जाते-जाते दूसरी ओर मुँह फेरकर कहा, "हाँ सुन लिया ! गेल्ही की माँ आयी थी। कहा, सुभद्रापुर के मेलण मे मारपीट हुई, जहाँ बीच-बचाव करते हुए बन्धमूलवाले बट महान्ती का बेटा रवि मारा गया। आया था न, कितना भला लडका था ! क्या समय आया, देखो !"

कुछ 'खे' जैसा घर के अन्दर से सुनाई पड़ा मानो किसी की रुँधी हुई हूक हो। सिन्धु चौधरी का ध्यान उधर चला गया। स्त्री उन्हें सीधे देख रही है, उनकी आखों में भी उसी रुँधी रुलाई की छाया है, आँसू झिलमिला रहे है। सम्बन्ध फिर आया था, उन्होने ही तो मना कर दिया था। मानो उनके विरुद्ध ही अभियोग हो रहा है।

उत्तेजित होकर वे चीख उठे, "कौन है जो उस पराये बेटे के नाम पर इतना बडा झूठ कह रहा है ? उस विचारे ने किसी का क्या अनिष्ट किया ! झूठ-झूठ, एकदम सफ़ेद झूठ है यह सब ! ऐसा काम कर दिखाया उसने कि चारो ओर धन्य-धन्य हो रहा है ! कितने लोग जा रहे है उसे केवल देखने-भर के लिए, और इधर ये लोग क्या-क्या अफ़वाहे उड़ा रहे हैं, हे !"

"देखो तो, इन लोगों की बात," छवि की माँ ने बात सम्हाली, "कैसा युग आया है, लोग दिन को रात कह देते हैं। माई रे, मुँह में लगाम नही।"

"जानती हो उस बच्चे ने क्या किया है ? वाह-वाह आदमी है एक ! लोगों की आँखे खोल दी है।" सिन्धु चौधरी कहने लगे धीरे-धीरे, "कैसे बाढ में, रास्ते में लोग-बाग कहते है कि इतने दिनों पर इस इलाके मे एक आदमी निकला। वह परायो के लिए काम करता है, वाद-विवाद निवटाकर सबको एक कर रहा है, असम्भव को सम्भव बना रहा है। हलचल मची है, यह माटी फिर जाग उठी, लोग समझ रहे है, मान रहे हैं।"

छवि ने आकर कहा, "माँ, मछली ला, छील दूँ।"

किन्तु चौधरी ने उसके चेहरे की ओर देखा, वह चली गयी थी। बाद झाँक-कर गार्गी रह गए उसकी माँ के चेहरे की ओर, दोनों देख एक साथ सोच रहे थे, एक ही बात।

एक मामूली-सी घटना, घटना भी नहीं, पल-भर में जगा ली हुई कोई अनुभूति; पर वह किन्तु चौधरी की भावना के अन्दर जड़ फैलाये थी। बार-बार आगे पीछे ओर देख के मुड़ उसका छोर पकड़ने की चेष्टा कर रहे थे। बाहर यही जानी हुई दुनिया—यहाँ किसी का आकार है, किसी का रंग है, किसी में और कोई हेतु या फल है, पर उस अनुभूति में ऐसा कुछ न था, मन में सहेज रखने लायक। पिछली बातें बार-बार गाढ़-धुंधली-सी याद आ रही थीं। जो उस दिन मछली लिए घर आये थे, रवि के चले की बात छवि की माँ ने कही, उन्होंने फिर इस झूठी बात का प्रतिवाद कर क्या कहा—ये कहा, वो कहा, ये कहा वो कहा—याद में और कुछ अधिक याद नहीं आता। पर मगर जैसे नींद में ऊँघ पड़ने की तरह, आँखें अलसाकर गाने में चलने की तरह गुनगुनाते-गुनगुनाते आते-जाते अचानक एक झटका पाकर आँखें खुल गयी हों और एक नयी चेतना जन्मी हो, कि जानो धरती का तट टूट गया है!

पीछे वह दूर तक पसारा है। आगे और क्या है स्पष्ट नहीं दिखता, और यहाँ हैं वे, पीछे देख स्मृति को टटोलते-से आगे देखकर घबराते-से और जल्दी-जल्दी चला जा रहा है। प्रति पल जो शून्य पट—पल-पल में अपने अंगों ऐसा इतिवृत्त जिस पर लिखा हो—अँधेरे में चला जा रहा है। पोथी का हिस्सा बन पुनः जराजीर्ण होने, फफूँद बनने के लिए, चूर-चूर होने के लिए उसी निमिष-भर में उस शून्य के पीछे छिपी हुई थी एक अनजानेपन की चमक, एक झाँक। क्यों क्या हुआ, समझ में आता नहीं। परन्तु चिन्तन किया जा सकता है।

सचमुच जैसे चलती मोटर यहाँ एक कुलाँच खाकर उन्हें झटका दे गयी थी, और खुद को वहीं खड़ा किया तो लगता है मील का पत्थर नहीं। अथच छोड़ आये सामने के सिरे से दूरता का बोध मन में है।

वह उस सिरे पर दिखता—छवि का जन्म गृह।

"आ, बेटी हुई! इसी के लिए गाय-सा पेट निकाला था! चाँद-से माथे पर छोटी-सी बालों की एक गाँठ याद आती है, एक अकेला अटपटा-सा हल्दी रंग का दाँत; चिड़ियों की अँगुली की तरह बिना खून की पतली-पतली अँगुलियाँ, आग का नाखून भर गया है, सोचने पर याद आता, शायद गड्ढों की-सी दो खोलों में

राख या धुएँ के-से रंग की आँखें। नही, साफ़ याद नही आती वे आँखें, सोचने पर भी पकड़ मे नहीं आती। बहुत बरस पहले की बात है। तब उनकी माँ जीवित थी। उसी अगले वाक्य के बाद एक हो-हा हँसी, मानो एक छोटे-से तूफान के पहले का शोर। वह भी पूरा याद नही आता। उसके बाद दूसरा वाक्य, "कितनी बड़ी मुँह-फाड़ ! अरे बाप रे ! असुरनी जनमी है, खायेगी तू मुझे ! देख रे सिधुवा, देख, जाता है कहाँ, खायेगी रे तू मुझे तो ? हे री असुरनी, मेरा दुख मेटेगी तो।"

दोनों छोटे मधु और विधु थोड़े-बहुत याद पड़ते। विधु ने पाला था नेवला, वह याद आता। कैसे पीठ के बल चित हो चारो पैर उठा पूंछ फैलाये वह सोया होता। मधु कैसे बगल मे बस्ता दबाये दौडा-दौडा जाता चटशाला की ओर, दौड़ते-दौड़ते खड़े-खड़े मूतता, कैसे मधु को विधु ने धक्का दिया था, मधु के सिर से रक्त झर-झर वह निकला। ऐसे ही कितनी बाते,—कितनी बातें—कौन-सी पूंछ—कौन-सा सिर, कौन आगे—कौन पीछे !

सब कुछ घुल-मिलकर एक हो जाता। चमककर तेज हो जाता किसी दृश्य के पास और कोई दृश्य। अपने भीतर से कितने प्रकार की प्रतिध्वनियाँ निकलती। यह देह पडी रहती जैसे परिचित धरती की तरह, उसी पर युग-युग की छाया की तरह चेतना के अन्दर कितनी अवस्थाओं के चित्र बह जाते।

सिर्फ उनकी यह लड़की बड़ी हुई है। उसमे परिवर्तन हुआ है, इसलिए नहीं, उसके साथ-साथ कितनी बातें भी तो बदली हैं। सब आँखो में पड़ जाती।

और उसके सम्पर्क में जो उदासी मन मे घिरती, वह सिर्फ इस इकलौती सन्तान के किसी पराये घर चले जाने की अनचाही भावना की छवि नही है। अनजाने ही मन में बज उठता पिछवाड़े की ओर लौटते जीवन के वापसी रथ का कल्लोल। वह दूर होता जा रहा है, वह सरकता जा रहा है। जो जा रहा है पर लौटेगा नही। भागवत की नीति तब और सान्त्वना नही देती, पहले कोई एक दाँत, फिर दो गिर जाते है, फिर कोई तीसरा हिलने लगता है। नही तो सिर मे किसी जगह कुछ सफेद बाल, आगे वे जो काले थे, और सामने यह छवि *की माँ की यह देह ! पहले कितनी पतली-छरहरी होने पर भी सजीली थी, अब* हो गयी मोटी ढीली पर पोपली। चारो ओर दिखता मानो कोई माया-दर्पण हो, उसमे अपने श्लथ व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया दिखती है, और लगता है जैसे समय आयेगा जब वह प्रतिबिम्ब नही दिखेगा, कुछ नही रहेगा सिन्धु चौधरी नाम का। आँखों के आगे सूर्य भी केवल शीतल हो-होकर बुझ जायेगा।

कल जो शिशु जन्मा है वह भी मानो दीवार पर आँक रहा है सिन्धु चौधरी *नाम के आदमी के भावी प्राणदण्ड का चित्र।*

आँखो के आगे वही चित्र आँका था छवि ने। कल की ही तो बात है, उसके

कितने कौतुक याद आ जाते हैं। कितनी नन्ही-सी थी साल-भर की होने पर भी। खरगोश के बच्चे की तरह उछलती-फिरती। सात बरस की होते न होते अचानक वह लम्बी होती गयी, उसमें बदमाशियाँ आयीं, छल आया, जिद्दी हुई, बाघिन-सा स्नेह दिखाकर कभी अगर पास आती और दो चुम्मे दे जाती, और कभी जरा-सी बात पर रूठ जाती, तो सारा दिन। उस देह पर माँस तो चढ़ा ही नहीं, केवल घडी की तरह बढने लगी। वह चित्र भी याद आता।

"क्या यह आदमी बनेगी? घर-संसार बसायेगी?" स्नेह से माँ कहा करती, "रानी, जिद्दी कितनी, मन की तो थाह ही नहीं मिलती।" उसी की ज़िद पर बाडी में अमरूद का पेड़ लगाया गया था। उस बस्ती में सतिया की माँ की पोती बेंग ने उस दिन...सतिया की माँ की बाड़ीवाले अमरूद के झाड़ से अमरूद तोड़ने की बात को लेकर झगडा किया था, कितने दिनों का 'गंगाजली' स्नेह सम्बन्ध पर लात मार उसने पिता को सुना दिया था, "हमारे भी अमरूद लगेगा। नहीं तो, नहीं तो हाँ—"

अवाक् उसका नया रूप देखते रह गये थे। बेटी ने छद्म वेश फेंक दिया है। एक नारी भागवत के नीचे माटी पहचान में आ रही है।

छवि बड़ी हो गयी है!

अचानक विस्मय से चमक-सी लगती, आँखों में भाप भर जाती है। लगता है जैसे खिलौना व्यापक विस्तृति पाकर कहीं उड़कर चला जा रहा है।

वह थी नन्ही गुड़िया, सोने पर पत्थर, जागती तो सदा बच्ची। एक जगह एक विस्तर पर पिता-माँ, छवि क्या जाने बिचारी नन्ही लड़की।

छवि की माँ उनके मुँह में पान ठूँसकर जब पान का सिरा तोडने के लिए मुँह से मुँह जोड़ देती, नन्ही छवि आँखें टिमटिमाती देखती, तनिक बडी होनेपर वह भी दौड़ आती पिता के गले में हाथ डाल मुँह में से पान का सिरा तोड़ लेने के लिए।

और आज वह छवि ग़ायब हो गयी, खड़ी है सामने एक अपरिचिता नारी। उसके मन में भिन्न आदमी की छाया पड़ी है। वह मानो कोई भोर की चिड़िया हो, गरदन पसारे प्रतीक्षा करती बैठी है सिन्दूरा की।

सोचते-सोचते मन पर जलन-सी लगती। अन्तर के भीतर से क्षोभ का करुण नाद। बाहर मैं बूढ़ा हो गया हूँ, मेरी किसी को जरूरत नहीं।

नदी तट के ढलान में दुकान के अन्दर गद्दी पर हरि साहू बैठा था। पास में एक पुलिन्दा उड़िया अख़बारों का पड़ा था। चेहरे के आगे एक पन्ना अख़बार का

ओर था। उसकी छोटी-छोटी आँखों की पैनी नज़र मानो उस काग़ज़ मे चुभकर फँस गयी है। चेहरे पर एक तन्मयता, होंठों से होठ जुड़े हुए। दुकान मे कोई भी गाहक न था।

बाहर चैती धूप मुरझाती आ रही थी। दुकान के उस ओर घने बरगद के नीचे गहरी छाया को काटती तिरछी पड़ रही थी थोड़ी-सी पीली धूप, घरों की छाया लम्बी हो गयी थी। अचानक गाँव के रास्ते पर एक दूसरी का पीछा करती दो गायें गुज़र गयी, उसके बाद कई और टप-टप, दुम-दाम की आवाज़ों से रास्ता गूँज उठा, गाँव के गाय-गोरुओं की क़तार लम्बी होती गयी उस रास्ते पर। भाग-दौड़ धक्का-धक्की करता, धूल उड़ाता उनका समूह जा रहा था। हरि साहू ने सिर उठाया।

उसकी छाती को कंपाता वह गया एक दीर्घ श्वास। गायों के बढते पैरों को देखते-देखते अचानक याद आया, कि सौरी पधान मर गया है। वैसे वह उसका लगता कुछ नही। न सह-जाति, न साथी, न मित्र। वरन् डूब गया चौदह आने के सौदे की उधारी, केवल तम्बाकू के पत्ते लेता पैसे दे देता। कभी-कभी रह भी जाते पैसे। उस बात की ओर विचार न था हरि साहू का। गांव के इतने सालों के उधारी कारोबार मे कितने लोगो पर कितने पैसे उसके डूबे है, फिर भी चल रहा है उसका व्यवसाय। परन्तु सौरी पधान कितने ज़माने का बूढा आदमी था। उस ज़माने का आदमी! लकडी पकड़े, कमर आगे की ओर झुका, हिलता-डुलता नाचता-सा इस राह पर चलता-फिरता रहता। छुप गया वह दृश्य। वो दिख जाता है, सचमुच वो रहा!... "है तो दे रे तम्बाखू के चार पैसे के पत्ते, भानजे।—"

"दे-दे, आज पैसे नही। यह मुँह क्या धीरज मानता है रे भानजे। और भी ऐसी अमल की आदी हो गयी है यह देह, और स्वाद चाहने लगी है। गोबरा की माँ मरी तब से पान तो छोड़ ही दिया, न अमल होगा न जीभ सूखेगी। बाकी रहा यह तम्बाखू का पत्ता, क्या कहूँ—यह मेरा पीछा..."

चला गया, गायों की खोज हुई और चली गयी सब। गोबर पड़ा, मूत बहा, रूँदा-रूँदी धक्कम-धक्की, भोंका-भोंकी, चहल-पहल—रँभाता-रँभाता गुज़र गया वह दल। चला गया।

और चला गया सौरी पधान। आज कितने दिन हुए होंगे? हाँ, कुल ग्यारह। बात-बात पर ताना मारता, अपने जमाने के बाहुबल की बातें कह-कहकर, वह हुआ था एक मल्ल! पत्थर घुमाता था, बैलगाड़ी का पहिया रोक लेता, खूब खेल-कसरत किया करता था, और भी कितना कुछ!

उदास होकर हरि साहू ने सामने देखा। रंगीन साड़ी बांधे सज-धजकर चली जा रही है रघुआ की माँ। आठ बरस के रघुआ के कन्धे को पकड़े उसे गाली देती-देती जा रही है—"कुलखना, बिच्छीपत्ता! आज घर चल, तेरी पीठ से

घमड़ी न उधेड़ी तो मुझे कहना, मैं तेरी माँ नही बेटी हूँगी। गायों का झुण्ड जा रहा है, देखो यह नालायक उनके सामने खड़ा हो जाता है, बहादुरी दिखाने में पेट फाड़कर दो फाँक चीर देती तो तू क्या करता ? अभी रौद-चौथ देती ! कौन-सा बाप बैठा है जो इतना इतराता है रे मेंचड़ी ?"

इस औरत का रंग-ढंग देखकर हरि साहू मन ही मन चिढ़ता। लगता सच-मुच जैसे जान-बूझकर यह अपना यह रूप दिखा रही है। परन्तु अचानक मन नरम हो जाता है, उसके प्रति बीच का व्यवधान पिघलकर यह छाया सीधी जाकर पडी उसकी छाती पर, दृष्टि में सहानुभूति भरकर देखे, तब तक वह जा चुकी थी।

सोचा, आह, बिचारी ! पति विदेश जाकर कही रह गया, घर पर यह औरत जात। अपनी मेहनत-मजूरी से दो पेट पालती-पोसती है आशा की होगी कि रघुआ बड़ा हो, तो कौन जाने उसका दुख दूर हो, आदमी की आशा ही तो ठहरी !

फिर गयी चम्पी की माँ—सीधी लम्बी, छड़ी की तरह, पीठ की ओर पल्लू में मोटा-सा कुछ झूल रहा है। धान कूटना पूरा कर घर लौट रही है। चेहरा सूखा-सूखा, हाथ-पैर सूखे-सूखे बाँस की फराटी की तरह। घर पर बेटे-बहू हैं, आदर गौरव की बजाय उनका नाक-भौं सिकोड़ना। फिर भी जितना होता काम कर देती, सिर नीचा किये पडी रहती उन्ही के पास। लोग कहते, बेटा-बहू दोनों एक तरफ़ होकर कई बार मार भी देते। पर वह छल नही करती—अपनी ही तरह की एक है।

और यह भी चली जायेगी, रहेगी नही, चली जायेगी। जिस तरह चला गया इतना बड़ा दिन, चली गयी गाय-गोरू। सब जाते हैं, जायेंगे भी।

और हरि साहू को याद आया—जाने कितने लोग इस रास्ते गये हैं। कोई कभी ब्याह कर इसी रास्ते आया था, इसी रास्ते लोग गये थे देवी की मनौती करने, फिर इसी रास्ते उसे कभी कन्धों पर ले गये थे मशान की ओर। इसी रास्ते आये और गये हैं पीढ़ी दर पीढ़ी लोगों के काफ़िले, कितने हँसी-खेल, वाद-विवाद। किसी को किस घडी कौन-सी बात बड़ी लगी थी। कोई हँसा था किसी बात पर, तो कोई चिन्तित हुआ, तो कोई रोया था। कहाँ गये वे सब ?

और याद आया, कि कई लोग आते थे घोड़े पर चढ़, गाँव-गाँव में घोड़े थे, बीच-बीच में कोई हाथी पर भी आते। कहाँ लोप हो गयी सारे गाँव भर की घुड़साल ! फिर एक दिन इसी बाट से नयी-नयी आयी थी शून गाड़ी, दो पहिया। उसे याद है, पोशाक पहने दढ़ियल पुलिस आयी थी उस बार। मन करते तो मोटर भी आती। सिर्फ़ इस नदी तट का रास्ता, जगह-जगह तलवार की धार की तरह है, ज़रा नीचे उतरे कि कीचड़-खड्डे—वह भी किसी दिन समतल हो

जायेगी। फिर मोटर गाड़ी आयेगी, सब कुछ सम्भव होगा। और फिर इन लोगों को भी याद आयी। उस दिन वह पहली बार चाय की पुड़िया ख़रीद कर लाया था। कहते हैं, देह मे बीमारी हो तो काढ़े की तरह उबाल दूध में घोलकर पीने से, बीमारी ठीक हो जाती है। उसे भी कितने लोग छूने को राज़ी नही हुए। वे कहते—कही कोई ऐसी-वैसी चीज़ होगी, कौन घुसा है उसमे? अपने वाडी-बग़ीचे से तो आती नही। कोई कहता जात चली जायेगी उससे। इस तरह कितनी ही आपत्तियाँ उठायी गयी, इसके बाद वह आकर हो गयी चाट, गाँव के चार-पाँच आने लोगों में अब इसी चाय का नशा है, बिना पिये कहते है, नाक से पानी झरता है। लेमंजूस मिठाई उसने लाकर रखी, कुल पाँच बरस पहले की ही तो बात है। ऐसे कितनी ही चीजें, काँच का गिलास, अलमूनियम की डेगची, लालटेन, सुगन्ध का साबुन, टीपा बत्ती की बैटरी। अन्त में आयी लुगी, खुली बाँधो, उस ज़माने के बड़े-बूढ़े तो मारने दौड़ते। चोटी-चाटी, धोती-चादर, वग़ैरह जैसे लोप हो गये। सब अब आया नया युग, लुंगी, गंजी, चप्पल, बीड़ी...।

हरि साहू ने देखा ग्राहक एक भी नही है, फिर इस साधारण-सी बात को व्यापक कर देखा, जीवन के साथ मिलाकर। और दीर्घ श्वास उठा। ऐसा भी दिन आता है, केवल पैसारा बिछा रहता है, बस वल्मीक की तरह आदमी बैठा रहे, बैठा रहे, आशा पुरे नही, थाल भरे नही। वह केवल समय बिताता जाता हो।

"देना, चार पैसे की बीडी तो।" लम्बी गरदन को दुकान के अन्दर किये कमर पर हाथ दिये खड़े है सुदर्शन दास। फिर जैसे गले की टोटी के पास से मुड़ गया है। चिड़चिडाते स्वर मे कहने लगे, "किसके आगे कहें, बताओ तो भला, कल का जाया छोकरा बीड़ी फूंक-फूंककर चौपट हुआ जा रहा है।"

बीड़ी बढाते-बढ़ाते हरि साहू ने उपदेश दिया, "रोको उसे, रोको दासजी, अब से ही न दबाओगे तो फिर बढ़े हुए गाछ पर वश नही चलेगा।"

"अरे धेत्तेरे की, अब भला वह बात मानता है शैतान—"

"मानेगा, सबर करो। खुद तो अमल पकड़े हो। बीड़ी के टुकड़े की पूंछ फूंकते-फूंकते बेटा भी सीख गया, और क्या? वह बद-अभ्यास, रक्त सूख जायेगा, पकड़ेगी लम्बी खाँसी, अब से ही बीड़ी फूंकने लगा तो फिर आगे चलकर कहाँ जा पहुँचेगा—"

"आह, सारे नाटक तुम ब्योपारियों के पास हैं। ये सब लाकर दिखाये किसने? जिधर जाओ, आँखों के आगे मारका लगी थाक की थाक रखी है बीड़ी, सिगरेट—बीड़ी-सुगरेट।...अरे हाँ, दियासलाई है, तो देना?"

बीड़ी पीने के लिए मानो उनकी देह मे बहुत तृष्णा भरी है, छटपटाते-से हाथ बढा दिये। हरि साहू ने दियासलाई बढ़ा दी। कहा, "केवल व्यापारी को

दोष देने से क्या होगा, दास जी। युग को दोष दें, आदमी को दोष दें ! बात दुतरफ़ी है, समझे? आप खाते हैं, तभी तो हम लाते है। हम लाते है इसलिए कोई खाता है ? ऐसे तो कितनी ही चीजें हम दिखाते है, ख़रीदना न ख़रीदना तो आपके हाथ में –"

एक कश खींचकर स्वीकार करने की भंगिमा में दासजी ने कहा, "कहाँ, तुम तो बीडी नही पीते ?"

"नही पीता, यह तो कैसे कहूँ ? पिक्का न होने पर कभी मौके-बेमौके—"

मैंने कभी देखा नही, तुम्हारे बाल-बच्चे भी कभी नही पीते। अलग-अलग स्वभाव होता है, किसी को दोष नही दिया जा सकता। इस गांव में नालायकों का दल कैसे मस्त है देखो तो सही, जो इनके साथ मिले-जुलेगा वह वैसा ही होगा—"

"पता नहीं किसे नालायक़ कहते हो दासजी, हम ख़ुद ठीक रहें तो दुनिया सही—"

"अरे बाबू, जो काण्ड कर बैठे वे लोग, सुभद्रापुर मेलण के रास्ते पर, भले घर का लड़का लहूलुहान हो गया, बीच-बचाव करने में किसी का नाम नही खोला इसीलिए न, नही तो पुलिस एक-एक को पकड़कर बन्द कर देती।"

"कितनी बातें पानी की तरह बहती जाती है, दासजी ! किधर कितनी मार-काट लग जाती है, आदमी गिर जाते है।" हरि साहू ने अखबारवाला हाथ दिखाकर कहा, "कहाँ-कहाँ क्या हो जाता है—जब जिस घड़ी जोग पड़े। किस-किस बात को गाठ बाँधे रहोगे?"

सुदर्शन दास ने कहा, "इतनी बड़ी फौजदारी कर आये, अब चुपचाप, मानो बिल में चूहे की तरह घुसे हैं। कोई किसी के नाम पर चूं तक कहता भी नही। शायद पुलिस गन्ध पा जाये, पकड़ लेगी।"

"भला ही हुआ," हरि साहू ने कहा, "अन्य कोई कलह को थैली सारी ही झाड़ देते तो क्या अच्छा होता ? कलह टूट गया अच्छा ही हुआ—"

सुदर्शन दास ने ज़ोर से कश खींचकर कहा, "इतनी बड़ी बात कह गये, न साखी, न परमान—"

आ पहुँचा मागुणी पधान। अपर्तिया का एक साथी। बोला, "किसके लिए साखी-परमान खोज रहे हो ?"

सुदर्शन दास जाने को हड़बड़ा उठे। मागुणिया ने रास्ता रोका। कहा, "झूठे ही बाघ-बाघ पुकारने पर बाघ आ ही जाता है।"

"आ, रे अच्छा। हट, मैं चलूं—"

"जाओ-जाओ, कौन किसे रोक सकता है ? पर मैं क्या कह रहा हूँ—पुलिस आये न, हमे किसी का डर नही है। उनके हाथ में पड़ेंगे और भी तो लोग हैं—

किसने टिरकम बनूल कर गायब कर दिया, किसने फांक लिया, ठगकर खा गया, जाल-फ़िसाद कर कौन उबर गया !—महाभारत की पोथी खोली जायेगी..."

"यहां वह सब उघाड़ने से कोई लाभ नहीं," हरि साहू ने कहा। सुदर्शन दास चील की तरह उड़कर छू। मागुणिया खडा रह गया, "देख रहे हो न साहू, लोग कांटों की बाड में धोती उलझाकर झगडा कर रहे हैं। कोई यह तो नही बताता कि सारा गांव कैसे सुख से रहे—"

हरि साहू सिर हिलाता-हिलाता विचित्र भंगिमा में मागुणिया के चेहरे की ओर देखता रहा। मागुणिया का चेहरा सूखा लग रहा है। स्वर मे एक तरह की उदासी है। जैसे अपने आप से कहता हुआ बोलने लगा, "बस केवल भाठा भिड़ाना, लड़ना-भिड़ना। अरे बाबू, वाद-विवाद करते-करते जो होना था सो हो चुका, अब सारे भेद भूल एक होकर चलें या फसाद ही करते रहे ?"

यही मागुणिया, अर्पति पधान का साथी है। मानो महाभारत युद्ध में कोई बड़ा मल्ल हो। सारे धूम-धड़ाके, नाटक का सूत्रधार है। हरि साहू को ताज्जुब हुआ। उसने कोई उत्तर नही दिया।

मागुणिया ने दबे-दबे की तरह चेहरा सुखाकर फिर कहा, "हम चाहते है, आग बुझकर ठण्डी पड़ी तो अब इस गाँव मे शान्ति रहे। आदमी कोई लफडा खड़ा किये बिना कुछ काम करे। भली बात—जिससे गाँव-भर का उपकार होगा, गरीब-गुरबा जीयेंगे सुख से, आसीस देंगे, लेकिन कुछ ऐसे भी है जिनको इससे जलन होती है—"

"कब से तुम इतने उपकारी हुए ?" गरम सीक से भोंकने की तरह बात कहकर हरि साहू पछताया। फिर सोचा कि जो भी हो उसका क्या जाता है ? मागुणिया को गुस्सा नही आया, वरन और भी नरम पड़ गया। हिचकिचाता हुआ बोला, "लोग है जो मरण चोट खाकर भी नही कहते कि किसने मारा। इससे शायद किसी और पर विपद आ पडेगी। तुम्ही सोचो, पत्थर भी पिघल जायेगा, और हम तो आदमी है !"

ग्राहक आ गये थे। वे थे सदा अहीर, बूढा बिदेई अहीर, धोबेई जेना, बिका मुदुली जो समय-बेसमय आकर गप्पे मारता है, और हुदुं सेठी, और कानी बुढ़िया शरदी गुड़ियानी।

"मुझे पाव भर गुड़—" "मुझे किरासिन—" "पान एक कड़ा—" "चावल दो सेर—" "सरसों तेल छटांक भर—" "अरहर की दाल—" "छौकन का मसाला, सुपारी, हलदी—" तरह-तरह की मांग। हरि साहू का हाथ चलने लगा है। किसी के भाषण मे अपना मत उड़ेलना उसके स्वभाव मे नही, वह सिर्फ़ सुनता जाता है कभी एक-आध बात कह देता है।

"अरे काणी को रास्ता दो तो—"चारों ओर से सुनाई पड़ा। पीछे से धर-

थराती आवाज—"मुझे लूण चार पैसे का, लूण—"

रास्ता बन गया, शरदी गुड़ियानी लूण लेने के लिए खड़ी हुई। "सम्पद-बाडी टूटने-बेचने मे साटी गयी," धोबेई जेना ने कहा, "और आखिर आँख भी गयी, टटोलकर रास्ते चलती है बुढ़िया—"

शरदी गुडियानी केवल हँस पड़ी।

मागुणिया जा चुका है। साहू के मन में शरदी की हँसी और उसकी बात मानो एक साथ गुँथ गयी थी। और उसके साथ-साथ मिल गया था अख़बार पढ़ते समय आंखो के आगे का वह दृश्यपट, अपने गाँव से बाहर की, राज्य के बाहर की, वे जो और जाने कहाँ-कहाँ गाँव हैं, शहर है, आदमी हैं, उन्ही-उन्ही देशों की बातें। सौदा देना खतम कर बैठा-बैठा पान चबाते हुए सोचता जाता है।

वहाँ भी ऐसे ही आदमियो की आवा-जाई। कही मार-काट में लोगों की बलि पड रही है, कही लोग टण्टे खडे कर रहे हैं, कही झगड़ा ख़तम हो गया, कही बडे-बड़े देशों के बड़े मगज वाले एक जगह मिलकर बातें कर रहे है, कि कैसे कलह टूटे, और सबका भला हो। पृथ्वी शान्त हो, वहाँ भी इसी तरह गायें लौट आयी होगी। गाँव के लोग काना-फूसी कर रहे होंगे। साँझ-आरती के लिए गृहिणिया तैयार हो रही होंगी, सुख-दुख का बोझ उठाये देश भर के लोग। ओह, कितने लोग ! वहाँ भी होंगे ऐसे मागुणिया, अर्पतिया, और सब बेच-बूच चुकी ऐसी शरदी गुड़ियानी।

"गाँव ठण्डा पड़ गया।" सदा अहीर बोला।

"तेरी जीभ फले-फूले। क्यों साहू ?" बिदेई बेहेरा ने कहा, "बात जहाँ से शुरू हुई वह तो जैसी की तैसी है। कलक मिटा नही, अनाचार छूटा नही। कलह गया नही, भला कैसे गाँव ठण्डा पड़ गया ? क्यों, धर-पकड़ नही हुई इसलिए कहते हो या कुछ और बात है ?"

"अरे वाह रे वाह," सदा अहीर ने कहा, "ये रणरंका बूढा क्या कहता है; कहाँ तो बूढ़े लोग समझा-बुझाकर मेल-मिलाप करा देते है, मगर इन बूढ़ऊ का तो उलटे आग उसकाने को मन..."

पीछे से किसी ने कहा, "खुद में अब बाली-सुग्रीव की तरह भिड़ने की तो हिम्मत नही ही, छोकरो को लगा-सिखाकर ही दूर से देख-देखकर आँख सेकेंगे। बहुत घाघ है यह बूढ़ा—।"

"जो जी में आये कहो। तुम्हारे गाँव में शान्ति रहे या कलह, मै तो किसी की ओर नही—"

वे सब चले गये। हरि साहू ने फिर मिलान किया इस बात का अख़बार में पढी धारणाओं के साथ। और सोचने लगा, किस ढंग से मिल जाती है एक-एक

बात से एक-एक बात, 'लड़ाई-लड़ाई' का डंका पीटते हुए जो नेता लोग देश-विदेश में हैं, वे लोग प्रायः ऐसे बूढ़े ही तो हैं।

पके बाल हों चाहे गंजा सिर, बड़े-बड़े देश-विदेश में ऐसे लोग जरूर सासतर-पुराण में पण्डित होंगे। आदमी के जीवन के बारे में उन्हें पूरा ज्ञान होगा। वे अपने-अपने देश के कर्णधार...वे कितने सारे अटपटे-से नाम हैं न देशों के... अफ़रीका, अमरीका, ऐसे कितनी ही जात के नाम चाहे जो पहनें, खायें, चाहे जो भी उनकी बोली हो या जैसा भी हो उनका चेहरा, उस देश में भी माँ-बाप, स्त्री-मित्र बनकर ही तो लोग चलते होंगे। बेटे से माँ-बाप की आशा लगी होगी, कैसे लोग-बाग सुख से रहें—यही होगी सबकी कामना। अथच, बूढ़े भी चिल्लाते हैं, शोर मचाते हैं—युद्ध—"युद्ध—युद्ध!" बूढ़ी उम्र, उदार, दयाशील, क्षमाशील, बुढ़ापा, परमार्थ खोजने का समय लेकिन जाने क्या कैसे-कैसे विचार आ किसे दबोचते हैं कि आदमी शान्ति छोड़कर युद्ध के लिए बुद्धि लगाता है। उलटे बच्चों को समझाकर छुड़ा नहीं सकते?

यही बातें सोच रहा था हरि साहु, अपनी दुकान की गद्दी पर बैठा-बैठा, क्योंकि उसने आज के अखबार में भी उसी युद्ध के घिरते बादलों की बाबत अधिक चर्चा पढ़ी थी। सेना की ताकत बढ़ाना, अनेक घातक हथियार-पाती जमा करना, कौन-सा गोला कितने छन में देश को राख कर देगा, कितने आदमी मार सकता है—गाली-गलौज, भाषण, सन्धि, डर-भय, भैरवी-लीला घटाटोप घिरी है। मानव मन में परस्पर के प्रति अविश्वास और भय भर गया है।

पर कौन चाहता है कलह-फ़साद? कौन चाहता है युद्ध? आम आदमी कभी नहीं। फिर भी अख़बार पढ़ने पर सिर में एक भावना भर जाती है।

—कि दुनिया भर के लोगों के स्नेह-शान्ति के लिए हाथ बढ़ाते-मिलाते आप ही आप घिर आता है युद्ध का भय।

"कैसी शिक्षा है! कैसा फल है। उसके मुँह से निकल गया। बिका मुदुली अब भी चिपका बैठा था। पूछा, "किस बात पर कहते हो?"

"नहीं, यों ही कुछ याद आ गया था।"

"कागद पढ़ते हो; इस धरती की खबर ठीक है तो?"

"क्या ठीक पूछते हो? यह जो हालत हो गयी—यह धरती रह आये तो ही बहुत है। एक लड़ाई पूरी कर कमर सीधी होवे न होते और एक लड़ाई के लिए चल पड़ी है तैयारी। लगता है जैसे इस पृथ्वी को जलाकर राख न करने तक लोगों की आशा पूरी होगी ही नहीं। अधिक पढ़ाई कर लोगों का दिमाग़ ख़राब हो गया लगता है। बस केवल पटाखे; गोला-बारूद बनाने में लगे हैं। पता नहीं, कैसे महाभारत युद्ध के समय एक बाण इस देश से उसमें जाता था उड़कर

जला देता था और फिर लौट आता। कोई फूटता तो योजन-योजन भी भसम हो जाया करता। आज उसने ये किया, कल उसने वह किया। और देखो, कहीं किसी देश में थोड़ा भी घरेलू कलह लगा, कि समझ लो उसके पीछे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ दौड़-धूप करने लगी और खींच-खींचकर कठपुतली का नाच नचा रही हैं। बस सुराग़ खोजती हैं कि कैसे कहीं जरा अंगुली पकड़ने भर को मिल जाये, फिर तो नोच-खसोट के लिए कूद ही पड़ेगी—"

"तब उनके बाण फूटेंगे—" बिदेई मुदुली ने कहा।

"फिर भारत युद्ध—" चेमेई बेहरा ने कहा।

"इक्कीस बार, एक ही बार नहीं।" बिदेई मुदुली ने बताया, "लिखा है सारला दास ने लगता रहेगा बार-बार यह महाभारत, फिर पहिया लुढकेगा, फिर युद्ध लगेगा, ठीक वैसा ही, आदमी का क्या चारा है?—"

आ पहुँचा अर्पति पधान। कहने लगा, "क्या चल रहा है? वही विदेश की ख़बर? पहले देश की तरफ देखो साहू! भाव चढ़े हैं, खेती में बिलकुल अकाल। कुलबुलाहट-छटपटाहट, हाय-हाय बढ़ती जा रही है दिनों दिन; दो अगर किलनी की तरह फूल गये तो उधर बीस सूखकर खेलरा-खोल हो गये, अभाव में पड़कर स्वभाव नष्ट, कोई किसी को बढ़ोतरी देख नहीं पाता, गाँव-गाँव में सतरह फांक, यहाँ तो बिना बाण ही बाण छोड़े जा रहे हैं। यह गाँव, ये आदमी सब तो ढहते जा रहे हैं, अख़बार और क्या अधिक कहेंगे?"

अर्पति पधान के मुँह से नयी बात! या नेता बनने का फसाद खड़ा कर रहा है? हरि साहू ने सोचा। फिर पूछा, "गाँव ढह रहा है तो गाँव के लोग रोकेंगे, सम्भालेंगे, जोड़ेंगे या बाहर से कोई आयेगा कुछ करने?"

अर्पतिया ने कहा, "सो बुद्धि हम में होती नहीं या हमें बुद्धि-अक्कल कोई देता नहीं। हमने जो देखा, सो सीखा, वही किया। वही तो अब देखो गोवर्धनपुर की एक चटशाल, उसमें फिर कौन सेक्रेटरी बनेगा उसके लिए दो दल हुए, कलह शुरू हुआ और एक दल के लोगों ने ग़ुस्से में आकर चटशाला के झोपड़े को ही आग लगा दी।"

"ऐं!" कई लोग एक साथ बोल उठे।

"और शहर में तो दूसरी बात ही नहीं, बस इधर-उधर चारों तरफ, जिसने जिसका पक्ष लिया। कैसे अपनी तरफ अधिक लोग आयेंगे, सिर गिनती के समय जिसकी तरफ़ अधिक लोग होंगे उन्हीं की बात चलेगी, हाकमाई करेंगे—वहाँ यही विचार। एक राजा वाला जमाना तो गया, अब तो दल बनाकर अपने सिर पर छत्र टेकना, यही आजकल हुआ सबसे बड़ा काम। देखते तो हैं, मैं अधिक क्या बताऊँ? इधर देहात में अपने यहाँ देखो, वहाँ के उस दल में से भोग-भाग पाने के लिए फिर दलबन्दी, कलह-झगड़ा, सिर-फुटव्वल—

धोबी हुद्दू सेठी ने बताया, "जो भी कहो, क्या पहले से अच्छा नहीं हुआ ? भला हुआ तो अपना बुरा हुआ तो अपना। अपना राज तो अपना हुआ है। जो जितना बड़ा हो, अपने पास तो फिर भोट मांगने आयेगा ही, सड़क, पोखरी, इसकूल, दवाख़ाना, कितनी जगह कितनी चीजें तो हो रही हैं, पहले तो भोंकते रहो—चिल्लाते रहो, था कोई सुननेवाला ? कहते हो कि जमाना नहीं बदला, पहले यह तो बताओ कि उस जमाने को डर-भय क्या अब और है ? कम से कम आदमी जबान खोलकर कुछ कह तो पाता ही है ?"

"अपना राज हमारा नहीं, किसी और का है।" बिका मुदुली ने कहा, "तभी तो कसक हो रही है, कि कैसे यह देश और सुधरे। गान्धी महात्मा ने इस देश के लिए तो जान दी, सो बात कोई भूला नहीं है। पर क्या सिर्फ़ राज मिलने भर से हो गया ? काला बाजार, घूस, बेईमानी, झूठ, गुट-बन्दी करना, ऊँची दर ठगाई—यह सब कहाँ-कहाँ से बढ आयी। आदमी कैसे टिकेगा ?"

अपतिया बोला, "सबको मिलाकर एक नया गाँव गढ़ने से अच्छा होता—जैसा कि कर रहे हैं फूलशरा में।"

वह चला गया। कुछ देर के लिए सब चुप हो गये।

नीलूदास आये सोदा लेने। बोले, "ख़ूब फूलशरा हावी हुआ है इनपर तो!"

"जिनके नाम पर डुगडुगी बज रही है, वे बने हैं वहाँ नेता। सबको एकजूट कर देंगे!"

मुँह बनाते हुए उसने आगे कहा, "जो करना हो करो बाबू, अपने-अपने घर में सब ठीक हैं, इस तरह कुछ हो-हा कर लोगों को बहकाने से मंच पर चढ़ते को तो सीढ़ी मिल ही जायेगी और क्या ? लोग तो सदा के पारी थामनेवाले ठहरे, बस उन्हें एक रास्ता दिखा देने भर की बात है, और क्या ?"

नीलूदास कचहरी गये बिना भी टाउटर है, किसी ने उन्हें नहीं टोका। हुद्दू सेठी ने कहा, "अच्छा काम ही तो करते है फूलशरा गाँव में। भला काम करना तो अच्छी बात ही है। ऐसे तो कोई काम होता नहीं, कोई किसी का भला सोचता नहीं। वैसे थोड़ा ही सही, भला करने की चेष्टा तो हो रही है. चेष्टा होते-होते जितनी दूर बढ सकें—इसमें खराबी क्या है ?"

नीलूदास ने ठो-ठो हँसकर कहा, "कितने रथी-महारथी तो जाने किधर उड गये, और चेष्टा ! चेष्टा करके तुम इस धूल-माटी को सोना बना दोगे, पांच अँगुली समान कर दोगे, या कुत्ते की पूंछ सीधी कर सकोगे ? आदमी का सुभाव जो है न, वह बदला है कहीं ?"

हुद्दू सेठी बोल उठा, "दया-धरम तो है ? आदमी के सुभाव मे क्या वह भी नहीं है ?"

"तेरे अन्दर ही वैसी है ?" नीलूदास ने पूछा। कई लोग हँस पड़े। हुदू सेठी ने कहा, "कपड़े पर चोट देते हमारी जीभ से राम का नाम आता है, हम ठहरे हाथ-पैर से मजूरी कर पेट भरनेवाले, ग़रीब लोग, इतमें जदी कोई कहे कि हममें दया-धरम वैसी है तो होगा। कहे कौन मना करता है !"

नीलूदास चले गये। और कई लोग आये-गये। हरि साहू को लगा, केवल ऊपर-ऊपर ही नहीं, भीतर-भीतर भी, गाँव में कहीं कुछ बदला हुआ-सा है।

फिर अचानक एक और बात के साथ सामंजस्य की याद आयी। उस देश-विदेश की कहानी की।

वहाँ भी भीतर ही भीतर प्रकाश का स्रोत बढ़ता जा रहा है।

दुनिया में आदमी चाहता है शान्ति, युद्ध नहीं।

०००